श्रीजवाहर किरणावली—उन्नीसवीं किरण

बीकानेर के व्याख्यान

व्याख्याता:—

जैनाचार्य पूज्यश्री १००८ श्री जवाहरलालजी महाराज

सम्पादक—

श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रकाशक:—

श्री जवाहर-विद्यापीठ भीनासर (बीकानेर)

की ओर से

सेठ पीरदानजी रावतमलजी गुलगुलिया

प्रकाशक —
पीरदानजी रावतमलजी गुलगुलिया
देशनोक (बीकानेर)

प्रथमावृत्ति १००० | सन् १९४१ | मूल्य २)

मुद्रकः—
श्री जालमसिंह के प्रबन्ध से
गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस,
ब्यावर में मुद्रित.

प्रकाशक का परिचय

'वीकानेर के व्याख्यान' श्रीमान् सेठ पीरदानजी रावतमलजी गुलगुलिया देशनोक (वीकानेर) की तरफ से प्रकाशित हो रही है। गुलगुलियाजी मूलत नाल (वीकानेर) के निवासी हैं। आप सवत् १९२५ में देशनोक आकर बसे। स १९३६ मे सेठ पीरदानजी सिलहट जैसे दूरवर्त्ती प्रान्त मे गये तथा १९४२ मे आपने मोलवी बाजार (सिलहट) में व्यापार आरभ कर दिया। दो वर्ष बाद सेठ रावतमलजी भी सिलहट पहुँच गये और दोनो भाइयो ने मिलकर व्यापार की खूब उन्नति की। स १९४७ मे इस फर्म की एक ब्राच श्रीमंगल (सिलहट) मे भी खोल दी गई। स. १९६५ मे दोनो भाइयो का कारबार अलग-अलग हो गया। तब से मोलवी बाजार की दुकान सेठ रावतमलजी के हिस्से में आई और श्रीमंगल की दुकान सेठ पीरदानजी के भाग मे। मगर दोनो जगह पुराने नामो से ही व्यापार चालू रहा।

स १९७८ में सेठ पीरदानजी का स्वर्गवास हो गया। सेठ पीरदानजी वडे ही सुयोग्य पुरुप थे। देश मे भी और परदेश मे भी, आपकी खूब ख्याति थी। आपका हसमुख चेहरा सब को

प्रसन्न कर देता था। प्रसन्न वदन और विनोदमय स्वभाव, प्रकृति की मनुष्य के लिए बड़ी से बड़ी देन है। यह देन आपको पर्याप्त मात्रा में प्राप्त थी। इसके साथ ही धर्म की ओर आपकी गंभीर अभिरुचि भी थी। व्यापार करते हुए भी धर्म का परिपालन किस प्रकार किया जा सकता है, दोनों का किस प्रकार समन्वय किया जा सकता है, यह बात सेठ पीरदानजी के जीवनव्यवहार से सीखने योग्य है। आपका स्वर्गवास हुए, एक लम्बा अर्सा हो गया है, फिर भी आपका नाम जिह्वा पर रहता है।

आपके पांच पुत्र हुए-तोलारामजी, मोतीलालजी, प्रेमसुखजी, नेमिचन्द्रजी तथा सोहनलालजी। दो पुत्रियां भी हुई। इनमें से श्रीतोलारामजी सं.१९७२ में ही, छोटी उम्र में अपनी बुद्धिमत्ता और व्यापारकुशलता का परिचय देकर असार संसार का त्याग कर गये। श्रीप्रेमसुखजी अपने काका सेठ रावतमलजी के यहां दत्तक हैं।

सेठ रावतमलजी का जन्म सं १९१८ में हुआ था। आपने भी मोलवी बाजार में उच्च श्रेणी की प्रतिष्ठा प्राप्त की। एक प्रतिष्ठित व्यापारी समझकर सरकार ने आपको वहाँ के लोकल बोर्ड के सदस्य बनाकर अपनी कद्रदानी का परिचय दिया। सवत् १९७७ में आपने श्रीमगल मे एक नवीन दुकान खोली। इस प्रकार व्यापार को विस्तृत करके और उसमे सफलता प्राप्त करके आपने निवृत्ति-मय जीवन विताने की इच्छा की। लौकिक सफलताएँ प्राप्त करके विवेकशील व्यक्ति उनमे फसा नहीं रहता। वह वर्त्तमान को ही

सब कुछ समझकर अनन्त भविष्य को विस्मरण नहीं कर देता। तदनुसार सेठ रावतमलजी ने व्यापार से निवृत्ति ले ली और देशनोक में आकर निवृत्तिमय धार्मिक जीवन यापन करने लगे। अन्ततः सं १९९९ मे आपका स्वर्गवास हुआ।

श्रीप्रेमसुखजी आपके उत्तराधिकारी हैं। उल्लिखित दोनो दुकानों के अतिरिक्त प्रेमनगर चाय का बगीचा चारो भाइयो की भागीदारी में है। दोनों दुकानो पर 'रावतमल प्रेमसुख' नाम से व्यापार चलता है और अब सिलचर मे भी इसी नाम से एक ब्रांच खोली है। आपके दो पुत्र है, जिनका नाम पाचीलालजी और फतहचन्द्रजी हैं।

सेठ मोतीलालजी ने भी खूब प्रतिष्ठा प्राप्त की है। आप श्रीमंगल-म्युनिसिपैलिटी की जनता द्वारा चुने हुए सदस्य हैं। आपकी व्यापारिक प्रामाणिकता से प्रसन्न होकर वायसराय और आसाम-गवर्नर के द्वारा छठे जार्ज के सिंहासनारोहण के अवसर पर आपको पदक और प्रमाणपत्र प्रदान किये गये हैं। श्रीमगल और सिलचर मे आपका कारबार 'पीरदान रावतमल' के नाम से ही चालू है। आपके आनन्दमलजी, मानमलजी, मगनमलजी, हनुमानमलजी एवं डालचन्दजी नामक पाच पुत्र है।

श्रीनेमिचन्दजी सोहनलालजी का कारबार साथ ही है। आपके श्रीमगल मे 'पीरदान सोहनलाल' भानुगाछ मे 'पीरदान नेमीचन्द' तथा शमशेरनगर मे 'नेमचन्द सोहनलाल' के नाम से

व्यापार चल रहा है। श्रीनेमचन्दजी के, छगनलालजी, भीखमचन्दजी, रामचन्दजी और शान्तिलालजी नामक चार पुत्र हैं। श्री सोहनलालजी के सम्पतलालजी, ईश्वरचन्दजी और भोमराजजी नामक तीन पुत्र है।

देशनोक के गुलगुलिया परिवार का यह संक्षिप्त परिचय है। यह परिवार जहाँ-जहाँ अपना कारबार कर रहा है वहाँ-वहाँ और देशनोक मे भी अत्यन्त उच्चश्रेणी की प्रतिष्ठा प्राप्त परिवार माना जाता है। ऐसे प्रतिष्ठित और प्रामाणिक परिवार हमारे समाज की शोभा है। आन्तरिक कामना है कि इस परिवार की प्रतिष्ठा सपत्ति और धर्मभावना दिनोदिन बढ़ती रहे।

—चम्पालाल बाठिया
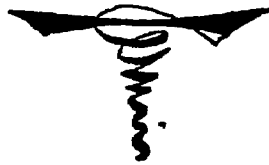
निवेदन

साधुमार्गी समाज के अद्वितीय प्रतिभाशाली और तेजस्वी संत जैनाचार्य पूज्य श्रीजवाहरलालजी महाराज के व्याख्यान-साहित्य के संबन्ध में अब कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं रह गई है। उनका साहित्य विपुल मात्रा मे प्रकट हो चुका है। उसकी उपादेयता और गंभीरता से विवेकशील व्यक्ति सुपरिचित हो गये हैं।

हर्ष है कि आज 'बीकानेर के व्याख्यान' नामक नवीन किरण पाठकों के कर-कमलों मे पहुँचा रहे हैं। आशा है धर्मप्रेमी पाठक इसमें प्रदर्शित विचारों और आदर्शों पर चलकर अपना जीवन सफल बनाएँगे।

प्रस्तुत किरण श्रीमान् सेठ पीरदानजी रावतमलजी देशनोक (बीकानेर) के द्रव्य से लागत मूल्य मे प्रकाशित हो रही है। पूज्य श्री की वाणी के प्रसार में आपने जो योग दिया है, उसके लिए हम आपके आभारी हैं। आपका परिचय अलग दिया जा रहा है।

श्रीहितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम द्वारा संगृहीत व्याख्यानो के आधार पर श्री प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने इसका सम्पादन किया है। पण्डितजी की सम्पादन लेखन शैली के विषय मे क्या कहा जाय ! पाठक उनसे भी सुपरिचित हैं। इन सब के प्रति मैं आभार प्रदर्शित करता हू।

निवेदकः—

चम्पालाल बांठिया,

मंत्री,

श्रीजवाहर विद्यापीठ, भीनासर

विषय-सूची

१

भगवान् शान्तिनाथ।

—— :():. ——

विश्व के असंख्य प्राणी निरन्तर प्रवृत्ति मे रत रहते है। अगर सामान्य रूप मे उनकी प्रवृत्तियों के मूल उद्देश्य को खोजा जाय तो इसी परिणाम पर पहुँचना होगा कि सभी प्राणी शांति प्राप्त करने के एक मात्र ध्येय की पूर्ति करने के लिए उद्योग मे लगे हैं। जिसके पास धन नहीं है या कम है वह धनप्राप्ति के लिए आकाश-पाताल एक करता है। जिसे मकान की आवश्यकता है वह मकान खड़ा करने के लिए नाना प्रयत्न करता है। जिसके हृदय मे सत्ता की भूख जागी है वह सत्ता हथियाने की चेष्टा कर रहा है। इस प्रकार प्राणियों के उद्योग चाहे भिन्न-भिन्न हों पर उन सबका एक मात्र उद्देश्य शांति प्राप्त करना ही है। यह बात दूसरी है कि अधिकांश प्राणी वास्तविक मार्ग न होने के कारण ऐसे प्रयत्न

करते हैं कि उन्हें अपने प्रयत्नों के फलस्वरूप शांति के बदले उलटी अशांति ही प्राप्त होती है. लेकिन अशांति कोई चाहता नहीं। चाहते है सभी शांति।

शांति के लिए प्रयत्न करने पर भी अधिकांश प्राणियों को अशांति क्यों प्राप्त होती है, इसका कारण यही है कि उन्होंने शाति के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझा है। वास्तविक शांति क्या है? कहाँ है? उसे प्राप्त करने का साधन क्या है? इन बातों को ठीक-ठीक न जानने के कारण ही प्रायः शांति के बदले अशांति पल्ले पड़ती है। अतएव यह आवश्यक है कि भगवान् शांतिनाथ की शरण लेकर शांति का सच्चा स्वरूप समझ लिया जाय और फिर शाति प्राप्त करने के लिए उद्-योग किया जाय।

भगवान् शांतिनाथ का स्वरूप समझ लेना ही शांति के स्वरूप को समझ लेना है। गणधरों ने भगवान् शांतिनाथ के स्वरूप को ऊँचा बतलाया है। उस स्वरूप में चित्त को एकाग्र करके लगा दिया जाय तो कभी अशांति न हो। मित्रो! आओ, आज हम लोग मिलकर भगवान् के स्वरूप का विचार करें और सच्ची शाति प्राप्त करने का मार्ग खोजें।

भगवान् शांतिनाथ के संबंध में शास्त्र का कथन है—

चइत्ता भारह वास चक्कवट्टी महड्ढिओ।
सन्ती सन्ति करे लोए, पत्तो गइमणुत्तर॥

यहाँ भगवान् के विषय में कहा गया है—'संती संतीकरे

लोए।' अर्थात् शांतिनाथ भगवान् लोक में शांति करने वाले हैं। वाक्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह छोटा-सा वाक्य इतना पूर्ण है कि मानों सब ज्ञान इसी मे समाप्त हो जाता है। शांति क्या है और वह किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, इस विषय पर मैं कई बार कह चुका हूँ और आज फिर इसी विषय में कह रहा हूँ क्योंकि शांति प्राप्त करना ही जगत् के प्राणियों का एकमात्र ध्येय है।

कई लोग विषमभाव—में पक्षपात मे शान्ति देखते है। लेकिन जहाँ विषमभाव है वहाँ वास्तविक शांति नही रह सकती। वास्तविक शान्ति तो समभाव के साथ ही रहती है।

बहुत-से लोग अपनी कुशल के आगे दूसरे की कुशल की कोई कीमत ही नही समझते। वे दूसरों की कुशल की उपेक्षा ही नहीं करते वरन् अपनी कुशल के लिए दूसरों की घोर अकुशल भी कर डालते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि शांति प्राप्त करने का मार्ग यह नहीं है। यह तो शान्ति के घात करने का ही तरीका है। सच्ची शांति तो भगवान् शान्तिनाथ को पहिचानने से ही प्राप्त की जा सकती है। जिस शान्ति में से अशान्ति का अंकुर न फूटे जो सदा के लिए अशांति का अन्त कर दे वही सच्ची शांति है। सच्ची शांति प्राप्त करने के लिए 'सर्वभूतहिते रत.' अर्थात् प्राणी मात्र के कल्याण में रत होना पड़ता है।

कुछ लोग दुर्गापाठ आदि करके, होम करके यहाँ तक कि

जीवों का बलिदान तक करके शांति प्राप्त करना चाहते है। दुःखविपाक सूत्र देखने से पता चलता है कि कुछ लोग तो अपने लड़के का होम करके भी शांति प्राप्त करना चाहते थे। कुछ लोग आज भी पशुबलि, यहाँ तक कि नरबलि मे शांति बतलाते है। इस प्रकार शांति के नाम पर न जाने कितनी उपाधियाँ खड़ी कर दी गई हैं। लेकिन गणधरों ने एक ही वाक्य मे वास्तविक शांति का सच्चा चित्र अंकित कर दिया है-

सत्ती सतिकरे लोए।

नरमेध करने वालों ने नरमेध में ही शांति मान रक्खी है। लेकिन नरमेध से क्या कभी संसार में शांति हो सकती है? मारने वाला और मरने वाला-दोनों ही मनुष्य है। मारने वाला शक्ति चाहता है तो क्या मरने वाले को शांति की अभिलाषा नही है? फिर उसे अशांति पहुँचा कर शांति की आशा करना कितनी मूर्खतापूर्ण बात है!

नरमेध करने वाले से पूछा जाय कि तू ईश्वर के नाम पर दूसरे मनुष्य का वध करता है तो क्या ईश्वर तेरा ही है? ईश्वर मरने वाला का नही है? अगर मरने वाले से पूछा जाय कि हम ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए तेरा बलिदान करना चाहते हैं तो वह क्या उत्तर देगा? क्या वह बलि चढ़ना पसंद करेगा? क्या वह स्वीकार करेगा कि जो इस प्रकार की बलि लेकर प्रसन्न होता है वह ईश्वर है? और इस बलि का विधान जिसमें किया गया है वह क्या शास्त्र

है ? वह तो यही कहेगा कि ऐसी बलि की आज्ञा देने वाला ईश्वर नहीं हो सकता, कोई हिंसालोलुप अनार्य हो सकता है और ऐसा शास्त्र भी किसी अनार्य का ही कहा हुआ है।

किसी जमाने में नरमेध भी किया जाता था और पशुमेध तो साधारण बात हो गई थी। नरमेध में मनुष्य की और पशुमेध में पशुओं की बलि दी जाती थी। नरमेध की बात जाने दीजिए। वह तो घृणित है ही, पर पशुमेध भी कम घृणित नहीं है। निर्दयता के साथ पशुओं को आग में झोंक देना शांति प्राप्त करने का कैसा ढोंग है, यह बात एक आख्यान द्वारा समझना ठीक होगा।

एक राजा पशु का यज्ञ करने लगा। राजा का मन्त्री न्यायशील, दयालु और पक्षपातरहित था। उसने विचार किया—शांति के नाम पर वध करना कौन-सी शांति है ? क्या दूसरों को घोर अशांति पहुँचाना ही शांति प्राप्त करना है ? अपनी शांति की आशा से दूसरों के प्राण लेना जघन्यतम स्वार्थ है। क्या इसी निकृष्ट स्वार्थ में शांति विराजमान रहती है ? शांति देवी की सौम्य मूर्ति इस विकराल और अधम कृत्य में नहीं रह सकती। उसने यज्ञ कराने वाले पुरोहित से पूछा—आप इन मूक पशुओं को अशांति पहुँचाकर शांति किस प्रकार चाहते हैं ?

पुरोहित ने कहा—इन बकरों का परमात्मा के नाम पर बलिदान किया जायगा। इस बलिदान के प्रताप से सबको

शांति मिलेगी।

मन्त्री—ईश्वर अगर सब का स्वामी है तो इन बकरो का भी स्वामी है या नहीं ? और जैसे सब लोग शांति चाहते हैं उसी प्रकार ये शांति चाहते हैं या नही ? ! अगर यह भी शांति चाहते हैं तो इन्हें क्यों मारा जा रहा है ?

पुरोहित, मन्त्री के प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं दे सका। अतएव उसने क्रोध में आकर कर्कश स्वर में कहा—आप नास्तिक मालूम होते हैं। यहाँ से दूर चले जाइए, अन्यथा यज्ञ अपवित्र हो जायगा।

मन्त्री—मैं नास्तिक नहीं, आस्तिक हूँ। परन्तु यह जानना चाहता हूँ कि जिन जीवों के लिए तुम शांति चाह रहे हो, उनमे यह बकरे भी है या नहीं ?

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरिज्जिउ।

अर्थात्—सभी जीव जीवित रहना पसंद करते है। मरना कोई नहीं चाहता।

जब सभी जीव जीना चाहते है और मरना नहीं चाहते तो इन्हें अशांति पहुँचा कर, मारकर, शांति चाहना कहाँ का न्याय है ? तुम भी शांति चाहते हो, यह बकरे भी शांति चाहते हैं, फिर इन्हें क्यों मारते हो ?

पुरोहित के पास इस सरल प्रश्न का कोई उत्तर नही था। वह ऊटपटांग बात करके मन्त्री को टालने का उपाय करने लगा।

मन्त्री ने विचार किया कि यह यज्ञ राजा की आज्ञा से हो रहा है। पुरोहित लोग यों कहने से नहीं मानेंगे। अतएव उसने प्रधान पुरोहित से कहा—मैं लौटकर आता हूँ तब तक इन पशुओं को मारने का काम बन्द रक्खा जाय। यह मेरी अधिकृत आज्ञा है ?

मन्त्री सीधा राजा के पास पहुँचा। उसने राजा से कहा-महाराज ! नगर में बड़ा अत्याचार हो रहा है।

राजा—तो आप किस काम के लिए हैं ? अत्याचार को रोकते क्यों नहीं ?

मन्त्री-अत्याचार करने वाले तो स्वयं राजगुरु हैं। उनके संबंध में जब तक आप विशेष आज्ञा न दें, मैं क्या कर सकता हूँ ?

राजा—राजगुरु क्या अत्याचार कर रहे हैं ?

मन्त्री—लोगों के बच्चों को जबर्दस्ती मूँड़कर साधु बना रहे हैं। सब बच्चे और उनके माँ-बाप रो रहे हैं। आप जैसी आज्ञा दें वैसा ही किया जाय।

राजा को राजगुरु की जबर्दस्ती अच्छी नहीं लगी। उसने मंत्री से कहा—इस अत्याचार को जल्दी रोको। न मानें तो कानून के अनुसार उचित कार्रवाई करो।

राजा की आज्ञा प्राप्त कर मंत्री फिर यज्ञस्थल पर आया। उसने यज्ञ करने वाले पुरोहितों से कहा—इन पशुओं को छोड़ दो। इनका हवन नहीं किया जायगा।

प्र० पुरोहित—क्यों ?

मंत्री—इनकी आत्मा नहीं चाहती।

प्र०पुरोहित—आप शास्त्र की बात नहीं समझते। हम लोग इन पशुओं की कुछ भी हानि नहीं कर रहे हैं। हम तो इन्हे सीधे स्वर्ग भेज रहे है। स्वर्ग मे पहुँच कर इन्हे दिव्य सुख प्राप्त होगा। न आप यह बात जानते हैं और न बकरे ही जानते हैं। हम ज्ञानी हैं। हमने शास्त्र पढ़े हैं। अतएव इन बकरों की भलाई मे बाधा मत डालिए।

मंत्री—आपका ज्ञान तो आपके कामों से और आपकी बातों से प्रकट ही है। परन्तु जब यह पशु स्वर्ग चाहते हों, तब तो इन्हे स्वर्ग भेजना उचित भी कह सकते थे। मगर यह स्वर्ग नहीं चाहते। जबर्दस्ती करके क्यो भेज रहे हो ?

आखिर बकरे बचा लिये गये। पुरोहित घबराया। उसकी दुकानदारी जो उठ रही थी! फिर उन्हे पूछता ही कौन! वे भी राजा के पास पहुँचे। कहने लगे—अन्नदाता! शांति के लिए यज्ञ प्रारंभ किया गया था। पन्तु यज्ञ मे बलि दिये जाने वाले बकरों को मंत्री ने छुड़ा लिया और यज्ञ रोक दिया।

राजा असमंजस में पड़ गया। सोचने लगा—मामला क्या है! आखिर उसने मंत्री को बुलवाया। बकरे छुड़वाने के विषय में प्रश्न करने पर मंत्री ने उत्तर दिया—महाराज ! व मैने आपकी आज्ञा से पशुओं को मरने से बचाया है।

ल   राजा—मैने यह आज्ञा कब दी है ?

मन्त्री—आपने आज्ञा दी थी कि जबर्दस्ती साधु न बनाया जाय।

राजा—वह तो साधु बनाने के विषय मे थी। बकरो के विषय मे तो कोई आज्ञा नही दी गई।

मन्त्री—जैसे दूसरे लोग कहते है कि हम साधु बनाकर स्वर्ग भेजते है उसी प्रकार इनका कहना है कि हम बकरो को मार कर स्वर्ग भेजते है। जब जबर्दस्ती साधु नही बनाने दिया जाता तो फिर जबर्दस्ती बकरो को कैसे स्वर्ग भेजा जा सकता है?

राजा विवेकवान था। उसने मन्त्री की बात पर विचार किया। विचार करने पर उसे जंचा कि मन्त्री की बात सही है।

राजा ने फिर पुरोहित को बुलवाया पुरोहितो के आने पर राजा ने पूछा—उनपशुओं को मारने का उद्देश्य क्या है? उन्हे अमर क्यो न रक्खा जाय? उन्हे अमर रखने से क्या ईश्वर प्रसन्न नही होगा?

प्रधान पुरोहित ने कहा—महाराज, आप भी भ्रम मे पड़ गये है। हम पशुओ को मारते नही, स्वर्ग भेजते है।

मंत्री ने कहा—महाराज, मै पशुओ की ओर से कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। उन पशुओं ने बड़ी ही दीनता के साथ प्रार्थना की है। वह प्रार्थना यह है—

कहे पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहि,
होमत, हुताशन मे कौन सी बड़ाई है।

स्वर्गसुख मैं न चहूं देहु मुझे यों न कहे,
घास खाय रहूं मेरे दिल यही भाई है।
जो तू यह जानत है वेद यों बखानत है,
यज्ञ-जरौ जीव पावे स्वर्ग-सुखदाई है।
डारो क्यों न वीर ! या में अपने कुटुम्ब ही को,
मोहि जिन जारे जगदीस की दुहाई है ॥

पशुओं की यह प्रार्थना है। वे दीन से दीन स्वर में यज्ञ करने वाले से कहते हैं—क्या तुम ईश्वर के भक्त हो? जिस वेद के नाम पर तुम हमें होमते हो उसमें कहे हुए अहिंसा धर्म को छिपा कर हमें होमने में तुम्हारी कौन-सी बड़ाई है? मैं स्वर्ग का सुख नहीं चाहता। मैं तो घास खाकर जीवित रहना चाहता हूँ। हे याज्ञिक ! अगर तू सच्चे दिल से समझता है कि यज्ञ में होमा हुआ जीवधारी स्वर्ग में जाता है तो अपने कुटुम्ब को ही स्वर्ग भेजने के लिए क्यों नहीं होम देता? हम मूक पशुओं से क्यों रूठा है!

एक आदमी अपने हाथ में हरी-हरी घास लेकर खड़ा हो और दूसरा स्वर्ग में भेजने के लिए तलवार लिए खड़ा हो तो इन दोनों में से पशु किसे पसंद करेगा? वह किसकी ओर मुँह लपकाएगा?

'घास वाले की ओर!'

इससे प्रकट है कि पशु स्वर्ग जाने के लिए मरना नहीं चाहता और घास खाकर जीवित रहना चाहता है। मंत्री

कहना है—अगर यज्ञ करने वाले कहते हैं कि पशुओं को अज्ञान है और हम ज्ञानी हैं, इसी लिए उन्हें स्वर्ग भेजते हैं, तो इसके उत्तर में पशुओं का कहना है कि हमें तो इस बात पर विश्वास है नहीं, अगर इन्हें विश्वास तो ये लोग अपने कुटुम्ब को स्वर्ग भेजें। अगर इन्होंने अपने बेटे को इस प्रकार मार कर स्वर्ग भेजा होता तो हमें विश्वास हो जाता कि ये दिल से ऐसा मानते हैं। मगर जब यज्ञ करने वाले अपने माता पिता और पुत्र आदि को स्वर्गसुख से वंचित रखकर हमें स्वर्ग भेजने की बात कहते हैं तो हमें इनकी बात पर विश्वास नहीं होता। इसलिए हमें मारने वाले को परमात्मा की दुहाई है।

मंत्री कहता है-उन पशुओं की तरफ से यह फरियाद है और वे इसका उत्तर माँगते हैं।

राजा ने यज्ञ करने वाले पुरोहितों से पूछा-क्या आप लोग अपने परिवार को यज्ञ में होम सकते हैं?

पुरोहित-शास्त्र में पशुओं को होमने का विधान है, कुटुम्ब को होमने का कहीं विधान नहीं है।

राजा-तब तो कहना पड़ेगा कि आपका शास्त्र भी पक्षपात से भरा है। बस, अब रहने दीजिये। क्षमा कीजिये, मैं ऐसी शांति नहीं चाहता। मेरा उद्देश्य किसी को अशांति पहुँचाकर शांति प्राप्त करना नहीं है। मेरा कर्त्तव्य मुझे सब को शांति पहुँचाने के लिए प्रेरित करता है।

मतलब यह है कि किसी भी जीव का हनन करने से शांति प्राप्त नहीं हो सकती। किसी भी प्राणी को दुःख न पहुँचाने से ही वास्तविक शांति प्राप्त हो सकती है। आज तो जैनपरम्परा के अनुयायी भी नाना प्रकार से आरम्भ-समारंभ करते हैं और होम आदि करते हैं मगर उनमें वास्तविक शांति नहीं है। लोगों ने शांति प्राप्त करने के उपायों को गलत समझ लिया है और इसी कारण शांति प्राप्त करने के लिए यज्ञ, होम आदि करने पर भी सच्ची शांति प्राप्त नहीं होती। सच्ची शांति प्राणीमात्र की कल्याणसाधना में है। किसी का अकल्याण करने में शांति नहीं है। भगवान शांतिनाथ के नाम पर जो शांति-दीपक जलाया जाता है, क्या उसमें अग्नि नहीं होती? इस प्रकार अग्नि से लगाया हुआ दीपक शांतिदीपक नहीं है। शांतिदीपक वह है जिसमें ज्ञान से उजाला किया जाता हो।

ऐसी आरति करो मन मेरा,
जन्म मरण मिट जाय दुख तेरा।
ज्ञानदीपक का कर उजियाला,
शान्ति स्वरूप निहारो तुम्हारा ॥ऐसी॥

मित्रो! शांतिनाथ भगवान् की आराधना करने का अवसर बार-बार नहीं मिलता। इसलिए शांतिनाथ भगवान् की आराधना करो। अग्नि से दीपक जलाकर 'शांति-शांति' भले करते रहो पर इस उपाय से शांतिनाथ को नहीं पा सकते। ज्ञान का दीपक जलाकर उजेला करोगे तो शांतिनाथ भगवान्

का स्वरूप स्पष्ट रूप से देख सकोगे। इस बात पर मनन करो और इसे हृदय में उतार लो तो शांतिनाथ हृदय में ही प्रकट हो जाएँगे। प्राचीन ऋषियों ने कहा है—

देहो देवालय प्रोक्तो जीवो देव सनातन ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्य, सोऽहं भावेन पूजयेत ॥

यह देह देवालय है। इसमें आज का नहीं सनातन का, कृत्रिम नहीं अकृत्रिम, जीव परमेश्वर है।

तुम्हारी देह अगर मन्दिर है तो दूसरे जीवों की देह भी मन्दिर है या नहीं ?

'है !'

यदि केवल अपनी ही देह को मन्दिर माना, दूसरे की देह को मन्दिर नहीं माना तो तुम पक्षपात मे पड़े होने के कारण ईश्वर को नहीं जान सकते। ईश्वर ज्ञानस्वरूप, सर्वव्यापी और सब की शान्ति चाहने वाला है। अगर आप भी सब की शान्ति चाहते हैं, सब की देह को देवालय मानते हैं तो आपकी देह भी देवालय है, अन्यथा नहीं।

जिस मकान को देवालय मान लिया, उस मकान के ईंट पत्थर कोई विवेकी खोदना चाहेगा ?

'नहीं !'

अगर कोई खोदता है तो कहा जायगा कि उसने देवालय की आसातना की। लेकिन जब सभी जीवों के शरीर को देवालय मान लिया तो फिर किसी के शरीर को तोड़ना-फोड़ना

क्या देवालय को तोड़ना-फोड़ना नहीं कहलाएगा ?

मित्रो ! परमात्मा से शान्ति चाहने के लिए दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाना, उनका घात करना कहाँ तक उचित है ? देवालय के पत्थर निकालकर कोई आसपास दीवाल बनावे और कहे कि हम देवालय की रक्षा करते हैं तो क्या यह रक्षा करना कहलाएगा ? इसी प्रकार शान्ति के लिए जीवों का घात करना क्या शान्ति प्राप्त करना है ? शांति तो उसी समय प्राप्त होगी जब ज्ञान-दीपक से उजेला करके आत्मा को वैर-विकार से रहित बनाओगे। सर्वदेशीय शांति ही वास्तविक शांति है।

शांतिनाथ भगवान की प्रार्थना में कहा गया है—

श्री शान्ति जिनेश्वर सायब सोलवाँ,
जनमत शान्ति करी निज देश में।
मिरगी मार निवार हो सुभागी॥
तन मन वचना शुध करि ध्यावता,
पूरे सगली हाम हो सुभागी॥श्री०॥

उन शांतिनाथ भगवान् को पहिचानो, जिन्होंने माता के उदर में आते ही संसार में शांति का प्रसार कर दिया था। उस समय की शांति, सूर्योदय से पहले होने वाली उषा के समान थी।

उषा प्रातःकाल लालिमा फैलने और उजेला होने को कहते हैं। भगवान शांतिनाथ का जन्मकाल शांतिप्रसार का उषाकाल था। इस उषाकाल के दर्शन कब और कैसे हुए,

इत्यादि बातें समझाने के लिए शान्तिनाथ भगवान का जन्म-चरित संक्षेप में बतला देना आवश्यक है। जिस प्रकार सूर्योदय की उषा से सूर्य का संबंध है, उसी प्रकार भगवान शान्तिनाथ के उषाकाल से उनका संबंध है। अतएव उसे जान लेना आवश्यक है।

हस्तिनापुर में महाराज अश्वसेन और महारानी अचला का अखंड राज्य था। हस्तिनापुर नगर अधिकतर राजधानी रहा है। प्राचीन काल में उसकी बहुत प्रसिद्धि थी। आजकल हस्तिनापुर का स्थान देहली ने ले लिया है।*

भगवान् शांतिनाथ सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत होकर महारानी अचला के गर्भ में आये। गर्भ में आते समय महारानी अचला ने जो दिव्य स्वप्न देखे, वे सब उस उषा काल की सूचना देने वाले थे। मानो स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थों में कोई भी स्वार्थी नहीं है। हाथी, वृषभ, सिंह और पुष्पमाला कहते हैं कि आप हमें अपने में स्थान दीजिए। चन्द्रमा और सूर्य निवेदन कर रहे हैं कि हमारी शांति और तेज हे प्रभो! तेरे में ही है।

उग्गए विमले भाणू

हे प्रभो! हमारे प्रकाश से अंधकार नहीं मिटता है, अतएव आप ही प्रकाश कीजिए।

* हस्तिनापुर के परिचय के लिए देखिए, किरण १७, (पाडव-चरित) पृ० ६।

उधर फहराती हुई ध्वजा कहती है—मैं तीन लोक की विजयपताका हूँ। मुझे अपनाइए। मंगलकलश कहता है—मेरा नाम तभी सार्थक है जब आप मुझे ग्रहण करलें। मान-सरोवर कहता है—यह मंगल कलश मेरे से ही बना है। मैं और किसके पास जाऊं? मैं संसार के मानस का प्रतिनिधि होकर आया हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि तू सब के मानस मे प्रवेश कर और उसे उज्ज्वल बना। क्षीरसागर कहता है-यह सरोवर तो छोटा-सा है। लेकिन अगर आप मुझे न धारण करेंगे तो मैं कहाँ रहूँगा? प्रभो! इस संसार को अमृतमय कर दो। संसार मुझ से अतृप्त है, अत: आप उसे तृप्त कीजिए।

इस प्रकार उषा काल की सूचना देकर भगवान शांति-नाथ सर्वार्थसिद्ध विमान से महारानी अचला के गर्भ मे आये। सब देवी-देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना की-प्रभो! सब लोग अपने-अपने पक्ष में पड़े हुए है। आप संसार का उद्धार कीजिये। हमारे सिर पर भी आशीर्वाद का हाथ फेरिये।

लोकोत्तर स्वप्नो ने मानों अचला महारानी को बधाई दी। उसके बाद अचला महारानी के गर्भ मे भगवान् का आगमन हुआ। क्रमशः गर्भ की वृद्धि होने लगी।

जिन दिनो भगवान् शान्तिनाथ गर्भ मे थे, उन्ही दिनों महाराज अश्वसेन के राज्य मे महामारी का रोग फैल गया।

प्रश्न हो सकता है कि जब भगवान् गर्भ मे आये तो रोग

क्यों फैला ? मगर वह रोग नहीं, उषाकाल की महिमा को प्रकट करने वाला अंधकार था। जैसे उषाकाल से पहले रात्रि होती है और उस रात्रि से ही उषाकाल की महिमा जानी जाती है, उसी प्रकार वह महामारी भगवान् शांतिनाथ के उषाकाल के पहले की रात्रि थी। उसका निवारण करने के कारण ही भगवान् 'शांतिनाथ' पद को प्राप्त हुए। यद्यपि भगवान् गर्भ में आ चुके थे और उस समय रोग फैलना नहीं चाहिए था, फिर भी रोग के फैलने के बाद भगवान् के निमित्त से उसकी शांति होने के कारण भगवान् की महिमा का प्रकाश हुआ। इससे भगवान् के आने की सूचना और भगवान के प्रताप का परिचय उनके माता-पिता को मिल गया।

राज्य में मरी रोग फैलने की सूचना महाराज अश्वसेन को मिली। महाराज ने यह जानकर कि मरी रोग के कारण लोग मर रहे हैं, रोग की उपशांति के अनेक उपाय किये। मगर शांति न मिली।

यह मरी लोगों की कसौटी थी। इसी से पता चलता था कि लोग मार्ग पर हैं या मार्ग भूले हुए हैं। यह मरी शांति से पहले होने वाली भ्रांति थी।

उपाय करने पर भी शांति न होने के कारण महाराज बड़े दुःखी हुए। वह सोचने लगे—'जिस प्रजा का मैंने पुत्र के समान पालन किया है, जिसे मैंने अज्ञान से सज्ञान, निर्धन से धनवान् और निरुद्योगी से उद्योगवान् बनाया

है, वह मेरी प्रजा असमय में ही मर रही है ! मेरा सारा परिश्रम व्यर्थ हो रहा है ! मेरे राजा रहते प्रजा को कष्ट होना मेरे पाप का कारण है। पहले के राजा, राज्य में दुष्काल पड़ना, रोग फैलना, प्रजा का दु:खी होना आदि अपने पाप का ही फल समझते थे।

रामायण में लिखा है कि एक ब्राह्मण का लड़का बचपन में ही मर गया। ब्राह्मण उस लड़के को लेकर रामचन्द्रजी के पास गया और बोला—आपने क्या पाप किया है कि मेरा लड़का मर गया ?

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि पहले के राजा प्रजा के कष्ट का कारण अपना ही पाप समझते थे। इसी भावना के अनुसार महाराज अश्वसेन मरी फैलने का अपना ही दोष मान कर दु:खी हुए। उन्होंने एकान्त में जाकर निश्चय किया कि जब तक प्रजा का दु:ख दूर न होगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।

सुदृढ़ निश्चय में बड़ा बल होता है। भक्त तुकाराम ने कहा है—

निश्चयाचा बल तुका म्हणे तो च फल।

निश्चय के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती।

इस प्रकार निश्चय करके महाराज अश्वसेन ध्यान लगा कर बैठ गये। भोजन का समय होने पर महारानी अचला ने दासी को भेजा कि वह महाराज को भोजन करने के लिए

बुला लावे। दासी गई, किन्तु महाराज को ध्यानमुद्रा में बैठा देखकर वह सहम गई। भला उसका साहस कैसे हो सकता था कि वह महाराज के ध्यान के भङ्ग करने का प्रयत्न करे। वह धीमे-धीमे स्वर से पुकार कर लौट गई। उसके बाद दूसरी दासी आई, फिर तीसरी आई, मगर ध्यान भंग करने का किसी को साहस न हुआ। महारानी अचला बार-बार दासियों को भेजने के अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करके कहने लगीं—स्वामी को बुलाने के लिए दासियों का भेजना उचित नहीं था, स्वयं मुझे जाना चाहिए था। यद्यपि मैंने पति से पहले भोजन करने की भूल नहीं की है, लेकिन स्वयं उन्हे बुलाने न जाकर दासियों को भेजने की भूल अवश्य की है।

समय अधिक हो जाने के कारण भोजन ठण्डा हो गया था। इस कारण दासियों को दूसरा भोजन बनाने की आज्ञा देकर महारानी अचला स्वयं महाराज अश्वसेन के समीप गईं।

महारानी सोच रही थीं—पत्नी, पति की अर्धांगिनी है। उसे पति की चिन्ता का भी भाग बँटाना चाहिए। जो स्त्री पति की प्रसन्नता में भाग लेना चाहती है और चिन्ता मे भाग नहीं लेना चाहती, वह आदर्श पत्नी नहीं हो सकती। ऐसी स्त्री पापिनी है।

अचला देवी ने जो विचार किया, क्या वह स्त्री का धर्म नहीं है? अवश्य। किन्तु आजकल तो बचपन मे ही लड़-

कियों को उलटी शिक्षा दी जाती है। कन्या को ऐसा विनयशील होना आवश्यक है, जिससे गृहस्थावस्था मे वह अपने परिवार को शांति दे सके, स्वय शांति प्राप्त कर सके और कुटुम्ब-जीवन पूरी तरह आनन्दमय हो सके।

बीकानेर में लड़कियों को लड़के के भेष में रखने की प्रथा देखी जाती है। मेरी समझ में ही नहीं आता कि ऐसा करने से क्या लाभ है? पुरुष की पोशाक पहिनने से कोई स्त्री पुरुष तो हो ही नही सकती! संभव है, कन्या के माता-पिता उसे लड़के की पोशाक पहना कर सोचते हो—लड़के की पोशाक पहिनकर हम कन्या की लड़का होने की भावना पूरी कर रहे हैं! मगर ऐसा करने से क्या हानि होती है, इस बात पर उन्होने विचार नहीं किया। लड़की को लड़का बनाने का विचार करना प्रकृति से युद्ध करना है। प्रकृति से युद्ध करके कोई विजय नहीं पा सकता। फल यह होता है कि ऐसा करने से लड़की के संस्कार बिगड़ जाते है। कोई-कोई बचपन के मूल्य को नही समझते। वे बाल्यावस्था को निरर्थक ही मानते है। पर बाल्यावस्था में ग्रहण किये हुए संस्कारों के आधार पर ही बालक के सम्पूर्ण जीवन का निर्माण होता है। जिसका बालकपन बिगड़ गया उसका सारा जीवन बिगड़ गया और जिसका बालकपन सुधर गया उसका सारा जीवन सुधर गया। किसी कवि ने कहा है—

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।

कच्चे घड़े पर बेलबूटे बना दिये जाते हैं वे घड़े के पकने पर भी नही मिटते। लेकिन पके घड़े पर बनाये हुए बेलबूटे कायम नही रहते। यही बात बाल्यावस्था के विषय मे है। अतएव जीवननिर्माण की दृष्टि से बाल्यावस्था का मूल्य बहुत अधिक है। माता-पिता को यह बात दिल मे बिठा लेना चाहिए कि बालक के संस्कार, चाहे वे भले हो या बुरे हों, जीवन भर जाने वाले नही हैं। अतएव उन्हे बुरे संस्कारों से बचकर अच्छे संस्कारों से सुसंस्कृत करना चाहिए। अगर बालकों को प्रारम्भ से ही खराब बोलचाल और खान-पान से बचाते रहो तो आगे चलकर वे इतने उत्तम बनेगे कि आपका गृहस्थजीवन सुखमय शांतिमय और सतोषमय बन जायगा।

कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ टाकुर ने अपने एक निबन्ध मे लिखा है कि पाँच वर्ष तक के बालक को सिला हुआ कपड़ा पहनाना उसकी वृद्धि में बाधा डालना है। खुले शरीर मे जो कांति आ सकती है, वह सिले कपड़ों से बन्द किये हुए शरीर में नही आ सकती। चुस्त कपड़ो से बालक के शरीर का विकास भी रुक जाता है। ऐसी स्थिति मे यह समझना कठिन नही है कि गहनों से भी बालक का विकास अवरुद्ध हो जाता है। जो बालक 'सोना' शब्द का उच्चारण भी नही कर सकता, न सोने को पहिचानता ही है, उसे सोना पहि-नाने से क्या लाभ है? सोना बालक के प्राणो का ग्राहक

भले ही बन सकता है, लाभ तो उससे कुछ भी दिखाई नहीं देता। बालक को जब सिला कपड़ा पहिनाया जाता है तो वह रोने लगता है। वह रोकर मानो कहता है कि मुझे इस बन्धन में मत डालो। मगर कौन बालकों की पुकार सुनता है।

जरा विचार कीजिए कि आप लोग अपने बालकों को नाना प्रकार के आभूषण और गोटा-किनारी के कपड़े पहिनाये बिना संतोष नहीं मानते, मगर अंगरेजों के कितने लड़कों को आपने गहने पहिने देखा है ?

आप बालकों को बचपन से ही ऐसी विकारयुक्त रुचि का बना देते हैं कि आगे चलकर उनकी रुचि का सुधरना कठिन हो जाता है। बड़े होने पर कदाचित् उन्हें गहने न मिलें तो वे दुःख का अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि ही विकृत हो जाती है। उनका जीवन दुःखमय बन जाता है। माता-पिता को तो चाहिए कि वे बालक को सादगी और स्वच्छता का सबक सिखावें, जिससे उनका अगला जीवन सुख और संतोष के साथ व्यतीत हो सके।

बहुत से लोग लड़कों पर अच्छा भाव रखते हैं परन्तु लड़कियाँ उन्हे आफत की पुड़ियाँ मालूम होती हैं। लड़का उत्पन्न होने पर वे प्रसन्न होते हैं और लड़की के जन्म पर मातम-सा मनाने लगते हैं—उदास हो जाते है। फिर उसके पालन-पोषण मे भी ऐसी लापरवाही की जाती है कि लड़की

अपने भाग्य से ही बड़ी हो पाती है। लड़की बड़ी हो जाती है तो उसके शिक्षण का वैसा प्रबंध नहीं किया जाता जैसा लड़के का! लेकिन उसे लड़के के वेष मे रक्खा जाता है, जिससे उसका नम्रता का गुण कम हो जाता है।

जहाँ इस प्रकार का पक्षपात हो, समझना चाहिए कि वहाँ भगवान शांतिनाथ के समझने का प्रयत्न ही नहीं किया गया है। इसलिए मैं कहता हूँ कि पक्षपात को दूर करो। यह पक्षपात गृहस्थजीवन का घोर अभिशाप है। लड़कियों के विरुद्ध किया जाने वाला ऐसा पक्षपात अत्यन्त भयकर परिणाम पैदा करने वाला है। किसी नवयुवती कन्या को बूढ़े के साथ ब्याह देना क्या कम अत्याचार है? पैसे के लोभ में आकर अपनी कन्या के साथ ऐसा निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने वाले लोग किस प्रकार भगवान शांतिनाथ की उपासना कर सकते हैं? अपनी ही संतान को जो लोग अशांति की आग में झोंकते नहीं हिचकते उन्हें किस प्रकार शान्ति मिल सकती है? अगर आप सच्ची शांति चाहते हैं तो अपने समग्र जीवन क्रम का विचार करें और उसमें अशांति पैदा करने वाले जितने अंश हैं, उन्हें हटा दें। इससे आप, आपका परिवार, समाज और देश शांति प्राप्त करेगा। ऐसा करने पर ही भगवान् शांतिनाथ की आराधना हो सकेगी।

कन्या के बदले पैसे लेने वाले का कभी भला नहीं होता। मैं अपनी आँखों देखी बात कहता हूँ। एक आदमी के पाँच

लड़कियाँ थीं और एक लड़का था। लड़कियों के उसने मन-चाहे रुपये लिये। यही नही वरन् किसी-किसी लड़की की सगाई एक जगह करके छोड़ दी और फिर दूसरी जगह की। इतना करने पर भी उसकी दरिद्रता दूर नहीं हुई और न उसके लड़के का ही विवाह हुआ। उसके वंश का नाश हो गया।

मतलब यह है कि प्रकृति के नियमों को तोड़कर रुपये के लोभ मे पड़कर नवयुवती कन्या को बूढ़े के हवाले कर देना या अयोग्य धनवान् को लड़की देकर योग्य धनहीन को वंचित रखना योग्य नहीं है। भगवान् ने तो दासी बेचने को भी बड़ा पाप कहा है, फिर कन्या को बेच देना कितना बड़ा पाप न होगा!

महारानी अचला को बाल्यावस्था से ही सुन्दर संस्कार मिले थे। वह अपने पत्नीधर्म को भलीभाँति समझती थीं। इस कारण वह भोजन किये बिना ही महाराज अश्वसेन के समीप पहुँचीं। वहाँ जाकर देखा कि महाराज अश्वसेन गंभीर मुद्रा धारण करके ध्यान मे लीन है। महारानी ने हाथ जोड़कर धीमे और मधुर किन्तु गंभीर स्वर में महाराज का ध्यान भंग करने का प्रयत्न किया। महारानी का गंभीर स्वर सुनकर महाराज का ध्यान टूटा। उन्होने आँख खोलकर देखा तो सामने महारानी हाथ जोड़ खड़ी नजर आई। महा-राज ने इस प्रकार खड़ी रहने और ध्यान भंग करने का कारण

पूछा। महारानी ने कहा—आप आज अभी तक भोजन करने नही पधारे। इसका क्या कारण है ?

महाराज सोचने लगे—जिस उपद्रव को मैं दूर नही कर सकता, उसे महारानी स्त्री होकर कैसे दूर कर सकती है ? फिर अपनी चिन्ता का कारण कह कर इन्हे दुखी करने से क्या लाभ है ? इस प्रकार विचार कर वह चुप ही रहे। कुछ न बोले।

पति को मौन देख महारानी ने कहा—जान पड़ता है, आप किसी ऐसी चिन्ता मे डूबे हैं, जिसे सुनने के लिए मैं अयोग्य हूँ। संभवतः इसी कारण आप बात छिपा रहे है। यदि मेरा अनुमान सत्य है तो आज्ञा दीजिए कि मैं यहाँ से टल जाऊँ। ऐसा न हो तो कृपया अपनी चिन्ता का कारण बतलाइए। आपकी पत्नी होने के कारण आपके हर्ष-शोक मे समान रूप से भाग लेना मेरा कर्त्तव्य है।

महाराज अश्वसेन ने कहा—मेरे पास कोई चीज़ नहीं है जो तुम से छिपाने योग्य हो ! मै ऐसा पति नही कि अपनी पत्नी से किसी प्रकार का दुराव रक्खूं । मगर मै सोचता हूँ कि मेरी चिन्ता का कारण सुन लेने से मेरी चिन्ता तो दूर होगी नहीं तुम्हें भी चिन्ता हो जायगी। इससे लाभ क्या होगा?

महारानी—अगर बात कहने से दुःख नही मिटेगा तो उदास होने से भी नही मिटेगा। इस समय सारा दुःख आप उठा रहे है, लेकिन जब आप, अपनी इस अर्धांगिनी से दुःख

का कारण कह देंगे तो आपका आधा दुःख कम हो जायगा।

महाराज—तुम्हारी इच्छा है तो सुन लो। इस समय सारी प्रजा महामारी की बीमारी से पीड़ित है। मुझसे ही कोई अपराध बन गया है, जिसके कारण प्रजा को कष्ट भुगतना पड़ रहा है। ऐसा न होता तो मेरे सामने प्रजा क्यों दुखी होती ?

महारानी—जिस पाप के कारण प्रजा दुःख पा रही है, वह आपका ही नहीं है, मेरा भी है।

महारानी की यह बात सुनकर महाराज को आश्चर्य हुआ। फिर उन्होंने कुछ सोचकर कहा—ठीक है। आप प्रजा की माता हैं। आपका ऐसा सोचना ठीक ही है। मगर विचारणीय बात तो यह है कि यह दुःख किस प्रकार दूर किया जाय ?

महारानी—पहले आप भोजन कर लीजिए। कोई न कोई उपाय निकलेगा ही।

महाराज—मै प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि जब तक प्रजा का दुःख दूर न होगा, मै अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।

महारानी—जिस नरेश मे इतनी दृढ़ता है, जो प्रजाहित के लिए आत्मबलिदान करने को उद्यत है, उसकी प्रजा कदापि दुखी नहीं रह सकती। लेकिन जब तक आप भोजन नहीं कर लेते, मै भी भोजन नहीं कर सकती।

महाराज—तुम अगर स्वतंत्र होतीं और भोजन न करतीं, तब तो कोई बात ही नहीं थी। लेकिन तुम गर्भवती हो।

तुम्हारे भूखे रहने से गर्भ को भी भूखा रहना होगा और यह अत्यन्त ही अनुचित होगा।

गर्भ की याद आते ही अचला महारानी ने कहा—नाथ! अब मैं महामारी के मिटाने का उपाय समझ गई। यह महामारी उषा के पूर्व का अंधकार है। मैं इसे मिटाने का उपाय करती हूँ।

महारानी अचला महल के ऊपर चढ़ गई और अमृतदृष्टि से चारों ओर देखकर कहने लगीं—प्रभो! यदि यह महामारी शान्त न हुई तो पति जीवित नहीं रहेंगे। पति के जीवित न रहने पर मैं भी जीवित नहीं रह सकूँगी और इस प्रकार यह गर्भ भी नष्ट हो जायगा। इसलिए हे महामारी! मेरे पति के लिए, मेरे लिए और इस गर्भ के लिए इस राज्य को शीघ्र छोड़ दे।

उषा के आगे अंधकार कैसे ठहर सकता है? महारानी के चारों ओर देखते ही महामारी हट गई। उसके बाद महाराज अश्वसेन को सूचना मिली कि राज्य में शान्ति हो गई है। महाराज आश्चर्यचकित रह गए। वे महारानी के महल में आये। मालूम हुआ कि वे महल के ऊपर हैं। महाराज वहीं पहुंचे। उन्होंने देखा कि अचला महारानी अचल ध्यान में खड़ी है। चारों ओर अपनी दिव्य दृष्टि फिराती है, किन्तु मन को नहीं फिरने देती।

महाराज अश्वसेन ने थोड़ी देर यह दृश्य देखा। उसके

बाद स्नेह की गंभीरता के साथ कहा—'देवी, शान्त होओ।

पति को आया जान महारानी ने उनका सत्कार किया। महाराज ने अतिशय संतोष और प्रेम के साथ कहा—समझ में नहीं आया कि तुम रानी हो या देवी? तुम्हारी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। तुम्हारे होने से ही मेरा बड़प्पन है। तुम्हारी मौजूदगी से ही मेरा कल्याण--मंगल हुआ। तुमने देश मे शांति का प्रसार करके प्रजा के और मेरे प्राणों की रक्षा की है।

पति के मुख से अपनी अलंकारमय प्रशंसा सुनकर रानी कुछ लज्जित हुई। फिर रानी ने कहा—नाथ! यह अलंकार मुझे शोभा नहीं देते। ये इतने भारी हैं कि मैं इनका बोझ नहीं उठा सकती। मुझमें इतनी शक्ति है कहाँ है, जितनी आप कह रहे हैं? थोड़ी-सी शक्ति ही भी तो वह आपकी ही शक्ति है। कांच की हंडी में दीपक रखने पर जो प्रकाश होता है वह काच की हंडी का नहीं, दीपक का ही है। इस लिए आपने प्रशंसा के जो अलंकार मुझे प्रदान किये हैं, उन्हे आभार के साथ मैं आपको ही समर्पित करती हूँ। आप ही इनके योग्य है। आप ही इन्हे धारण कीजिए।

महाराज—रानी, यह भी तुम्हारा एक गुण है कि तुम्हें अपनी शक्ति की खबर ही नहीं! वास्तव मे जो अपनी शक्ति का घमंड नहीं करता वही शक्तिमान् होता है। जो शक्ति का अभिमान करता है उसमें शक्ति रहती ही नहीं! बड़े-बड़े

ज्ञानी, ध्यानी और वीरों की यही आदत होती है कि वे अपनी शक्ति की खबर भी नहीं रखते। मैंने तुम्हे जो अलकार दिये है उन्हें तुम मेरे लिए लौटा रही हो किन्तु पुरुष होने के कारण मैं उन्हें पहिन नही सकता। साथ ही मुझे ख्याल आता है कि यह शक्ति न तुम्हारी है, न हमारी है। हमारी और तुम्हारी भावना पूरी करने वाले त्रिलोकीनाथ का ही यह प्रताप है। वह नाथ जन्म धारण करके सारे संसार को सनाथ करेगा। आज के इस चमत्कार को देखते हुए इन अलंकारों को गर्भस्थ प्रभु के लिए सुरक्षित रहने दो। जन्म होने पर इनका 'शांतिनाथ' नाम रक्खेंगे। 'शांतिनाथ' नाम एक सिद्ध मन्त्र होगा, जिसे सारा संसार जपेगा और शांति-लाभ करेगा। देवी, तुम कृतार्थ हो कि संसार को शांति देने वाले शांतिनाथ तुम्हारे पुत्र होंगे।

रानी--नाथ, आपने यथार्थ कहा। वास्तव मे बात यही है। यह अपनी शक्ति नही, उसी की शक्ति है। उसी का प्रताप है, जिसे मैंने गर्भ में धारण किया है।

प्रार्थना में कहा गया है—

> अश्वसेन नृप अचला पटरानी,
> तस सुत कुल सिंगार हो सुभागी।
> जन्मत शांति थई निज देश मे,
> मिरगी मार निवार हो सुभागी॥

इस प्रकार शांतिनाथ भगवान् रूपी सूर्य के जन्म धारण

करने से पहले होने वाली उषा का चमत्कार आपने देख लिया। अब शांतिनाथ-सूर्य के उदय होने का वृतान्त कहना है। मगर समय कम होने के कारण थोड़े ही शब्दों में कहता हूँ।

शांतिनाथ भगवान् को गर्भ में रहने या जन्म धारण करने के कारण आप वंदना नहीं करते हैं। वे इस कारण वन्दनीय है कि उन्होंने दीक्षा धारण करके. केवल ज्ञान प्राप्त किया और अन्त में मुक्ति प्राप्त की।

भगवान् शांतिनाथ ने लम्बे काल तक संसार में रहकर अद्वितीय काम कर दिखाया। उन्होंने स्वयं राज्य करके राज्य करने का आदर्श जनता के समक्ष उपस्थित किया। राज्य करके उन्होंने अहंकार नहीं सिखलाया। उनमें ऐसी-ऐसी अलौकिक शक्तियाँ थीं कि जिनकी कल्पना भी हमारे हृदय मे आश्चर्य उत्पन्न करती है। लेकिन उन्होंने ऐसी शक्तियों का कभी प्रयोग नहीं किया। माता अपने बालक को कामधेनु का दूध पिलाकर तृप्त कर सकती हो तो भी उसे अपना दूध पिलाने मे जिस सुख का अनुभव होता है, कामधेनु का दूध पिलाने मे वह सुख कहाँ? इसी प्रकार शांतिनाथ शक्ति का प्रयोग कर सकते थे परन्तु उन्हे शांति और प्रेम से काम लेने में ही आनन्द आता था।

शांतिनाथ भगवान् ने संसार को क्या-क्या सिखाया और किस प्रकार महारंभ से निकाल कर अल्पारंभ में लाये,

यह कथा लम्बी है। अतएव इतनी सूचना करके ही संतोष करता हूँ।

प्रभो ! आप जन्म, जरा और मरण, इन तीन बातों मे ही उलझे रहते तो आप शांतिनाथ न बनते। लेकिन आप तो संसार को शांति पहुँचाने वाले और शांति का अनुभव पाठ पढ़ाने वाले हुए, इस कारण हम आपको भक्तिपूर्वक वन्दना करते है। आपने कौनसी शांति सिखलाई है, इस सम्बन्ध मे कहा है—

चइत्ता भारह वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ।

चक्रवर्ती की विशाल समृद्धि प्राप्त करके भी आपने विचार किया कि संसार को शांति किस प्रकार पहुँचाई जा सकती है ? इस प्रकार विचार कर आपने शांति का मार्ग खोजा और संसार को दिखलाया। जैसे माता कामधेनु का नही वरन् अपना ही दूध बालक को पिलाती है, उसी प्रकार आपने शांति के लिए यंत्र-मन्त्र-तंत्र आदि का उपयोग नहीं किया किन्तु स्वय शांतिस्वरूप बनकर संसार के समक्ष शांति का आदर्श प्रस्तुत किया। आपके आदर्श से संसार ने सीखा कि त्याग के विना शांति नही प्राप्त की जा सकती। आपने संसार को अपने ही उदाहरण से बतलाया है कि सच्ची शान्ति भोग मे नहीं, त्याग में है और मनुष्य सच्चे हृदय से ज्यों-ज्यो त्याग की ओर बढ़ता जायगा त्यों-त्यों शांति उसके समीप आती जाएगी।

त्याग का अर्थ यदि आप संसार छोड़कर साधु बनना समझें तो वह गलत अर्थ नहीं होगा ! परन्तु यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि कस्तूरी किसी के घर हजार मन हो और किसी के घर एक कन हो तो चिन्ता नहीं, पर चाहिए सच्ची कस्तूरी। एक तोला रेडियम धातु का मूल्य साढ़े चार करोड़ रुपया सुना जाता है। उसके एक कण से भी बहुत-सा काम निकल सकता है, पर शर्त यही है कि वह नकली नहीं, असली हो। इसी प्रकार पूर्ण शांति प्राप्त करने के लिए आप पूर्ण त्याग कर सकें तो अच्छा ही है। अगर पूर्ण त्याग करने की आपस में शक्ति नहीं है तो आंशिक त्याग तो करना ही चाहिए। मगर ध्यान रखना कि जो त्याग करो, वह सच्चा त्याग होना चाहिए। लोक-दिखावे का द्रव्य-त्याग आत्मा के उत्थान में सहायक नहीं होगा। आत्मा के अन्तरतर से उद्भूत होने वाली त्यागभावना ही आत्मा को ऊँचा उठाती है। त्याग भले ही शक्ति के अनुसार थोड़ा हो परन्तु असली हो और शुद्ध हो जो कि भगवान् शांतिनाथ को चढ़ सकता हो।

जिन देवों ने त्याग करके शांति नहीं प्राप्त की उन्होंने संसार को शांति नहीं सिखाई। महापुरुषों ने स्वयं त्याग करके फिर त्याग का उपदेश दिया है और सच्ची शांति सिखाई है। महापुरुष त्याग के इस अद्भुत रेडियम को यथा-शक्ति ग्रहण करने के लिए उपदेश देते हैं। अतएव आप भी

पापों का भी त्याग करो। जिस समय कोई आप पर क्रोध की ज्वालाएँ फेंके उस समय आप शांति के सागर बन जाइए। शांतिनाथ भगवान का नाम लीजिए। फिर आप देखेंगे कि क्रोध करने वाला किस प्रकार परास्त हो जाता है।

भगवान् शांतिनाथ का जाप तो लोग आज भी करते हैं, परन्तु उसका प्रयोजन दूसरा होता है। कोई मुकदमा जीत लेने के लिए शांतिनाथ को जपते हैं तो कोई किसी दूसरी झूठी बात को सच्ची सिद्ध करने के लिए। इस प्रकार अशांति के लिए शांतिनाथ को जपने से कोई लाभ नहीं होगा। कोई भी अशांति उत्पन्न करने वाली चीज भगवान् शांतिनाथ को स्वीकृत नहीं हो सकती।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या विवाह आदि के अवसर पर भगवान शांतिनाथ का स्मरण नहीं करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि स्मरण तो करना चाहिए लेकिन यह समझ कर कि विवाह बंधन की चीज है, इसलिए हे प्रभो! तू ऐसी शक्ति मुझे प्रदान कर कि मैं इस बंधन में ही न रहूँ। गृहस्थावस्था में विवाह से फलित होने वाले चतुर्थ अणुव्रत का पालन कर सकूँ और शक्ति आने पर भोग को निस्सार समझ कर पूर्ण ब्रह्मचर्य को धारण कर सकूँ। इस प्रकार की धर्मभावना के साथ भगवान् का नाम जपने से आपका कल्याण ही होगा।

व्यापार के निमित्त बाहर जाते समय आप मांगलिक

सुनते है और मुनि सुनाते है । इसका यह अर्थ नही होना चाहिए कि व्यापार में खूब धन कमाने के लिए आप सुने और मुनि सुनावें। व्यापार करते समय आप धन के चक्कर मे पड़कर धर्म को न भूल जाएँ। आपको धन ही शरणभूत, मंगलमय और उत्तम न दिखाई दे वरन् धर्म को उस समय भी आप मंगलमय मानें। इसी भावना से मुनि आपको मंगलपाठ सुनाते हैं और आपको भी इसी भावना से उसे सुनना चाहिए।

भोजन करते समय भी आप भगवान् शान्तिनाथ को स्मरण रक्खो और विचार करो कि—'प्रभो! मुझे भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार रहे।' मगर आज ऐसा कौन करता है? लोग बेभान होकर अभक्ष्य भक्षण करते हैं और ठूंस-ठूंस कर आवश्यकता से अधिक खा लेते हैं। वे सोचते है—अजीर्ण होगा तो औषधों की क्या कमी है! मगर औषध के भरोसे न रह कर भगवान् शांतिनाथ को याद करो और सोचो कि मै शरीर का ढाँचा रखने के लिए ही खाऊं और खाने में बेभान न हो जाऊँ।

एक प्रोफेसर का कहना है कि मै जब उपवास करता हूँ तो मेरी एकाग्रता बढ़ जाती है और मैं अवधान कर सकता हूँ। अगर उपवास न करूं तो अवधान नहीं कर सकता।

अगर आप अधिक उपवास न कर सकें तो महीने में चार उपवास तो किया करें। चार उपवास करने से भी औषध लेने की आवश्यकता नहीं रहेगी। अगर प्रसन्नता और सद्-

भावना से उपवास करोगे तो धर्म का भी लाभ होगा। अगर आपने स्वेच्छा से उपवास न किये तो प्रकृति दूसरी तरह से उपवास करने के लिए आपको बाध्य करेगी । ज्वर आदि होने पर भोजन त्यागना पड़ेगा।

भगवान शान्तिनाथ ने छह खंड का राज्य त्याग कर संसार को सिखाया है कि त्याग कैसे किया जाता है और त्याग में कितनी निराकुलता तथा शान्ति है । मगर तुम से और कुछ नहीं बन पड़ता तो शान्तिनाथ भगवान के नाम पर क्रोध करने का ही त्याग कर दो । जहाँ क्रोध का अभाव है वहाँ ईश्वरीय शान्ति उपस्थित रहती है। आप शान्ति चाहते हैं तो उसे पाने का कुछ उपाय भी करो । एक भक्त कहते हैं—

कठिन कर्म लेहि जाहिं मोहि जहाँ
तहाँ-तहाँ जन छन

प्रभो ! क्रूर कर्म न जाने कहाँ-कहाँ मुझे घसीट कर ले जाते हैं । इसलिए हे देव ! मैं आपसे यह याचना करता हूँ कि जब कर्म मुझे पराची स्त्री और पराये धन आदि की ओर ले जावें तब मैं आपको भूल न जाऊँ । आपकी दृष्टि मुझ पर उसी प्रकार बनी रहे जिस प्रकार मगर या कछुई की दृष्टि अपने अंडों पर उन्हें पालने के लिए बनी रहती है ।

गांधीजी ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि मेरी माता जैनधर्मी सन्त की भक्त थी। विलायत जाते समय मेरी माता

मुझे उन संत के पास ले गई । वहाँ उसने कहा-मेरा यह लड़का दारू, मांस और परस्त्री का त्याग करे तब तो मैं इसे विलायत जाने दे सकती हूँ, अन्यथा नहीं जाने दूँगी। गांधी जी माता की आज्ञा को पर्वत से भी उच्च मानते थे । इसलिए उन्होंने महात्मा के सामने मदिरा, मांस और परस्त्री का त्याग किया।

गांधीजी लिखते हैं कि उस त्याग के प्रभाव से वे कई वार भ्रष्ट होने से बचे। एक वार जब वे जहाज से सफर कर रहे थे, अपनी इस प्रतिज्ञा के कारण ही बच सके । गांधीजी जहाज से उतरे थे, कि उन्हें उनके एक मित्र मिल गए। उन मित्र ने दो-एक स्त्रियाँ रख छोड़ी थीं, जिन्हें जहाज से उतरने वाले लोगों के पास भेजकर उन्हें भ्रष्ट कराते और इस प्रकार अपनी आजीविका चलाते थे । उन मित्र ने पैसे कमाने के उद्देश्य से तो नहीं पर मेरा आतिथ्य करने के लिए एक स्त्री को मेरे यहाँ भी भेजा। वह स्त्री मेरे कमरे में आकर खड़ी रही । मैं उस समय ऐसा पागल-सा हो गया, मानों मुझे बचाने के साक्षात् परत्मामा आ गये हों। वह कुछ देर खड़ी रही और फिर निराश होकर लौट गई। उसने मेरे मित्र को उलहना भी दिया कि तुमने मुझे किस पागल के पास भेज दिया ! उस बाई के चले जाने पर जब मेरा पागलपन दूर हुआ तब मैं बहुत प्रसन्न हुआ और परत्मामा को धन्यवाद देने लगा कि—प्रभो ! तुम धन्य हो । तुम्हारी कृपा से

मैं बच गया।

भक्त लोग कहते हैं—नाथ, तू इसी प्रकार मुझ पर दृष्टि रखकर मेरी रक्षा कर।

गांधीजी ने एक घटना और लिखी है। वे जिस घर में रहते थे उस घर की स्त्री का आचरण वेश्या सरीखा था। एक मित्र का उसके साथ अनुचित संबंध था। उन मित्र के आग्रह से मैं उस स्त्री के साथ ताश खेलने बैठा। खेलते खेलते नीयत बिगड़ने लगी। पर उन मित्र के मन में आया कि मैं तो भ्रष्ट हूँ ही इन्हे क्यों भ्रष्ट होने दूँ! इन्होंने अपनी माता के सामने जो प्रतिज्ञा की है वह भंग हो जायगी। आखिर उन्होंने गांधीजी को वहाँ से उठा लिया। उस समय मुझे बुरा तो अवश्य लगा लेकिन विचार करने पर बाद में बहुत आनन्द हुआ।

मित्रो! अपने त्याग की दृढता के कारण ही गांधीजी दुष्कर्मों से बचे रहे और इसी कारण आज सारे संसार में उनकी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा है। उन्होंने गुरु से त्याग की बानगी ही ली थी। उसका यह फल निकला तो पूरे त्याग का कितना फल न होगा? आप, पूरा त्याग कर सकें तो कीजिए। न कर सकें तो त्याग की बानगी ही लीजिए। और फिर देखिए कि जीवन कितना पवित्र और आनन्दमय बनता है!

गांधीजी लिखते हैं कि मुझ पर आये हुए संकट टल

जाने से मुझे मालूम हुआ कि परमात्मा की सत्ता अवश्य है। अगर आप लोग भी शांतिनाथ भगवान् को याद रक्खें तो आपको भी परमात्मा के साक्षात् दर्शन होंगे।

भाइयो और बहिनो ! कुकर्म ज़हर से बढ़कर हैं। जब इनकी ओर आपका चित्त खिचने लगे तब आप भगवान् शांतिनाथ का स्मरण किया करो। ऐसा करने से आपका चित्त स्वस्थ होगा, विकार हट जाएगा और पवित्र भावना उत्पन्न होगी। आप कुकर्म से बच सकेंगे और आपका जीवन पवित्र रहेगा। भगवान् शांतिनाथ का नाम पापों से बचने का महामंत्र है।

शांतिनाथ भगवान् ने केवल ज्ञान प्राप्त करके पच्चीस हजार वर्ष तक सब जीवों को शांति प्रदान की। आप भी अपनी योग्यता के अनुसार दूसरों को शांति पहुँचाएँ। कोई काम ऐसा मत कीजिए जिससे किसी को अशांति पहुँचाती हो। आपका ज्ञान, ध्यान, पठन-पाठन आदि सब ऐसे होने चाहिए जो शांतिनाथ को पसंद हो। अगर आप शांतिनाथ भगवान् को हृदय में धारण करके प्राणीमात्र को शांति पहुँचाएँगे तो आपको भी लोकोत्तर शांति प्राप्त होगी।

२

मंगल-पर्व ।

—— ::():: ——

पर्युषण पर्व जैनों के लिए महाकल्याण का पवित्र पर्व है। आत्मा के असली स्वरूप को समझने के लिए, आत्मा में आई हुई विकृतियों को और उनके कारणों को हटाने के लिए और स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने के लिए पर्युषण से बढ़कर दूसरा अवसर कौन हो सकता है ? पर्युषण के दिनों में दुष्कर्मों की आहुति दी जाती है और अंतिम दिन-संवत्सरी का दिन पूर्णाहुति का दिन है। अपने पापों को ध्यान में लेकर, ध्यानाग्नि के द्वारा पापों को जलाना ही पर्युषण पर्व का महान् संदेश है। जैनधर्म की आराधना का यह पवित्र दिन इतनी प्रभावशाली भावनाओं में व्यतीत होना चाहिए कि उन भावनाओं का असर जीवनव्यापी बन जाय कम से कम एक वर्ष तक तो उन भावनाओं का प्रभाव आत्मा पर रहना ही चाहिए।

संवत्सरी का दिन आयुबंध का सर्वश्रेष्ठ अवसर है।

अगर आज नवीन आयु का बंध हो जाय तो आत्मा निहाल हो जायगा। मित्रो! आज प्राणी मात्र के प्रति मित्रभावना कायम करो और हृदय मे किसी भी प्रकार का विकार मत रहने दो। जीवनमात्र के प्रति प्रेम के ऐसे प्रबल संस्कार बाँधो कि वे टूट न सकें। अगर आपके इस संस्कार मे सचाई स्वाभाविकता और दृढ़ता हुई तो आपके जीवन में परिवर्त्तन हुए बिना नहीं रहेगा और आप प्राणीमात्र के मित्र होंगे तथा प्राणीमात्र आपके मित्र होंगे। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर आप अपूर्व समता, निराकुलता और तृप्ति का अनुभव करने लगेंगे।

यह पवित्र दिन पुराने पापों को धोने और नये पाप न करने के दृढ़ संकल्प का दिन है। नये पाप न करने के संकल्प का अर्थ यह मत समझिये कि मै सब को साधु बन जाने के लिए कह रहा हूँ। मेरा आशय यह है कि लोभ के कारण सांसारिक कामों मे भी धर्म संबंधी जो त्रुटियाँ रहती हों, उन्हें दूर करने का संकल्प कीजिए और भविष्य मे वह त्रुटियाँ मत रहने दीजिए। अपवित्रता को दूर करके आत्मा को पवित्रता के सरोवर में स्नान कराइए। बहुत-से लोगों की धारणा है कि धर्मोपदेश सुन लेने से ही आत्मा पवित्र हो जाएगा। पर इस भ्रम को आज दूर कर देना चाहिए। धर्मोपदेश के श्रवण का फल यह है कि आपके अन्तःकरण मे तत्त्व का ज्ञान जागृत हो। उस तत्त्वज्ञान के प्रकाश मे आप हिताहित का

निर्णय करे और अहित के मार्ग को त्याग कर हित के मार्ग पर चले। बिना क्रिया के श्रवण या ज्ञान पूर्ण लाभप्रद हो सकता। आप धर्म का जो उपदेश सुनते हैं सो सिर्फ सुनने के लिए ही न सुने वल्कि उसे यथाशक्ति अमल में लावे। धर्म मुख्य रूप से आचरण करने की वस्तु है। अतएव आप जो धर्मोपदेश सुनते है, उसका आचरण कीजिए।

अन्तगडसूत्र मे जो आदर्श वतलाये गये हैं, उनका पालन वीर क्षत्रिय ही कर सकते हैं। आप लोग भी क्षत्रिय ही हैं, मगर वनिया वन रहे है। आपको वनिया नही वनाया गया था, महाजन बनाया गया था। परन्तु आज आपकी वीरता और धीरता कहाँ गई ? आज आपको जव वनिया कहा जाता है तव भी आपका क्षत्रियत्व जोश नहीं खाता ? पूर्वकालीन वीरता जागृत करने के लिए आपको अन्तगडसूत्र सुनाया गया है। जिनकी कथा आपने सुनी है और मैने सुनाई है, उन्होने प्रवल पुरुपार्थ करके अपनी सम्पूर्ण अशुद्धता हटा दी और अनन्त मंगल प्राप्त किया। अभी आपके और हमारे कर्मो का नाश होना शेष है। हमें अपनी तमाम आत्मिक विकृतियों को दूर करना है। इस महान् उद्देश्य को सफल करने के लिए हमें आदर्श महापुरुषों के पथ का अनुसरण करना चाहिए। उस पथ को समझने के लिए ही कथाओं का कथन और श्रवण किया जाता है।

अन्तगडसूत्र में, अन्त मे दस महारानियों की जो कथा

है, वह अत्यन्त गभीर है और जैनधर्म की कथाओं पर शिखर के समान है। यह दसों महारानियां वैभव और भोगों में डूबी हुई थीं। संसार के सर्वश्रेष्ठ भोग उन्हे सुलभ थे। कभी किसी वस्तु का अभाव उन्होंने जाना ही नही था। लेकिन भगवान् महावीर के प्रताप से उन्होंने समस्त भोगों का परित्याग कर दिया। वे साध्वियाँ हो गई और आध्यात्मिक साधना मे लीन रहने लगीं। भिक्षा द्वारा अपना शरीर निर्वाह करने लगीं। इनमें से भी कृष्णा महारानी के चरित का स्मरण करके तो रोमांच हो आता है। कहाँ राजसी वैभव और कहाँ दुष्कर तप! कहाँ उनकी फूल-सी कोमल काया और कहाँ पद-पद पर परिषहों का सहन करना! कैसी अनोखी उत्क्रांति का संदेश है!

मै धर्मशास्त्र सुना रहा हूँ इतिहास नही सुना रहा हूँ। जिसके हृदय में भक्ति है वह तो धर्मशास्त्र की कथा को ऊँची समझेगा ही, परन्तु लोकदृष्टि से देखने वाला भी इतना अवश्य कहेगा कि राजरानी साध्वी बने-स्वेच्छा से भिक्षुणी के जीवन को अंगीकार करे, यह कल्पना ही कितनी उच्च है! जिस मस्तिष्क ने यह कल्पना की है वह क्या असाधारण नहीं होगा?

जैनधर्म और बौद्धधर्म की कथाओं से विदित होता है कि भारतवर्ष में अनेक राजरानियाँ साध्वी बनी हैं। महाराजा अशोक की बहिन भी भिक्षुणीसंघ में प्रविष्ट हुई थी। सुना

जाता है कि उसके नाम का पीपल आज भी सीलोन में विद्यमान है। ऐसी साध्वियाँ जब संसार मे घूम—घूम कर जनता को जागृत करती होंगी, तब भारत में और भारत के प्रति दूसरे देशों में किस प्रकार की भावना उत्पन्न होती होगी, यह कौन कह सकता है! सचमुच भारतीय इतिहास का वह स्वर्णकाल अनूठा था! एक राजरानी स्वेच्छा पूर्वक वैभव को लात मार कर भिक्षुणी बनती और घर-घर फिरती है! जीवन के किसी अभाव ने उसे भिक्षुणी बनने को बाध्य नहीं किया था। किसी अपूर्व अन्तःप्रेरणा—से प्रेरित होकर ही उन्होंने ऐसा किया था। और ऐसा करके वे क्या दुःखी थीं? नहीं। भोगों मे अतृप्ति थी, त्याग में तृप्ति थी। भोगों में असंतोष, ईर्षा और कलह के कीटाणु छिपे थे..त्याग में संतोष की शांति थी, निराकुलता का अद्भुत आनन्द था, आत्म-रमण की स्पृहणीयता थी। इसी सुख का अनुभव करती हुई वह भिक्षुणियाँ अपने जीवन को दिव्य मानती थीं। उनका त्याग महान् था।

आप कितने भाग्यशाली हैं कि यह महान् आदर्श आपके सामने उपस्थित है। आप पूर्ण रूप से अगर इस आदर्श पर नहीं चल सकते तो भी उसी ओर कदम तो बढ़ा सकते हैं! कम से कम विपरीत दिशा मे तो न जाएँ! मगर आप इस ओर कितना लक्ष्य देते हैं? आपसे तो अभी तक बारीक वस्त्रों का भी मोह नहीं छूट सकता। इन वस्त्रों के लिए चाहे

किसी की चमड़ी जाती हो. पर आप पतले कपड़े नहीं छोड़ सकते। अगर आप इतना-सा भी त्याग नहीं कर सकते तो राजसी वैभव और राजसी भोगों का त्याग करने वाले संतों और ऐसी ही सतियों का चरित सुनकर क्या लाभ उठाएँगे? क्या आपको उन त्यागमूर्त्ति महासतियों का स्मरण भी आता है?

महासेन कृष्णा विदुसेन कृष्णा
राम कृष्णा शुद्धमेवजी ।
नित-नित वंदूं रे समणी,
त्रिकरण-शुद्ध त्रिकालजी,

कवि ने यह वंदना किस काली को की है? और आप यह वंदना किस काली को कर रहे हैं? भारत की इन महाशक्तियों को भगवान् ने किस भाव से शास्त्र में स्थान दिया है? आप इन सतियों को किस प्रकार वंदना कर सकते हैं? सांसारिक भोगों के प्रति हृदय में जब तक तिरस्कार की भावना उत्पन्न न हो जाय तब तक मनुष्य इन्हें वन्दना करने का सच्चा अधिकारी किस प्रकार हो सकता है? हम किसी के कहने से या भावावेश में आकर उन सतियों के नाम पर चाहे मस्तक झुका लें, किन्तु वास्तव में उन्हें वन्दना करने योग्य तभी समझे जाएँगे, जब उनके त्याग को पहिचानेंगे। उनके त्याग को पहचान कर वंदना करने पर आपके पाप जलकर भस्म हो जाएँगे।

सेठानियाँ, सेठानियों को तो बहिन बनाती हैं, मगर किसी दिन किसी गरीबिनी को भी बहिन बनाया है ?

काली और सुकाली के हृदय मे अपना कल्याण करने की भावना उत्पन्न हुई। तब वे कहने लगीं—'यह राजमहल आत्मा के लिए कारागार है और यह बहुमूल आभरण हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ हैं। इनके सेवन से आत्मा अशक्त बनता है, गुलाम बनता है। ऊपरी सजावट के फेर में पड़कर हम आन्तरिक सौन्दर्य को भूल जाते हैं। स्वाभाविकता की ओर अर्थात् आत्मा के असली स्वरूप की ओर हमारी दृष्टि ही नहीं पहुँच पाती। संसार के भोगोपभोग और सुख के साधन असलियत को भुलाने वाले है। यह इतने सारहीन हैं कि अनादि काल से अब तक भोगने पर भी आत्मा इनसे तृप्त नही हो पाया। अनन्त काल तक भोगने पर भी भविष्य में तृप्ति होने की संभावना नहीं है। अलबत्ता, इन्हें भोगने के दड-स्वरूप नरक और तिर्यंच गतियों के घोर कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इन भोगविलासो के चक्कर में पड़ने वाला स्वार्थी बन जाता है। वह अपनी ही सुख-सुविधा का विचार करता है और अपने दीन-दुखी पड़ौसी की तरफ नजर भी नहीं डालता।'

रानियाँ कहती है—'जिन गरीबों की बदौलत हम राज-रानी कहलाती हैं, उन्ही गरीबों को हमने भुला रक्खा है! यही नहीं, वरन् एक प्रकार से उनके प्रति वैर-विरोध कर रक्खा है। राजमहल मे रह कर हम उन बहिनों से नहीं मिल

सकती, जिन्होंने हमें महारानी बनाया है। इन चकाचौंध करने वाले गहनों और कपड़ों के कारण वे हमारे पास नहीं आ सकतीं—नज़दीक आते डरती हैं।'

अगर कोई स्त्री फटे-पुराने कपड़े पहनकर किसी महारानी से मिलने जाना चाहे तो क्या पहरेदार उसे भीतर घुसने देंगे ? नहीं। अगर धक्के मार कर न भगा देंगे तो डांट-फटकार बताये बिना भी नहीं रहेंगे। मगर रानी से पूछा जाय कि तुमने जो वस्त्र और आभूषण धारण किये हैं सो वे आये कहाँ से हैं ? वे गरीबों के पसीने से ही बने हैं या राजा की तिजोरी में उगे हैं ? रानी इस प्रश्न का क्या उत्तर देगी ?

यह बात सिर्फ रानी-महारानी को ही लागू नहीं होती। बढ़िया और कीमती गहने-कपड़े पहनने वाला, फिर वह कोई भी क्यों न हो, बढ़िया गहनों-कपड़ों वालों को ही चाहता है। उसे बिना जेवर का गरीब प्यारा नहीं लगता। यही विकार है। बढ़िया वस्त्रों में और आभूषणों में अगर विकार न हो तो भगवान् महावीर को शायद ही सादा वेष चलाने की आवश्यकता पड़ती। जिसकी मैत्री भावना विकसित हो गई है, उसी के हृदय में इस प्रकार की सद्भावनाएँ जागृत होती हैं और वही वस्त्र-आभूषण का त्याग करता है।

महारानी काली के हृदय में मित्रभावना विकसित हुई। अतएव उन्होंने विचार किया—मुझे अपनी सब बहिनों से समान रूप से मिलना चाहिए। मेरे और उनके बीच में जो

बड़ी दीवाल खड़ी है, उसे मैं गिरा दूँगी । मैं सारे भारत को जगाना चाहती हूँ और भेदभाव की काल्पनिक दीवालों को धूल मे मिला देना चाहती हूँ । यह विचार कर महारानी काली ने उत्तम वस्त्र उतार कर सादे वस्त्र धारण किये, इन्द्रानी सरीखा मनोहर शृंगार हटा दिया और जिस केशराशि को बड़े चाव से सजाया करती थी और सुगंधित तेल-फुलेल से नहलाया करती थीं, उसी केशराशि को नोंच कर फेंक दिया। उन्होंने स्वदेश की बनी सादी खादी से अपना शरीर सजा लिया। महारानी काली ने साध्वी होकर सफेद वस्त्र धारण किये।

आज अगर कोई विधवा बाई भी सफेद वस्त्र धारण कर लेती है तो हो-हल्ला मच जाता है। काली रानी का वह तेज आज बहिनों मे नहीं रहा । न जाने कब और कैसे गायब हो गया है ?

आखिर काली रानी ने संसार त्याग दिया। संसार त्याग कर उन्होने जो अवस्था अपनाई, वह वर्णनातीत है। महा-कृष्ण काली नामक सती ने आंबिल तपस्या करना आरंभ किया। चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिनों तक आंबिल तप करके उन्होने अपनी कोमल और कान्त काया को भुलसा डाला। एक उपवास और उसके बाद आंबिल, फिर उपवास और दूसरे दिन फिर आंबिल, इस प्रकार उनकी तपस्या निरन्तर जारी रही।

'आंबिल' प्राकृत भाषा का शब्द है। संस्कृत में इसे 'आचाम्ल' व्रत कहते हैं। इस व्रत का अनुष्ठान करने वाला सरस भोजन का त्याग करके नीरस और नमकहीन रूखा-सूखा भोजन करता है। पके हुए चावलों को पानी से धोकर उन्हे स्वादहीन बना कर दिन भर में एक बार खा लेना और फिर दूसरे दिन उपवास करना, यह महासती काली का तप था।

मित्रो ! आपके यहाँ ऐसी शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। फिर भी न मालूम क्यों आप में बल नही आता। आप मेरी दी हुई मात्रा का सेवन करो। चाहे यह कटुक हो पर इससे रोग का अवश्य ही विनाश होगा, इस मे संदेह नहीं।

काली महासती अपने समस्त स्वर्गोपम सुखों को तिलांजलि देकर यह घोर तपस्या किस उद्देश्य से कर रही थीं?

'कर्मक्षय करने के लिए !'

यह उत्तर है तो ठीक, परन्तु आप पूरी तरह नहीं कह सकते। इस कारण इतनी-सी बात कह कर समाप्त कर देते हैं। कर्म का अर्थ दुष्कर्म समझना चाहिए। काली महासती विचारती है—मैने उत्तम से उत्तम भोजन खाया और इसी कारण अनेक गरीबों को दुत्कारा, मुसीबत मे डाला और अधिक गरीब बनाया है। यही मेरा दुष्कर्म है। इसका बदला चुकाने मे लिए ही उन्होंने बढ़िया कपड़ों का और उत्तम भोजन का त्याग करके सादे कपड़े पहने और नीरस भोजन

किया।

काली महारानी सफल कियो अवतार।
पायो छे भव-जल पार ॥काली०॥
कोणिक राजा की छोटी माता,
श्रेणिक नृप नी नार।
वीर जिणन्द की वाणी सुन ने,
लीनो है संयम-भार ॥काली०॥
चन्दनबाला सती मिली है गुरानी।
नित २ नमी चरणार, विनय करी भणी
अग इग्यारा जारी निर्मल बुद्धि अपार ॥काली०॥१॥

महासती काली कहती है कि मैंने बढ़िया भोजन खाकर और बढ़िया कपड़े पहन कर बहुत लोगों के साथ परोक्ष रूप से विरोध किया है। जिन गरीबों की कृपा से उत्तम वस्त्र और भोजन की प्राप्ति होती थी, उन गरीबों को मैंने धक्के दिलवाये, और निकम्मे मसखरे लोग पड़े-पड़े माल खाते रहे। गरीबों के घोर परिश्रम के फलस्वरूप ही हमें दूध, घी, शक्कर और चावल आदि वस्तुएँ प्राप्त होती थीं, मगर जब उन्हीं गरीबों मे से कोई मुट्ठी भर आटे की आशा से मेरे पास आता था तो उसे आटे के बदले धक्के मिलते थे कि दूध, घी और चावल-शक्कर खाने वालों को नज़र न लग जाय!

मैं जब बच्चा था तब भोजन करते समय अगर भीलनी आजाती तो किवाड़ बन्द कर लिये जाते थे। इसका कारण

यह था कि भीलनी को डाकिनी समझा जाता था । तारीफ यह है कि अनाज उन्हीं के यहाँ से आता था । वही अनाज पैदा करते थे और उन्हीं के प्रति ऐसी दुर्भावना थी । यह दुर्भावना किसी एक घर या कुटुंब मे नहीं थी वरन् व्यापक रूप से घर-घर फैली हुई थी । आज सोचता हूँ—समाज का यह कितना जबर्दस्त अन्याय है ! कितनी भीषण कृतघ्नता है !

अमीर लोग गरीबों को दुत्कारते हैं और दूसरे अमीर के आने पर उसकी मनुहार करते हैं । अपने पाप का प्रायश्चित्त करते हुए एक महाराष्ट्रीय कवि ने कहा है—

उत्तम जन्मा येऊनी रामा ! गेलो मी वाया
दुष्ट　पातकी　शरण　मीं　आलो,
सत्वर　तव पाया ।
आर्जविले बहुलवण भजने ज्याह्या जेवाया
क्षुधित　अतिथि　कदी　नाही　घेतला,
उदार कर कधीं केला नाही प्रेमें जेवाया पैसा एक द्याया
नाम फुकटचे तेहि न आलें स्वामी वदनाया ॥उत्तम ॥१॥

कवि कहता है—मैं ने उत्तम जन्म व्यर्थ गॅवा दिया । मेरा नाम उत्तम है, जन्म उत्तम कुल मे हुआ हैं, परन्तु काम मैंने अधम किये । इस कारण मैं पातकी हूँ ।

मित्रो ! जिसे आत्मा और परमात्मा पर विश्वास होगा, वही अपना अपराध स्वीकार करेगा, उसके लिए पश्चात्ताप करेगा और उससे बचने की भावना लाएगा ।

कवि परमात्मा के सामने अपनी आलोचना करता हुआ कहता है—प्रभो ! मै आपकी शरण आया हूँ । मेरी रक्षा करो । मैं ने अपने सगे-संबंधियों को पाहुने बनाकर जिमाने की बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कीं । तरह-तरह के व्यंजन और मिष्टान्न तैयार करवाए । वे जीमने बैठे । जीमते-जीमते तृप्त हो गए और कहने लगे—बस, अब मत परोसिये । अब एक कौर भी नहीं निगल सकता । लेकिन बड़प्पन के मद मे छक कर मै नहीं माना । थोड़ा और खाने का आग्रह किया । न माने तो जबर्दस्ती करके थाल में भोजन डाल दिया । फिर मुँह में पकड़ कर खिलाया । उसी समय क्षुधा से पीड़ित व्यक्ति मेरे द्वार पर आया । भूख से उसकी आँखें निकल रही थीं, बिना मांस के हाड़ों का पींजरा सरीखा उसका शरीर दिखाई देता था । जिस समय सगे—संबंधी भोजन परोसने के लिए मना कर रहे थे और मै जबर्दस्ती उन्हें परोसने में लगा था, ठीक उसी समय वह भूखा द्वार पर आया । उसने कहा—मेरे प्राण अन्न के अभाव में भूख के मारे जा रहे है अगर थोड़ा भोजन हो तो दे दो ।' परन्तु हाय मेरी कठोरता! मैं ने टुकड़ा भी देने की भावना नहीं की और सगे-संबंधी के गले ठूंसने में ही व्यस्त रहा ।

मित्रो ! कवि ने अपने पाप का प्रदर्शन किया है और ऐसा करके उसने अपने पाप को हल्का कर लिया है, ऐसा समझ लेना उपयुक्त नहीं होगा । कवि जनता की भावनाओं का

प्रतिनिधि होता है। वह समाज की स्थिति का शाब्दिक चित्रण करता है। अतएव उसके कथन को समाज का चित्र समझना चाहिए। इस दृष्टि से मराठी कवि का उपर्युक्त कथन सारे समाज का चित्रण है—सम्पूर्ण समाज के पाप का दिग्दर्शन है। आप अपने ऊपर इस कथन को घटाइए। अगर आप पर वह घटित होता हो तो आप भी अपने दुष्कर्मों की आलोचना कीजिए और उनसे बचने का दृढ संकल्प कीजिए।

भूख के कारण जिसके प्राण निकल रहे हैं, उसे एक टुकड़ा मिल जाय तब भी उसके लिए बहुत है। मगर लोगों को उसकी ओर ध्यान देने की फुर्सत ही कहाँ? आजकल के लोगों में इतनी क्षुद्र, संकीर्ण और स्वार्थमय भावना घुसी हुई है, तिस पर भी धर्म के नाम पर इसी प्रकार का उपदेश मिल जाता है। बड़े खेद की बात है कि लोगों को यह धर्म सिखलाया जा रहा है कि—

> कोइ भेखधारी आवे द्वार जी,
> शर्मा शर्मी दीजे आहार जी।
> पछे कीजे पश्चात्ताप जी,
> तो थोडो लागे पाप जी॥

खेद! धर्म के नाम पर कैसा हलाहल विष पिलाया जा रहा है। अगर द्वार पर आये हुए को लोकलाज के कारण भोजन दिया तो घोर पाप लग जाएगा!! अलबत्ता, भोजन देकर अगर पश्चात्ताप कर लिया जाय तो पाप मे कुछ कमी

हो जाएगी ! स्वार्थपरता की हद हो गई ! धर्म के नाम पर यह जो शिक्षा दी गई है और दी जा रही है, उससे धर्म को कितना आघात पहुँच रहा है, यह समझने की चिन्ता किसे है ? इससे लोग धर्म के प्रति घृणा करने लगते हैं और कहते हैं कि धर्म अगर इतनी निर्दयता, कठोरता, स्वार्थपरायणता और अमानुषिकता की शिक्षा देता है, तो धर्म का ध्वंस हो जाना ही जगत् के लिए श्रेयस्कार है ! भाइयो, जरा उदारतापूर्वक विचार करो। धर्म के मौलिक तत्त्व को व्यापक दृष्टि से देखो। द्वेष से प्रेरित होकर हम यह नहीं कह रहे हैं, परन्तु धर्म के प्रति फैलती हुई घृणा का विचार करके और साथ ही लोगों में आई हुई अनुदारता का ख्याल करके, कह रहे हैं। यह धर्म नहीं है। धर्म के नाम पर अधर्म फैलेगा तो धर्म बदनाम होगा। अधर्म फैलाने वालों का भी हित नहीं होगा। अतएव निष्पक्ष दृष्टि से धर्म के स्वरूप पर विचार करो। धर्म ही पापों का नाश करने वाला है। अगर धर्म के ही नाम पर पाप किया जाएगा और उसी को धर्म समझ लिया जाएगा तो पापों का नाश किस प्रकार होगा ?

आपने अपने संबंधियों को अनेक बार भोजन कराया होगा, पर याद आता है कि किसी दिन किसी गरीब को स्नेही संबंधियों की तरह जिमाया हो ?

'नहीं !'

लेकिन पुण्य किधर होता है ? अपनी श्रीमंताई दिखाने

के लिए सगे को जबर्दस्ती खिलाने से पुण्य का बंध होता है या गरीब के प्राण बचाने के लिए उसे खिलाने से ?

'भूखे को खिलाने से !'

यह जानते और मानते हुए भी अपनी प्रवृत्ति बदलते क्यों नहीं ? फिर कहते हो कि हम पुण्य और पाप को जानते है ?

बात काली महारानी की चल रही है । उनके अन्तःकरण में यह भावना उत्पन्न हुई कि मै ने उत्तम-उत्तम भोजन किये परन्तु गरीबों को देना तो दूर रहा, उलटे उनकी नजर पड़ने से बचाव किया। अलबत्ता, मै ने अपनी सरीखी रानियों को बड़े प्रेम से जिमाया है, पर उससे क्या हुआ ? वह तो मोह था या लोकव्यवहार था, दया नहीं थी। हृदय मे दया होती तो भूखे को खिलाया होता ! मैने यह पाप किया है। मै इस पाप को सहन नहीं करूँगी। अब मै ऐसा भोजन करूँगी जिसे गरीब भी पसंद नहीं करते। ऐसा भोजन करके मै संसार को दिखला दूँगी कि इस पाप का प्रायश्चित्त ऐसे होता है !

मित्रो ! बढ़िया भोजन की अपेक्षा सादा भोजन करने से दया कितनी अधिक हो सकती है, इस बात पर विचार करो। आपके घर बाजरे की घाट बनी होगी और वह बच रहेगी तो किसी गरीब को देने की इच्छा हो जाएगी। अगर दाल का हलुआ बचा होगा तो शायद ही कोई देना चाहेगा ! उसे तो किसी संबंधी के घर भेजने की इच्छा होगी। इसलिए तो कहा है—

दया धर्म भावे तो कोई पुण्यवव पावे,
जाँने दया की बात सुहावेगी।
भारी कर्मा अनन्त संसारी,
जाँने दया दाय नहिं आवे जी॥

विचार करो कि पुण्यवान कौन है? मिष्टान्न-भोजन करने वाला और अपने भोजन के लिए अनेकों को कष्ट में डालने वाला पुण्यवान् है या सादा भोजन करके दूसरो पर दया करने वाला पुण्यवान् है? सुनते हैं भारतीयों की औसत आमदनी डेढ़ आना प्रतिदिन है। इसे देखते हुए अगर प्रत्येक आदमी डेढ़ आने में अपना निर्वाह करे तब तो सब को भोजन मिल सकता है, लेकिन आप कितने आने प्रतिदिन खर्च करते हैं? आपका काम तीन आने, छह आने या बारह आने में भी चल जाता है?

'नही।'

अगर कोई चलाना चाहे तो चल क्यों नहीं सकता? हाँ इतने व्यय में वह मौज-शौक नहीं होगी, जो अभी आप कर रहे है। जब प्रति मनुष्य डेढ़ आने की दैनिक आय है तो तीन आना खर्च करने वाला एक आदमी को, छह आना खर्च करने वाला तीन आदमी को और बारह आना खर्च करने वाला सात आदमियों को भूखा रखता है। इससे स्पष्ट है कि अमीर लोग ज्यों-ज्यों अधिक मौज करते हैं, त्यों-त्यों गरीब ज्यादा तादाद में भूखे मरते है। एक लम्बी-

चौड़ी दरी को समेट कर उस पर एक ही आदमी बैठ जाय और दूसरे को नहीं बैठने दे तो क्या उसका बड़प्पन समझा जायगा ? बड़प्पन तो औरों को बिठलाने में है ।

काली रानी कहती है—'मेरे गले में वह अन्न कैसे उतरा जिसके लिए अनेक मनुष्यों को कष्ट में पड़ना पड़ा ।

इस राजसत्ता ने कैसे-कैसे अनर्थ किये हैं ! जब मनुष्य स्वार्थ के वशीभूत हो जाता है उसे न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म कुछ नहीं सूझता । एक हार और हाथी के लिए एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का घमासान हो गया ! लड़ाई तो अपनी मौज के लिए करे और नाम प्रजा की रक्षा का हो !

महासती महासेन कृष्णा एक आंबिल एक उपवास, इस प्रकार क्रमशः आंबिल करती-करती सौ आंबिल तक चढ़ गई । चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिन में उन्होंने अपना शरीर सुखा डाला ।

काली महासती राजरानी थीं । साध्वी के वेश में जब वे लोगों के घर भिक्षा के लिए जाती होंगी, तब लोगो में त्याग के प्रति कितनी स्पृहा होती होगी ? लोग त्याग के प्रति कितनी आदरभावना अनुभव करते होंगे ? एक राजरानी राजसी वैभव को ठुकरा कर, भोगोपभोगों से मुँह मोड़कर, वस्त्रों और आभूषणों को छोड़कर जब साध्वी का वेष अंगीकार करती है, तो संसार को न मालूम कितना उच्च और महान आदर्श सिखलाती है !

एक भाई ने मेरे शरीर पर खादी देखकर कहा—'पूज्यजी के शरीर पर खादी!' उसे शायद यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि इतने धनिक समाज का आचार्य होकर मैं खादी क्यों पहनूं? मगर उस भोले भाई को पता नहीं कि खादी का कितना महत्त्व है? महावीरचरित्र के अंत में, उसके रचयिता हेमचन्द्राचार्य का जीवनचरित दिया गया है। उसमें लिखा है कि आचार्य हेमचन्द्र एक बार अजमेर से पुष्कर गये थे। वहाँ एक श्राविका ने अपने हाथ से सूत कात कर खादी बुनी थी। खादी तैयार हुई ही थी कि हेमचन्द्राचार्य गोचरी के लिए वहाँ पहुँचे। श्राविका ने बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ आचार्य से खादी लेने की प्रार्थना की। हेमचन्द्राचार्य गुजरात के प्रसिद्ध राजा कुमारपाल के गुरु थे। आपके विचार से हेमचन्द्राचार्य को खादी लेनी चाहिए थी? पर यह स्वांग तो आप लोगों को ही सूझता है उन्हें नहीं सूझता था।

हेमचन्द्राचार्य ने बड़े प्रेम से खादी का वस्त्र स्वीकार किया। उसे पहिन कर विहार करते-करते वे सिद्धपुर पाटन गये, जहाँ राजा कुमारपाल रहता था। राजा अपने साथियों के साथ उनका स्वागत करने आया। वन्दन-नमस्कार आदि करके कुमारपाल ने कहा—'गुरुदेव, कुमारपाल के गुरु के शरीर पर यह खादी शोभा नहीं देती।'

हेमचन्द्राचार्य-मेरे खादी पहनने से तुम्हें लज्जा मालूम होती है?

कुमारपाल-जी हाँ।

हेम०—यह खादी मेरे संयम को बढ़ाने वाली है। श्राविका बहिन ने बड़े प्रेम से मुझे भेंट की है। ऐसी स्थिति में तुम्हें लज्जित होने की क्या आवश्यकता है? लज्जा तो राजा को तब आनी चाहिए जब प्रजा भूखी मरती हो और राजा भोगविलास में डूबा रहता हो। उनकी दुरवस्था और अपने आमोद-प्रमोद को देखकर लज्जित होना चाहिए, खादी से शर्मिंदा क्यों होता है?

आचार्य हेमचन्द्र के इस कथन का राजा कुमारपाल पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने थोड़े ही दिनों में अपने राज्य में सुधार कर लिया। राजा के सुधारकार्य को देखकर आचार्य हेमचन्द्र ने उस श्राविका को धन्यवाद देकर कहा—यह उस बहिन के प्रेम का ही प्रताप है। उसके दिये कपड़े के निमित्त से जो सुधार हो गया वह मेरे उपदेश से भी होना कठिन था।

महारानी काली जब खादी के कपड़े पहनकर देश में घूमी होंगी तब लोगों में कितनी जागृति हुई होगी? जनता के हृदय में कैसी भावना का उदय हुआ होगा? अगर आप काली की पूजा करना चाहते हैं तो उनके त्याग को हृदय में स्थान दो। काली के महान् त्याग को हृदय में स्थान दोगे तो काली भी हृदय में आ जाएगी और हृदय भी पवित्र बन जाएगा!

महारानी काली को मानने वाली विधवा बहिन अपने शरीर पर गहने नहीं रक्खेगी। दीक्षा ले लेना दूसरी बात है।

अगर पूर्ण संयम अंगीकार करने की शक्ति हो तो अंगीकार कर लेना ही उचित है। परन्तु इतनी शक्ति न होने की हालत में अगर गहने त्याग दिये तो भी दुःख तो नहीं होगा। कदाचित् कहा जाय कि घर में नंगे हाथ अच्छे नहीं लगते; तो यही कहना पड़ेगा कि ऐसा कहने वाले की दृष्टि दूषित है। गहनों में सुन्दरता देखने वाला आत्मा के सद्गुणों के सौंदर्य को देखने मे अंधा हो जाता है। त्याग, संयम और सादगी में जो सुन्दरता है, पवित्रता है, सात्विकता है, वह भोगों मे कहाँ ? मै विधवा बहिनों को सम्मति देता हूँ कि वे घर वालों की ऐसी बातों की परवाह न करके गहनो को त्याग दे—अपने शरीर पर धारण न करें और सादगी के साथ रहे।

बहिनो ! तुम भी काली की तरह तपस्या करो। इस पर्दे ने तुम्हारे जीवन को तुच्छ बना दिया है। इसके बन्धन को दूर करके अपने कर्त्तव्य का विचार करो।

भाइयों से भी मै कहना चाहता हूँ कि अगर आप भगवान् महावीर की भक्ति करना चाहते हैं तो काली महासती की शरण लो। काली ने घोर तप करके सारे संसार को मार्ग दिखला दिया है कि सब के लिए तप का मार्ग खुला हुआ है। काली की तरह आप भी आयंबिल करे तो आपको गरीबों के भोजन का पता चले।

काली महासती ने मैत्रीभावना की साधना के लिए महान् त्याग किया था। मैत्रीभावना की महिमा अगम-अगोचर है।

जिसके अन्त करण मे इस भावना का विकास होता है, उसे अपूर्व शांति प्राप्त होती है। मैत्रीभावना से जो अपने हृदय को आर्द्र बना लेता है उसके लिए सारा संसार नन्दन वन बन जाता है। उस नन्दन वन मे फिर ऐसे-ऐसे मधुर फल लगते हैं कि उनका आस्वादन करने वाला ही उनके माधुर्य को समझ सकता है।

मैत्रीभावना के संबन्ध में आपने बहुत कुछ सुना होगा लेकिन उस पावन भावना को जागृत करने का तरीका कम लोगों को ही मालूम है। अतएव यह जान लेना आवश्यक है कि मैत्रीभावना का आरंभ कहाँ से करना चाहिए? चाहे मैत्रीभावना हो या कोई दूसरी शिक्षा हो, उसका आरंभ घर से ही करना उचित है। फिर क्रमशः उसे व्यापक बनाने की चेष्टा करना चाहिए।

घर में माता का स्थान अनोखा होता है। माता ने पुत्र को जन्म दिया है। माता से ही पुत्र को शरीर मिला है। संतान पर माता और पिता का असीम ऋण है। उनके ऋण को चुकाना कठिन है। ठाणांगसूत्र में वर्णन आता है कि गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—भगवन्, अगर पुत्र माता-पिता को नहलावे, वस्त्राभूषण पहनावे, भोजन आदि का सब प्रकार का सुख देवे और उन्हे कन्धे पर उठाकर फिरे, तो क्या वह अपने माता-पिता के ऋण से उऋण हो सकता है? भगवान् ने उत्तर दिया—

नायमट्ठे समट्ठे ।

अर्थात्—ऐसा होना संभव नहीं है। इतना करके भी पुत्र माता-पिता से उऋण नहीं हो सकता।

इसका आशय यह है कि वास्तव में माता-पिता के उपकार का बदला इतने से नहीं चुक सकता। कल्पना कीजिए, किसी आदमी पर करोड़ रुपयों का ऋण है। ऋण माँगने वाला ऋणी के घर गया। ऋणी ने उसका आदर-सत्कार किया और हाथ जोड़कर कहा—'मैं आपका ऋणी हूँ और ऋण को अवश्य चुकाऊँगा।' अब आप कहिए कि आदर-सत्कार करने और हाथ जोड़ने से ही क्या ऋणी ऋणरहित हो सकता है?

'नहीं!'

एक राजा ने बाग तैयार कराया और किसी माली को सौंप दिया। माली ने बाग में से दस-बीस फल लाकर राजा को दे दिये, तो क्या वह राजा के ऋण से मुक्त हो गया?

'नहीं!'

मित्रो! इस शरीर रूपी बगीचे को माता-पिता ने बनाया है। उनके बनाये शरीर से ही उनकी सेवा की तो क्या विशेषता हो गई? यह शरीर तो उन्हीं का था। फिर शरीर से सेवा करके पुत्र उनके उपकार से मुक्त किस प्रकार हो सकता है?

एक माता ने अपने कलियुगी बेटे से कहा—मैंने तुझे जन्म

दिया है। पाल-पोसकर बड़ा किया है। जरा इस बात पर विचार तो कर बेटा !

बेटा नयी रोशनी का था। उसने कहा—फिजूल बड़बड़ मत कर। तू जन्म देने वाली है कौन ? मैं नहीं था तब तू रोती थी और बांझ कहलाती थी। मैंने जन्म लिया तब तेरे यहाँ बाजे बजे और मेरी बदौलत संसार में पूछ होने लगी। नहीं तो बांझ समझकर कोई तुम्हारा मुँह भी देखना पसंद नहीं करता था। फिर मेरे इस कोमल शरीर को तुमने अपना खिलौना बनाया। इससे अपना मनोरंजन किया—लाड़प्यार करके आनन्द उठाया। इस पर भी उपकार जतलाती हो !

माता ने कहा—मैं ने तुझे पेट में रक्खा सो ?

बेटा—तूने जान-बूझकर मुझे पेट में थोड़े ही रक्खा था ! तुम अपने सुख के लिए प्रयत्न करती थीं, बीच मे हम रह गये ! इसमें तुम्हारा उपकार ही क्या है ? फिर भी अगर उपकार जतलाती हो तो पेट मे रहने देने का किराया ले लो !

यह आज की सभ्यता है ! भारतीय संस्कृति आज पश्चिमी सभ्यता का शिकार बनी जा रही है और भारतीय जनता अपनी पूँजी को नष्ट कर रही है।

माता ने कहा—कोठरी की तरह तू मेरे पेट का भाड़ा देने को तैयार है, पर मैं ने तुझे अपना दूध भी तो पिलाया है !

बेटा—हम दूध न पीते तो तू मर जाती ! तेरे स्तन फटने लगते। अनेक बीमारियाँ हो जातीं। मैं ने दूध पीकर तुझे

जिंदा रक्खा है।

माता ने सोचा—यह बिगड़ैल बेटा यों नहीं मानेगा। तब उसने कहा—अच्छा चल, हम लोग गुरुजी से इसका फैसला करा लें। अगर गुरुजी कहेंगे कि पुत्र पर माता-पिता का उपकार नहीं है तो मैं अब से कुछ भी नहीं कहूँगी। मैं माता हूँ। मेरा उपकार मान या न मान, मैं तेरी सेवा से मुँह नहीं मोड़ सकूँगी।

माता की बात सुनकर लड़के ने सोचा—शास्त्र वेत्ता तो कहते ही हैं कि मनुष्य कर्म से जन्म लेता है और पुण्य से पलता है। इसके अतिरिक्त गुरुजी माता-पिता की सेवा करने को एकान्त पाप भी कहते हैं। फिर चलने में हर्ज ही क्या है?

यह सोच कर लड़के ने गुरुजी से फैसला करवाना स्वीकार किया। वह गुरुजी के पास चला गया। परन्तु माता के गुरु दूसरे ही थे। वे उन गुरु कहलाने वालों में नहीं थे जो माता-पिता की सेवा करना एकान्त पाप बतलाते हैं। दोनों माता-पुत्र गुरुजी के पास पहुँचे। वहाँ माता ने पूछा—'महाराज, शास्त्र में कहीं माता—पिता के उपकार का भी हिसाब बतलाया है या नहीं?' गुरु ने कहा-जिसमें माता-पिता के उपकार का वर्णन न हो वह शास्त्र ही नहीं। वेद में माता-पिता के संबंध में कहा—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव।

ठाणांगसूत्र में भी ऐसी ही बात कही गई है।

गुरु की बात सुनकर माँ ने पूछा-माता-पिता का उपकार पुत्र पर है या पुत्र का उपकार माता-पिता पर है ?

गुरु ने ठाणांगसूत्र निकाल कर बतलाया और कहा—बेटा अपने माता-पिता के ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता, चाहे वह कितनी ही सेवा करे।

गुरु की बात सुनकर पुत्र अपनी माता से कहने लगा—देख तो, शास्त्र में यही लिखा है न कि सेवा करके पुत्र, माता-पिता के उपकार से मुक्त नहीं होता। फिर सेवा करने से क्या लाभ है ?

पुत्र ने जो निष्कर्ष निकाला, उसे सुनकर गुरु बोले-मूर्ख, माता का उपकार अनन्त है और पुत्र की सेवा परिमित है। इस कारण वह उपकार से मुक्त नहीं हो सकता। पावनेदार जब कर्ज़दार के घर तकाजा करने जावे तब उसका सत्कार करना तो शिष्टाचार मात्र है। उस सत्कार से ऋण नहीं पट सकता। इसी प्रकार माता-पिता की सेवा करना शिष्टाचार है। इतना करने मात्र से पुत्र उनके उपकारों से मुक्त नहीं हो सकता। पर इससे यह मतलब नहीं निकलता कि माता-पिता की सेवा ही नहीं करनी चाहिए। अपने धर्म का विचार करके पुत्र को माता-पिता की सेवा करना ही चाहिए। माता-पिता ने अपने धर्म का विचार कर तेरा पालन-पोषण किया है। नहीं तो क्या ऐसे माता-पिता नहीं मिल सकते जो अपनी संतान के प्राण ले लेते है ?

गुरु की बात सुनकर माता को कुछ जोर बँधा। उसने कहा—अब सुन ले कि मेरा तुझ पर उपकार है या नहीं।" इसके बाद उसने गुरुजी से कहा—महाराज, यह मुझ से कहता है कि तू ने पेट में रक्खा है तो उसका भाड़ा ले ले। इस विषय में शास्त्र क्या कहता है?

प्रश्न सुनकर गुरुजी ने शास्त्र निकाल कर बतलाया। उसमें लिखा था कि गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर भगवान् ने उत्तर दिया कि इस शरीर में तीन अग माता के, तीन अग पिता के और शेष अग दोनों के है। मांस, रक्त और मस्तक माता के है, हाड़, मज्जा और रोम पिता के है, शेष भाग माता और पिता दोनों के सम्मिलित है।

माता ने कहा—बेटा! तेरे शरीर का रक्त और मास मेरा है। हमारी चीजे हमे दे दे और इतने दिन इनसे काम लेने का भाड़ा भी साथ ही चुकता कर दे।

यह सब सुन कर बेटे की आँखें खुली। उसे माता और पिता के उपकारों का खयाल आया तो उनके प्रति प्रबल भक्ति हुई। वह पश्चात्ताप करके कहने लगा—मै कुचाल चल रहा था। कुसंगति के प्रभाव से मेरी बुद्धि मलीन हो गई थी। इसके बाद वह गुरुजी के चरणों में गिर पड़ा। कहने लगा—माता-पिता का उपकार तो मै समझ गया पर उस उपकार को समझाने वाले का उपकार समझ सकना कठिन है। आपके अनुग्रह से मैं माता-पिता का उपकार समझ

सका हूँ।

शास्त्रों मे आचार्य और सेठ का भी उपकार बतलाया गया है। सेठ का अर्थ है-सहायता देने वाला। गिरी हुई अवस्था में जो सहायता करता है वह सेठ है और मनुष्य को उसका उपकार मानना चाहिए।

धर्माचार्य के उपकार के संबंध मे शास्त्र मे उल्लेख है कि गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से यह प्रश्न किया-प्रभो! यदि धर्माचार्य के ऊपर आई हुई आपत्ति दूर कर दी जाय, उन्हे वन्दना की जाय, उनकी भोजन आदि द्वारा सहायता की जाय, तो ऐसा करने वाला धर्माचार्य के ऋण से मुक्त हो जाता है या नही? तब भगवान् ने उत्तर दिया-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।

मित्रो! माता-पिता का संतान पर बड़ा ऋण है। इस ऋण को चुकाने के लिए धर्म के सहायक बनो। उन्होंने धर्म से तुम्हारी रक्षा की थी, इसलिए अपने धर्म का मूल्य समझकर धर्म के सहायक बनो।

कहने का आशय यह है कि अपनी मैत्रीभावना का विश्वव्यापी प्रसार करने के लिए सर्वप्रथम माता-पिता के प्रति यह भावना लाओ। माता-पिता के बाद भाई के प्रति मैत्रीभाव आता है। भाई से मैत्रीभाव रखने के लिए राम का इतिहास देखो, जिन्होंने अपने अधिकार का राजमुकुट अपने भाई को प्रसन्नतापूर्वक सौंप दिया। यही नहीं, उन्होंने

भाई के प्रभाव को अक्षुण्ण रखने के लिए वनवास स्वीकार किया और दशरथ को समझाया कि आप दुविधा मे न पड़ कर भरत को राज्य दे दीजिए। आपके लिए राम और भरत भिन्न-भिन्न नही होने चाहिए। जो कुछ क्लेश है वह मेरे तेरे के भेदभाव में ही है। मैं माता कैकेयी के हृदय में घुसे हुए भेदभाव को जड़ से उखाड़ना चाहता हूँ। जैसे दाहिनी और बांई आँख में भेद नहीं किया जाता, इसी प्रकार मुझ में और भरत में भी भेद नहीं होना चाहिए। भरत का राज्य करना मेरा राज्य करना है। भरत राजा होगे तो मैं राजा होऊंगा। और मैं राजा बनूँगा तो भरत राजा होंगे।

आज भाई-भाई मुकद्दमाबाज़ी में पड़कर हजारों-लाखों रुपया नष्ट कर डालते है। सुनते हैं, एक गोटी के मुकदमे में सत्तरह लाख रुपया पूरे हो गये है! ऐसे लोग मैत्री-भावना की आराधना किस प्रकार कर सकते हैं? जो अपने सगे बन्धु को वैरी समझता है वह विश्वबन्धुता का पाठ कैसे सीख सकता है?

भाई के बाद पुत्र, पुत्री आदि परिवार के साथ मैत्री-भावना स्थापित होती है। सारे परिवार पर समान स्नेह रखना पारिवारिक मैत्री भावना है। यह मेरा लड़का है, यह मेरे भाई का लड़का है, इस तरह का पक्षपात करना जघन्य मनोवृत्ति है। जिसकी भावना इतनी जघन्य और संकीर्ण होगी वह विश्वमैत्री के विशालतर प्रांगण में पैर नहीं

रख सकेगा।

परिवार के प्रति मैत्रीभावना साध लेने के पश्चात् समान-धर्मी के प्रति मित्रभावना स्थापित करना चाहिए। सब समानधर्मियों को अपना भाई समझो और उन्हें अपने से अभिन्न मानो और अपने को उनसे अभिन्न समझो। सहधर्मी की सहायता करके उसे अपना-सा बना लेने के बाद ही तुम दूसरों की सहायता कर सकोगे।

इस प्रकार क्रमशः अपनी भावना का विकास करते चलने से एक समय आपकी भावना प्राणी मात्र के प्रति आत्मीयता से परिपूर्ण बन जाएगी आपका 'अह' जो अभी सीमित दायरे मे गांठ की तरह सिमटा हुआ है, बिखर जाएगा और आपका व्यक्तित्व विराट रूप धारण कर लेगा। उस समय जगत् के सुख मे आप अपना सुख समझेंगे।

प्रश्न किया जा सकता है—अर्जुन* माली ने छह युवकों को मार डाला था, इस कारण वह बुरा माना जाता है और सुदर्शन सेठ की बड़ाई की जाती है। परन्तु अर्जुन माली के सामने जैसी परिस्थिति थी वैसी ही परिस्थिति अगर सुद-र्शन सेठ के सामने होती अर्थात् जैसे अर्जुन माली के सामने ही उसकी पत्नी के साथ बलात्कार किया गया था वैसी ही परि-स्थिति अगर सुदर्शन सेठ के सामने होती तो उस समय

* विशेष परिचय पाने के लिए किरणावली की प्रथम किरण का ८ वाँ व्याख्यान देखिए।

सुदर्शन का क्या कर्त्तव्य होता !

क्षमा तीन प्रकार की होती है—तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी। तमोगुणी क्षमा वाले वे लोग हैं जो अपनी स्त्री के साथ बलात्कार करते देख हृदय में क्रोध तो करते हैं, मगर भय के मारे सामना नहीं करते। यह तमोगुणी क्षमा प्रशस्त नहीं है, यह कायरता है, घृणित है और नपुंसकता है। अर्जुन माली का कार्य संसार का नाशक नहीं, अत्याचारी को दण्ड देना है और वह दूसरे अत्याचारियों के ऐसे दुस्साहस को रोकने के लिए किया गया था। हमारा उपदेश तो ऐसी क्षमा के लिए है जैसी क्षमा सुदर्शन सेठ ने अर्जुन माली के प्रति धारण की थी। वह सतोगुणी क्षमा थी। जिसमें क्रोध तनिक भी उत्पन्न नहीं होता और क्षमा कर दिया जाता है, वही सतोगुणी क्षमा है। धर्म, अत्याचार-अनाचार को न रोकने की शिक्षा नहीं देता। धर्म किसी को कायर नहीं बनाता। धर्म की ओट में कोई अत्याचार का प्रतीकार न करे या कायरता को छिपाने के लिए धर्म का बहाना करे, यह अलग बात है। मगर जिसने धर्म के तत्त्व को ठीक तरह समझ लिया होगा वह अपने ऐसे कृत्यों द्वारा धर्म को बदनाम नहीं करेगा।

बौद्ध ग्रंथों में एक कथा आई है। सोमदेव नामक एक ब्राह्मण की आध्यात्मिक भावना बालकपन से ही बढ़ी-चढ़ी थी। अतएव माता-पिता के मरते ही सोमदेव और उसकी

पत्नी ने संन्यास ले लिया। स्त्री सुन्दरी थी। दम्पती वन में रहकर तप किया करते थे। एक बार दोनों नगर में आये। नगर के राजा ने स्त्री को देखा तो उसके चित्त मे विकार पैदा हो गया। वह सोचने लगा—यह रमणीरत्न गलियों में क्यों पड़ा फिरना चाहिए? यह तो महल की शोभा बढ़ाने योग्य है। यह सोचकर उसने सोमदेव से कहा—यह स्त्री तेरे साथ शोभा नहीं देती।

सोमदत्त ने कहा—हाँ, शोभा नहीं देती।

राजा—तो इसे हम ले जाएँ?

सोमदत्त—मेरी नहीं है, भले कोई ले जाय।

राजा ने स्त्री से कहा—चलो, हमारे साथ चलो।

स्त्री ने सहज भाव से उत्तर दिया—चलिए, कहाँ चलना है?

आगे-आगे राजा चला और पीछे-पीछे स्त्री। महल में पहुँच कर स्त्री ध्यान लगाकर बैठ गई। उसने ऐसा ध्यान लगाया कि कई अनुकूल-प्रतिकूल सत्ताएँ हार गई, मगर उसका ध्यान न टूटा। राजा को अपना पागलपन मालूम हुआ। उसका अज्ञान हट गया। वह उस संन्यासिनी के पैरों में गिर कर क्षमा माँगने लगा।

स्त्री ने, मानो कुछ हुआ ही नहीं है ऐसे, सहज भाव से उत्तर दिया—किसने और क्या अपराध किया है, यह मुझे मालूम ही नहीं है। मै क्षमा क्या करूँ!

आखिर राजा संन्यासिनी को लेकर सोमदत्त के पास गया। सोमदत्त को उसकी स्त्री सौंपकर उसने कहा—मैंने आपकी अवज्ञा की है। मेरा यह अपराध है तो गुरुतर, फिर भी मैं आपसे क्षमा-याचना करता हूँ।

सोमदेव ने कहा—जब यह मेरी है ही नहीं, तब इसमें मेरी अवज्ञा क्या हुई?

इसे कहते हैं क्षमा! ऐसी क्षमा के द्वारा भी अन्याय-अत्याचार का नाश किया जाता है। अन्याय-अत्याचार के समूल नाश का यह सर्वश्रेष्ठ तरीका है। इस तरीके से अन्यायी और अत्याचारी के हृदय का परिवर्त्तन हो जाता है। परन्तु ऐसी सभावना प्राप्त करने के लिए साधना चाहिए।

सुदर्शन सेठ का सामना होते ही अर्जुन माली का यक्ष भाग खड़ा हुआ। अर्जुन माली स्वस्थ हो गया। उसने सुदर्शन सेठ को धन्यवाद दिया और कहा—मैं आपका भक्त हूँ, लेकिन आप जिसके भक्त है वह महापुरुष कैसे होंगे!

मित्रो! भगवान की परीक्षा कभी-कभी भक्त से होती है। भक्त ऐसा होना चाहिए जैसा सुदर्शन सेठ था। सुदर्शन सेठ उस समय बिलकुल महादेव की प्रतिमा बन गये थे। जो आत्मा को ही परमात्मा मानकर उसमें तन्मय हो जाता है, उसकी शक्ति अद्भुत, अपूर्व और अलौकिक हो जाती है।

यक्ष के आवेश से मुक्त होकर अर्जुन माली ने सुदर्शन से कहा—मैं आपके इष्ट देव का दर्शन करना चाहता हूँ।

ग्यारह सौ इकतालीस मनुष्यों की निर्मम हत्या करने वाले घोर हत्यारे को प्रेमपूर्वक गले लगाना और भगवान् के पास अपने साथ ले जाना क्या उचित था ? सुदर्शन सेठ की भावना उस समय कितनी उदार रही होगी ! उन्हे अर्जुन माली के पापो को धोना था। उसका सुधार करना अभीष्ट था। सुदर्शन को ज्ञात था कि भयानक से भयानक पापी की अन्तरात्मा मे भी मंगलमूर्ति छिपी हुई है। उसकी बाह्य प्रकृति के उपशान्त होने पर वह मंगलमूर्ती प्रकट हो जाती है।

जिनकी भावनाएँ बिगड़ी हुई है, उनमे उत्तम भावना उत्पन्न कर दो तो धर्म की कितनी सेवा होगी ? आज नीच कहलाने वाले लोगों में धर्म की बड़ी आवश्यकता है। उनमें धर्म की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न करो। उनकी सेवा करो। उन्हें सद्भावना के बंधन मे बाँधो और अच्छी राह पर लाओ। वे भी ईश्वर की मूर्ति है। उनके मैले-कुचैले तन मे और मलीन मन के भीतरी भाग में ईश्वरत्व छिपा हुआ है। उसकी पहिचान उन्हे करा दो।

अर्जुन माली को साथ लेकर सुदर्शन सेठ भगवान् के पास पहुँचे। अर्जुन माली पर भगवान् के उपदेश का प्रभाव पड़ा और उसका अज्ञान दूर हो गया। अर्जुन माली ने मुनिव्रत अंगीकार किये। उसने सुदर्शन से कहा—'मै आपका आभारी हूँ। आपकी कृपा से ही यहाँ तक पहुँच सका हूँ।' उत्तर में सेठ बोले—ऐसा मत कहिए। आप बड़े है। मै कई

बार भगवान् के दर्शन कर चुका हूँ पर संसार का त्याग नही कर सका और आपने एक बार मे ही संसार त्याग दिया।

अर्जुन ने कहा—मुझ जैसे क्रूर हिंसक पर आपने बड़ी कृपा की है। मै तो यही नही सोच पाता कि जब मुझ सरीखे अधम को आपने ही सुधार दिया तो जिसे आप नमन करते हैं वह भगवान् कैसे-कैसे पापियों को न तारते होंगे!

साधु अर्जुन माली ने बेले-बेले का पारणा करके छह महीने मे ही अपने पापों को भस्म कर डाला। उन्होंने अनेक कष्ट सहन किये और गहरे समभाव की साधना की। जब वह भिक्षा के लिए नगर मे जाते तो लोग उन्हें तरह-तरह से सताते थे और कहते थे-हमारे अमुक संबंधी को मारने वाला यह हत्यारा अब साधु बनने का ढोंग कर रहा है! लोगों के मारने पर भी अर्जुन मुनि मुस्किराते रहते। कभी-कभी कहते-आप लोग सचमुच बड़े दयालु हैं। मैंने आपके संबंधी की हत्या की थी पर आप मार-पीट कर ही मुझे छोड़ देते हैं। अर्जुन मुनि का ऐसा अद्भुत समभाव देखकर मारने वाले भी कॉप उठे कि मारपीट से जब इसे दुःख ही नहीं होता तो मारपीट करने से लाभ ही क्या है? ऐसा करके हम उलटे पाप में पड़ते हैं। इस प्रकार के विचार करके कई लोग प्रभावित हुए।

अर्जुन माली की कथा आपने कई बार सुनी होगी। पर जरा विचार करो कि यह कथा अपनी है या अर्जुन माली

की ? हम उस समय नहीं थे जब यह घटना घटी। हम आज हैं और आज हमारे सामने यह कथा है। अगर हमने इस कथा को अपनी ही कथा समझ ली तब तो इसे सुनकर हम अपना कल्याण कर सकते हैं, अन्यथा कथा सुनना और न सुनना बराबर है। मैं इस कथा को आध्यात्मिक रूप में घटा कर आपको बताना चाहता हूँ कि राजगृही नगरी क्या है, छैल, अर्जुन माली, उसकी स्त्री बन्धुमती, यक्ष, सुदर्शन सेठ और भगवान् महावीर कौन हैं ? और यह कथा कैसे बनी ?

मित्रो ! जहाँ जन्म हुआ है वही राजगृही है। किसी पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से यह शरीर-क्षेत्र मिला है। मन बहुत समय से अर्जुन माली है। मन रूपी अर्जुन की माया रूपी भार्या है। यह भार्या अर्जुन की तो बन कर रही मगर निष्ठा अर्जुन पर नहीं रही। जहाँ स्वार्थ का लालच देकर किसी ने दबाया, उसी ओर यह जाने लगी। इस माया रूपी स्त्री ने अपने नखरे दिखा-दिखाकर आत्मा को फँसा रक्खा है। आत्मा ने मिथ्या देव रूपी यक्ष का इष्ट पकड़ा था, जिससे वह समय पर मेरी सहायता करे। इस शरीर में काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि छह शत्रु हैं। इन छैलों को बल-वीर्य रूपी अधिकार मिला। यह स्वच्छन्द क्रीड़ा करने लगे और जो-जो अनर्थ किये उनका वर्णन नहीं हो सकता। इन छह शत्रुओं की बदौलत आत्मा को कष्ट पाते-पाते अनन्त काल हो गया है। यह छह शत्रु जब-जब मस्ती पर आये तब तब माया

इनके पास गई, फिर भी यह शान्त नहीं हुए। मैंने छहों शत्रुओं को मारने की तैयारी की। मैं ने यह तो समझ लिया था कि इन्हें मारना उचित है, पर मिथ्या देव की संगति के कारण यह नहीं समझ सका कि इन्हें किस प्रकार मारना चाहिए? अतएव मैं ने कई बार जलसमाधि लेकर कई बार दूसरी तरह से बालमरण से मर कर यह दिखाया कि मैं इन्हें मारता हूँ, पर वास्तव में ऐसा करके मैं स्वयं ही मरा, शत्रु नहीं मरे। जैसे अर्जुन यह समझता था कि मैं इन छह शत्रुओं को मारता हूं, मगर उसे अपनी स्थिति का भान नहीं रहा, इसी प्रकार मैं भी समझता रहा कि मैं इन छह विकार-शत्रुओं को मार रहा हूँ, मगर इस तरह मारने का परिणाम क्या होगा, यह मुझे मालूम ही नहीं था। परिणाम यह हुआ कि शत्रुओं को मारने के पागलपन में मैं ने न जाने कितनों पर अन्याय किया। मुझमें अज्ञान बना ही रहा। इतने में सौभाग्य से विवेक रूपी सुदर्शन सेठ की संगति मिल गई। उसने सच्चे-झूठे देव का भान कराया, सुकृत्य-कुकृत्य का भेद समझाया, और सुगुरु-कुगुरु की पहिचान कराई। विवेक रूपी सुदर्शन ने मन रूपी अर्जुन माली के सामने ध्यान किया अर्थात् आत्मा को एकाग्र बनाया। विवेक की शक्ति के प्रताप से मन में विचार आया कि यह तो ईश्वर का दर्शन है! इस प्रकार विवेक-देव के दर्शन होते ही मिथ्यात्व—कुदेवमोह रूपी यक्ष भाग गया। उसके भागते ही आत्मा ने विवेक का हाथ पकड़

लिया और कहा-मैं तेरी शरण मे हूँ। अब तुझे नहीं छोड़ूँगा।

आय गयो आय गयो आय गयो रे,
मेरे नाथन को नाथ यहाँ आय गयो रे,
वह तो आके मुझे है जगाय गयो रे,
मेरे नाथन को नाथ यहाँ आय गयो रे,

विवेक को पाते ही आत्मा भगवान् महावीर के समीप आ गया।

जो तू प्रभु प्रभु सो तू है, द्वैत कल्पना मेटो,
शुध चैतन्य आनन्द विनयचद, परमारथ पद भेंटो।

आत्मा और परमात्मा एक है, दो नही। विवेक का हाथ पकड़ लेने से आत्मा की परमात्मा से भेंट होती है और फिर आत्मा स्वय परमात्मा के रूप मे प्रकट हो जाता है।

पत्थर की पुतली, कपड़े की पुतली और शक्कर की पुतली, यह तीनों स्नान करने गईं। पत्थर की पुतली पानी में डूब कर के भी वैसी ही वनी रही। कपड़े की पुतली पानी में भीगी तो सही पर धूप लगने पर फिर ज्यों की त्यों हो गई। शक्कर की पुतली पानी मे डूबकर उसी मे रह गई। इन तीन में से आप कैसे बनना चाहते है? अर्जुन माली परमात्मा के दर्शन करने गया तो स्वय परमात्मा बन गया।

आत्मा और परमात्मा के एक होने की पहिचान यह है। अर्जुन माली को भगवान् महावीर मे मिल जाने के पश्चात् लोगों की थप्पड़े खाने की इच्छा हुई। वह थप्पड़ें मारने वालों के पास विशेष रूप से जाने लगा। यही आत्मा-परमात्मा के

एक होने का लक्षण है। जिन्हें आत्मा अब तक तुच्छ समझता था उन्हीं से प्रेम करने लगे तो समझ लेना चाहिए कि आत्मा और परमात्मा एक हो गया।

भगवान् महावीर से मिलकर अर्जुन माली ने अपना सारा हिसाब चुकता कर दिया। वह अपने ऊपर चढ़े हुए भारी ऋण से मुक्त हो गया। यह कथा सुनकर आप अपना खाता बराबर करेंगे या नहीं? जीभ से हाँ कह देना तो सभ्यता मात्र है, अन्तःकरण क्या कहता है, यह देखना चाहिए।

संवत्सरी के दिन वर्ष भर के पाप की आलोचना की जाती है। अन्तःकरण में जमा हुई गंदगी को हटा देने का यह पर्व है। संवत्सरी के पश्चात् हृदय निर्मल करके जीवन का नया पथ निर्मित होना चाहिए, जिस पर चल कर आत्मा अपने अक्षय कल्याण के परम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सके। भावना में पावनता लाने और हृदय को स्वच्छ बनाने के लिए क्षमायाचना की जाती है। यह एक परम पवित्र प्रणाली है। केवल ऊपरी रूप से इसका अनुसरण मत करो वरन् इसकी चेतना को जागृत रक्खो। उसे सजीव रूप में पालन करो। ऐसा करने से आपका जीवन ऊँची कक्षा में पहुँचेगा और धर्म की भी प्रभावना होगी। क्षमायाचना के लिए महाराज उदायी का दृष्टान्त सामने रक्खो।* महाराज

---

* विस्तृत कथा जानने के लिए देखिए—जवाहर किरणावली, किरण ६, बोल १७।

उदायी ने पराजित और बंधनबद्ध चण्डप्रद्योत का राज्य संवत्सरी संबंधी क्षमायाचना के उपलक्ष्य मे सहर्ष लौटा दिया था। इसे कहते हैं क्षमायाचना! किसी के अधिकार को दबा रक्खो और फिर उससे क्षमा मांगो तो यह क्षमा-याचना के महत्त्व को बढ़ाना नहीं, घटाना है।

मित्रो! न मालूम किस पुण्य के उदय से आपको ऐसा संस्कारपूरित वातावरण मिला है! इस वातावरण की पवित्रता को पहचानो और सांसारिक प्रलोभनों मे इतने अधिक मत फँस जाओ कि आत्मा की सुध ही न रहे। प्रत्येक कार्य को आरंभ करते समय उसे धर्म की तराज़ू पर तौल लो। धर्म इतना अनुदार नहीं है कि वह आपकी अनिवार्य आवश्यकताओं पर पाबंदी लगा दे। साथ ही इतना उदार भी नही है कि आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति की सराहना करे। धर्म का आश्रय लेकर आप कभी दुखी नहीं होंगे। इसलिए मैं कहता हूँ कि अपने जीवन को धर्म के सांचे में ढाल लो। इससे आप कल्याण के पात्र बनेंगे।

बीकानेर,
२६-८-३०

३

आत्मवत् सर्वभूतेषु ।

पर्युषणपर्व के दिनों में अन्तगड (अन्तकृत) सूत्र का व्याख्यान किया जाता है। जिस उद्देश्य से गणधरों ने इसकी रचना की है, उसी उद्देश्य से इसका व्याख्यान किया जाता है। जिन महापुरुषों ने अपने अनादि कालीन कर्मों का अन्त किया है, जो समस्त विघ्नों का नाश करके निर्विघ्न हो गये है, उन महापुरुषों के चरित का इस सूत्र मे वर्णन किया गया है, अतएव इस सूत्र को 'अन्तगड' कहते है। इसमें दस अध्याय है और यह आठवाँ अंग है इस कारण इसे 'दशांग' कहते है। इस प्रकार इस सूत्र का पूरा नाम 'अन्तकृत दशांग' है। पर्युषण पर्व का समय कल्याणकारी है, अतएव पर्युषण के आठ दिनों में यह समझाया जाता है। यों तो इसके सम्बन्ध में कई विचार है, परन्तु इसे आठ दिनों में पूर्ण कर देने की परम्परा प्रसिद्ध है और व्यवहार में भी आ रही है। बड़े-बड़े महापुरुष इस परम्परा का पालन करते आये हैं और यह

परम्परा कल्याणकर है, अतः मैं उनका अनुकरण कर रहा हूँ।

वास्तविक और गम्भीर दृष्टि से देखा जाय तो इस सूत्र के वर्णन करने का उद्देश्य बड़ा मार्मिक है। उसे पूरी तरह कह सकना वाणी की शक्ति से परे है।

संसार में पद बहुत हैं और वे एक-दूसरे से ऊँचे हैं। मगर अपनी आत्मा पर चढ़े हुए आवरणों को हटाकर आत्मा का स्वरूप पूर्ण रूप से शुद्ध बना लेने, विघ्नों को हटाने और आत्मा पर पूर्ण विजय प्राप्त करने से बढ़कर कोई पद नहीं है। आत्मा में अशुद्धता एवं विभाव परिणति उत्पन्न करने वाले कर्मों का अन्त करना मानव-जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। आपका और हमारा एक मात्र लक्ष्य यही है कि आत्मा को किसी प्रकार निर्विघ्न सुख की अवस्था में पहुँचा सकें। जब हमारा यही लक्ष्य है तो कर्मनाश के कार्य में मार्गदर्शक और कल्याण में सहायक बनने वाले जो महापुरुष हुए हैं, उनके पंथ को देखने से अपना कार्य सरल हो सकता है।

लक्ष्य तो सबका यही है कि आत्मा की अशुद्धता मिटाई जाय आत्मा का अपना विशुद्ध स्वरूप प्रकट किया जाय, मगर उपाय लोगों ने न्यारे-न्यारे बतलाए हैं। सांसारिक जीवन की विचित्र परिस्थितियों ने और काल की भिन्नता ने भी भिन्न-भिन्न उपायों की उत्पत्ति में भाग लिया है और

साथ ही दूसरे-दूसरे कारणों से भी आत्मशुद्धि के उपायों मे अन्तर पड़ गया है। यहाँ तक कि कई लोग तो कर्मबंध के उपायों को ही कर्मनाश का उपाय समझ लेते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि पहले सब शास्त्रों का पारायण करो तभी धर्म की प्राप्ति होगी। मगर ऐसा करना शक्य नहीं है। संसार के विभिन्न धर्मों के प्रतिपादक विपुल ग्रंथसंग्रह को पढ लेना सरल काम नहीं है और सर्वसाधारण के लिए तो ऐसा करना असंभव है। कब तो संसार के शास्त्रों के सागर को पार किया जाय और कब, आत्मशुद्धि के लिए उद्योग किया जाय? ऐसा करने में आत्मशोधन का मार्ग रुक जायगा—अशक्य बन जायगा। कदाचित् यह कहा जाय कि संसार के सब मत-मतान्तरों का निचोड़ एक जगह करके पढा जाय तो क्या हानि है? मगर ऐसा होना भी सरल काम नहीं है।

अब प्रश्न हो सकता है कि अगर यह असंभव है तो किस उपाय से कर्मों का नाश करना चाहिए? इसका उत्तर संक्षेप में यह है—

महाजनो येन गतः पन्था. ।

अर्थात् जिस मार्ग पर महापुरुष चले हैं, जिस मार्ग का अवलंबन करके उन्होंने अपने कर्मों का क्षय किया है और आत्मशुद्धि की है, वही मार्ग तुम्हारे लिए भी कल्याणकारी हो सकता है।

महापुरुष बिना निर्णय किये किसी मार्ग पर पैर नहीं

धरते। अतएव उनके द्वारा निर्णीत पथ ही, मंगलकारी होता है। किसी महानदी को पार करना कठिन होता है, बड़े-बड़े बलवान् तैराक भी पार नहीं कर पाते। परन्तु पुल बन जाने पर कीड़ी भी उस महानदी को पार कर जाती है। इसी प्रकार हम चाहे कितने ही अशक्त हों, कितने ही कम पढ़े-लिखे हों, अगर महापुरुषों के मार्ग रूपी पुल पर आरूढ़ हो जाएँगे तो अवश्य ही अपने लक्ष्य को—आत्मशुद्धि को—प्राप्त कर सकेंगे। महापुरुषों का मार्ग संसार-सागर पार करने के लिए पुल के समान है। उनके मार्ग पर चलने से सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है।

अब प्रश्न होता है कि महापुरुष किसे माना जाय? इस प्रश्न का उत्तर एक प्रकार से कठिन है, फिर भी अगर हम सावधानी से विचार करें और निर्णय करने की शुद्ध बुद्धि हममे हो तो इतना कठिन भी नहीं है। आपके सामने दो प्रकार के पुरुष खड़े है। एक ने अपनी ऋद्धि खूब बढ़ाली है और बहुत बड़ा अमीर बन गया है। दूसरा किसी समय ऋद्धिशाली था। उसने ऋद्धि की असारता और अशरणता समझ ली और फिर उससे विरक्त हो गया है। सारी सम्पदा को त्याग कर भिक्षु बन गया है। अब अपने अनुभव से विचार कीजिए कि आपको कौन महापुरुष जान पड़ता है?

'त्यागने वाला!'

संसार मे महान् ऋद्धिशाली भी बड़ा आदमी अर्थात्

महान पुरुष कहलाता है और त्यागी भी महापुरुष कहलाता है। मगर आप तो कर्मों का नाश करने के लिए महापुरुष की खोज कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में स्वयं ही निर्णय किया जा सकता है कि उक्त दोनों में महापुरुष कौन है ?

हम अपने कर्मों का नाश करना चाहते हैं, इसलिए हमें ऐसे ही महापुरुष का आदर्श ग्रहण करना है जो त्यागी हो। जो सच्चा त्यागी होगा वह निश्चय ही सत्य पथ पर चलेगा। वह मिथ्या मार्ग को स्वीकार नहीं करेगा।

सारांश यह है कि त्यागी पुरुषों का मार्ग कर्मनाश करने के लिए पुल के समान है।

एक प्रश्न यह भी किया जा सकता है कि किसका त्याग करने वाले को त्यागी समझा जाय ? इस प्रश्न का उत्तर शास्त्र यह देते हैं कि जिसने हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और लोभ आदि अठारह पापों का त्याग कर दिया है वही त्यागी कहलाता है। जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मात्सर्य, अज्ञान आदि न हों उसी को त्यागी समझना चाहिए। ऐसा त्यागी ही महापुरुष कहलाता है। साँप ऊपर की केंचुली त्याग दे मगर विष का त्याग न करे तो उसकी भयंकरता कम नहीं होती। इसी प्रकार जो ऊपर से त्यागी होने का ढोंग करते हैं, परन्तु अंदर के राग—द्वेष आदि विकारों से ग्रस्त हैं, वे महापुरुषों की गणना में नहीं आ सकते। राग—द्वेष का क्षय हो जाने पर केवल ज्ञान की उपलब्धि होती है और

वीतराग दशा प्राप्त होती है। जो वीतराग बन गया है वही वास्तव में महापुरुष है।

ऐसे वीतराग महापुरुषों का स्मरण करके जिन्होंने अपना कल्याण किया है, उन्हीं का परिचय अन्तगडसूत्र में दिया गया है। इसके दस अध्यायों मे उन महापुरुषों का वर्णन किया गया है और बतलाया गया है कि उन्होंने किस प्रकार अपने कर्मों का विनाश करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था प्राप्त की है।

ऊपर जो विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि इस अनादि कालीन संसार मे महापुरुष अनंत हो चुके हैं। उनकी संख्या नही बतलाई जा सकती और न उनके नामों का ही उल्लेख किया जा सकता है। महापुरुष की जो परिभाषा बतलाई जा चुकी है वह जिस किसी मे घट सकती है वही महापुरुष है। महापुरुष की महत्ता उसके नाम से नहीं है, गुणों से है। अतएव जो गुणों से महापुरुष है वही पूजनीय है, वही माननीय है। भक्तामरस्तोत्र मे कहा है—

> बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
> त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
> धाताऽसि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
> व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! देवता तुम्हारे बुद्धि-वैभव की पूजा करते हैं, इसलिए तुम्ही बुद्ध हो, तीन लोक का कल्याण

करने के कारण तुम्हीं शङ्कर हो, मोक्षमार्ग की विधि का विधान करने के कारण तुम्हीं विधाता हो, और स्पष्ट है कि तुम्हीं पुरुषोत्तम हो।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया
वीतदोषकलुष स चेद् भवान्, एक एव भगवन्! नमोऽस्तु ते॥

अर्थात्—किसी भी परम्परा में, किसी भी रूप में, किसी भी नाम से आप हों, अगर आप वीतराग हैं तो सभी जगह एक ही हैं। आपको मेरा नमस्कार हो।

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि महापुरुष या वीतराग पुरुष का नाम पूज्य नहीं है। नाम उसका कुछ भी रख दिया जाय, अगर उसमे वीतरागता है तो वह पूज्य है।

भगवान् महावीर स्वामी अंतिम तीर्थंकर थे। आज उन्हीं का शासन चल रहा है। सुधर्मा स्वामी ने भगवान् महावीर से जो कुछ सुना, वही उन्होंने जम्बूस्वामी से कहा। उसी वाणी के द्वारा आप और हम अपना कल्याण कर सकते है।

वीर सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिता।
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः॥
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमखिलं, वीरस्य घोरं तपः।
वीरे श्रीधृतिकान्तिकीर्तिनिचय, हे वीर! मां पालय॥

अर्थात्—वीर भगवान् सुरेन्द्रों और असुरेन्द्रों द्वारा

पूजित हैं। ज्ञानी जन उनके पथ का ही अनुसरण करते है। उन्होंने अपने समस्त कर्मों का नाश कर डाला है। वीर भगवान् से ही इस तीर्थ की प्रवृत्ति हुई है। वीर भगवान् का तप घोर था। उनमें अद्भुत श्री, अनोखा धीरज और अनुपम कांति थी। उनकी कीर्त्ति का वर्णन नही किया जा सकता। ऐसे श्रीवीर भगवान हमारी रक्षा करें।

भगवान् जिस-जिस अवस्था में रहे, उस-उस अवस्था में इन्द्र ने उनकी पूजा की। भगवान् के गर्भकल्याणक के समय इन्द्र ने उत्सव मनाया। जन्मकल्याण के समय मेरु पर्वत पर जाकर उत्सव किया। दीक्षा लेने पर उसने दीक्षा-महोत्सव किया।

भगवान् ने घोर तप करके कर्मों का विनाश कर डाला। उनके तप का ही यह प्रभाव है कि भगवान् का शासन अब तक चल रहा है। धर्म के नाम पर संसार में अनेक सत्ताएँ हो चुकी हैं, जिन्होंने राजाओं का भी आश्रय मिला था। अर्थात् राजा भी उनकी आज्ञा में थे। राजाओं का आश्रय पाकर भी आज उन धर्मों का ह्रास हो गया है। जैनधर्म का रक्षक कोई राजा नही है, फिर भी वह अपने पैरों पर खड़ा है। इसका कारण भगवान् की तपस्या ही है। उन्हीं के तप के प्रबल प्रभाव से अनेक भीषण संघर्षों में जैनधर्म ने विजय प्राप्त की है और आज भी वह विजयशील है। दुनिया जैन-धर्म के सिद्धांतों के अमल में ही अपनी भलाई देख रही है।

प्राचीन काल में राजाओं के साथ उनकी रानियाँ सती होती थीं। भारतीय विचारकों ने उसका विरोध किया और अंगरेजों के शासन में वह प्रथा बंद कर दी गई। लेकिन जैनधर्म के अनुसार संथारा जैसा पहले होता था वैसे ही आज भी होता है। जैनधर्म का रक्षक कोई राजा नहीं है, फिर भी उसमें ऐसी स्वाभाविकता भरी है कि उसके किसी सिद्धांत का खण्डन नहीं किया जा सकता। यह सब भगवान के तप का ही प्रभाव है।

नौं चौमासी तप कियो।
ते प्रणवों वर्धमान ॥

भगवान् के तप के प्रभाव से ही आज यह शासन अपने पूर्व रूप में विद्यमान। यद्यपि काल के प्रभाव से इसमें नाना सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए हैं, फिर भी वैसी अंधाधुन्धी यहाँ नहीं है जैसी कि अन्यत्र दिखाई देती है। उदाहरणार्थ—एक पुस्तक में लिखा है कि ईसा का यह उपदेश होते हुए भी कि यदि तुम्हारे एक गाल पर कोई थप्पड़ मारे तो तुम उसके सामने दूसरा गाल कर दो. ईसा के इस उपदेश के पीछे तप का प्रभाव न होने से ईसाइयों ने अपने धर्म में स्वयं ही बड़ी अंधाधुन्धी मचा रक्खी है। बाइबिल का शब्द पढ़ लेने पर, उसका अनुवाद करने पर या उसके उपदेश के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शङ्का करने पर लोग जिन्दे जला दिये गये हैं। उस धर्म के ठेकेदारों ने किसी को कूट-कूट कर मारा तो

किसी को खण्ड-खण्ड करके मारा ! यह अंधाधुन्धी धर्म के नाम पर ही की गई थी। इस प्रकार धर्म के नाम पर हजारों नहीं लाखों मनुष्यों की हत्या की गई है। लेकिन जैनधर्म के किसी अनुयायी ने धर्म के नाम पर आज तक किसी को नहीं सताया, किसी की हत्या नहीं की। जैनधर्म के अनुयायियों ने धर्म का प्रचार करने में अनेक बाधाएँ सहन की हैं, कष्ट सहन किये हैं, मार खाई है, यहाँ तक कि बहुतों ने प्राण भी दिये हैं, मगर कभी किसी के प्राण लिए हों, ऐसा नहीं सुना गया। यह सब भगवान् महावीर के तपोबल का प्रभाव है। उनका ऐसा प्रभाव था और वह इतना उत्कृष्ट और निर्मल था कि उनके धर्म के अनुयायियों ने अपना धर्म फैलाने के लिए कभी किसी को नहीं सताया। आज जैनधर्म के अनुयायी राजा नहीं है तो क्या हुआ। किसी समय सोलह-सोलह देशों पर शासन करने वाले राजा इसके अनुयायी थे। वे प्रचंड शक्तिशाली और प्रतापी योद्धा थे। किन्तु धर्म का नाम लेकर उन्होंने किसी को नहीं सताया। किसी को लेश मात्र भी भय नहीं दिखलाया।

अन्य धर्मों के इतिहास को देखने से ज्ञात होगा कि उस धर्म को फैलाने के लिए अनेक प्रकार के अत्याचार किये गये हैं। जैनधर्म का इतिहास जैनों ने भी लिखा है और दूसरों ने भी लिखा है। मगर उसमें किसी ने यह बात नहीं लिखी कि कभी किसी जैन राजा ने अपने धर्म का प्रचार करने के

लिए तलवार का सहारा लिया। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे प्रसिद्ध लेखक ने भी जब भगवान् महावीर के विषय मे लिखने के लिए कलम उठाई तो यही लिखा कि संसार की अधाधुंधी और मारकाट की शांति का उपदेश भारत मे भगवान् महावीर ने ही सुनाया। उनके तप का प्रभाव ही ऐसा था कि धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा आप ही बंद हो गई।

धर्म के नाम पर मारकाट करने वाले लोगो के धर्म मे मारकाट करने की तो आज्ञा दी नहीं गई होगी, परन्तु उस धर्म के प्रवर्त्तक में तप का बल नहीं था। भगवान महावीर का तप असाधारण था। यही कारण है कि सिद्धान्त रूप से भगवान् का शासन उसी प्रकार चल रहा है, जिस प्रकार उन्होंने चलाया था।

अगर कोई जैनधर्म मानने वाला कुपात्र पुरुष हिंसा भी कर डाले तो भी कोई समझदार यह कहने के लिए तैयार नहीं होगा कि जैनधर्म की शिक्षा ऐसी है। मगर मुस्लिम धर्म के अनुयायियों के कामो की तरफ देखिए तो मालूम होगा कि मुस्लिम धर्म के फैलाने के उद्देश्य से उन्होंने कैसे-कैसे अत्याचार किये हैं। उनके शास्त्र मे ही काफिरो के लिए पत्थर लिखे हैं।

भगवान् महावीर ने ग्यारह वर्ष छह मास और पच्चीस दिन तप किया और नौ बार चौमासी तप किया। वे दिन-

रात में कभी पानी की एक बूंद भी नही लेते थे, तिस पर भी दिन को सूर्य की आतापना लेते और रात्रि मे वीरासन से खड़े रहते थे। भगवान् ने अपने अनुयायियों को तपस्या का मार्ग सिखलाने के निमित्त इतना उग्र तप किया था। भगवान् इतना तप न करते तो ऐसे कुसमय मे, नाना प्रकार की प्रतिकूल और भीषण परिस्थितियों मे उनका धर्म स्थिर कैसे रहता ?

आज न्याय की तराजू पर एक ओर जैनियो की तपस्या रक्खो और दूसरी ओर सारे संसार की तपस्या रक्खो। जैनों की संख्या कम होने पर भी देखो कि जैनियों की तपस्या की बराबरी क्या सारे संसार की तपस्या मिल कर भी कर सकती है ? भारत बीच में भूल कर अब तप की महिमा और अहिंसा की शक्ति को फिर समझ रहा है। वह महावीर भगवान् के सिद्धान्तों की ओर झुक रहा है। दूसरे को कष्ट न देकर स्वय कष्ट सह लेना, अनशन करना, यह भावना महावीर स्वामी के सिद्धान्त की है और भारत ने इस भावना का अनुसरण किया है।

गांधीजी ने जैनधर्मानुयायी कवि राजचन्द भाई को अपना धर्मविषयकगुरु माना है। गांधीजी कभी के ईसाई बन गये होते पर संयोगवश उन्हें राजचन्द्र भाई मिल गये। राजचन्द्र भाई से उन्होंने कुछ प्रश्न किये। गांधीजी को संतोषजनक उत्तर मिल गया। इस कारण वे ईसाई होने से बच

गये। वे ईसाई हो गये होते तो आज कौन जाने किस रूप में होते। पर जैनधर्म के प्रताप से ऐसा नहीं हुआ।

गांधीजी ने अपने जीवन में जितनी तपस्या की है, उतनी शायद ही किसी दूसरे देशनेता ने की होगी। इक्कीस-इक्कीस दिन तक तो उन्होंने अनशन ही किया है और दूसरी तपस्या का अंदाज लगाना कठिन है। वे तपस्या के प्रभाव को भली-भांति जानते हैं। गीता में एक श्लोक है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

इसका सीधा-सादा अर्थ तो यह है कि निराहार मनुष्य विषय-हीन हो जाता है। निराहार देह में विषय नहीं ठहरते। लेकिन वासना बाह्य तप से नहीं जाती। वासना का नाश करने के लिए परमात्मा के ध्यान की आवश्यकता है।

लोकमान्य तिलक ने इस अर्थ को घुमा-फिरा कर यह आशय निकाला है कि उपवास करना ढोंग है-आत्महत्या है। तिलकजी के ऐसा अर्थ करने का कारण संभवतः यही हो सकता है कि उन्हें उपवास का अनुभव नहीं था। जिसने उपवास ही न किया हो वह उपवास के विषय में ठीक निष्कर्ष नहीं निकाल सकता। इसके विरुद्ध गांधीजी को उपवास संबंधी व्यक्तिगत अनुभव है, अतः उन्होंने उक्त श्लोक का वही अर्थ किया है, जो मैं ने ऊपर बतलाया है। दोनों के अर्थ में अन्तर पड़ने का कारण यही है कि एक ने उपवास नहीं किया और दूसरे ने उपवास करके अनुभव प्राप्त किया है। असल

किये बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती, इसलिए भगवान् महावीर ने जो कुछ कहा है, वह सब करके दिखाया भी है।

भगवान् महावीर ने प्रभावशाली तप किया, उसी का यह परिणाम है कि आज भी साधु, साध्वियाँ, श्रावक श्राविकाएँ तप करते हैं। आज जैन महात्माओं में त्याग-वैराग्य की जो शक्ति है, वह सब भगवान् महावीर के तप का ही प्रताप है।

भगवान महावीर से अतुल तीर्थ निपजे हैं। उन धीर महाप्रभु की तपस्या रोमांचकारिणी और बड़ी प्रभावशालिनी थी।

श्री जिनराय का ध्यान लगावे,
ता घर आनन्द-मङ्गल छावे।
सिद्धारथ राय के नन्द अनोपम,
रानी त्रिशला देवी कूँख जो आवे।
चैत सुदी तेरस की रजनी,
जन्म भयो प्रभु सब सुख पावे ॥श्री०॥

भगवतीसूत्र में कहा है—

तहारूवाणं समणाणं निग्गंथाणं।

यही पाठ भगवान् के विषय मे भी आया है और कहा गया है—

इहलोगहियाए परलोगहियाए।

तथारूप के श्रमण निर्ग्रन्थ या अरिहन्त भगवान् के नाम-गोत्र का स्मरण करना—भक्ति करना—इस लोक और पर-

लोक में हित और सुख देने वाला है।

मित्रो! अगर आपको सूत्र के वचन पर श्रद्धा है तो निश्चय कर लो कि भगवान् देवाधिदेव हैं। उनका शरण छोड़कर दूसरे के शरण में जाना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है?

बहुत-से लोग जगन्नाथ प्रभु का शरण छोड़ कर भैरों-भवानी की शरण लेते हैं। शायद उनका खयाल है कि भगवान तो परलोक में कल्याणकारी हैं और भैरों-भवानी इस लोक के लिए कल्याणकारी हैं। लेकिन गीता में भी कहा है कि परमात्मा को पूजने वाला परमात्मा को प्राप्त होगा और भूतों प्रेतों को पूजने वाला भूतों-प्रेतों को प्राप्त होगा।

अब प्रश्न किया जा सकता है कि भगवान् का ध्यान किस प्रकार लगाया जाय? आज पर्युषण का प्रथम दिवस है। आज से लेकर आठ दिनों में भगवान् महावीर को विशेष रूप से ध्यान में लाना है और उस ध्यान में अन्तराय करने वाले विघ्नों को हटाना है। ऐसे विघ्न अनेक हैं पर मुख्य रूप से दो विघ्नों की ओर आपको ध्यान देना चाहिए। वे यह हैं—शास्त्र की बात को अन्यथा समझ लेना और लौकिक भावनाओं में मन का फँसा रहना। आत्मकल्याण का पहला उपाय शास्त्र की बात यथार्थ रूप में समझना है। शास्त्र का आशय कुछ और हो और आप समझ लें कुछ और ही, तो बड़ा अनर्थ होता है। कुछ का कुछ अर्थ समझ लेने का क्या

परिणाम होता है, इस बात को सरलता और स्पष्टता के साथ समझाने के उद्देश्य से एक दृष्टांत कहता हूँ—

एक नामी सेठ था। खूब धनाढ्य था। उसके पाँच लड़के थे, लड़की एक भी नहीं थी। एक दिन सेठ ने विचार किया—'हम दूसरे के यहाँ से लड़की लाते तो हैं पर दूसरों को देते नहीं हैं। यह मेरे ऊपर ऋण है। इस प्रकार विचार करने के बाद सेठ के दिल में कन्या का पिता बनने की भावना उत्पन्न हुई।

पुण्ययोग से सेठ की भावना पूर्ण हुई। उसके यहाँ एक लड़की जन्मी। सेठ का घर वैष्णव सम्प्रदाय का था। घर के सभी लोग विष्णु की भक्ति में तल्लीन रहते थे। वे अपने धन-वैभव आदि को ठाकुरजी का प्रताप समझते थे। इसके अनुसार उन्होंने उस लड़की को भी ठाकुरजी का ही प्रताप समझा।

पाँच लड़कों के बाद गहरी भावना होने पर लड़की का जन्म हुआ था। इसलिए बड़े ही लाड़ प्यार के साथ लड़की का पालन-पोषण किया गया। लड़की का नाम नाम फूलां बाई रक्खा गया। इस बात बात का बहुत ध्यान रक्खा जाता था कि लड़की को किसी भी प्रकार का कष्ट न होने पाये। लड़की जब कुछ सयानी हो गई तब भी सेठजी उसे उसी प्रकार रखते थे। लड़की कभी कुछ अपराध या भूल करती तो भी सेठजी एक शब्द न कहते और न दूसरों को कहने देते। इसी प्रकार व्यवहार चालू रहा और लड़की बड़ी हो चली।

जैसा होने वाला होता है वैसे ही निमित्त भी मिल जाते हैं। तदनुसार सेठ के यहाँ एक दिन कोई पंडित आये और उन्होंने गीता का निम्नलिखित श्लोक पढ़ा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

फूला बाई इसका अर्थ समझी—सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ। तुमने कितने ही पाप क्यों न किये हों, मैं उन सब से मुक्त कर दूँगा। अब उसने निश्चय कर लिया—नारायण पापों से मुक्त कर ही देते है, फिर किसी भी पाप से डरने की आवश्यकता ही क्या है? पाप से डरने का अर्थ नारायण की शक्ति पर अविश्वास करना होगा। बस, केवल ईश्वर से डरना चाहिए, पापों से नहीं।

ठाकुरजी से डरने का अर्थ उसने यह समझा कि उन्हे विधिपूर्वक नैवेद्य आदि चढ़ाकर पूजना चाहिए—किसी प्रकार की अविधि नहीं होना चाहिए। इससे ठाकुरजी प्रसन्न होंगे।

फूलां बाई के हृदय मे यह संस्कार ऐसी दृढ़ता के साथ जम गया कि समय-समय पर वह कार्यों मे भी व्यक्त होने लगा। हृदय का प्रबल संस्कार कार्य में उतर ही आता है। फूलां बाई का व्यवहार अपने नौकरों-चाकरों और पड़ौसियों के प्रति ऐसा ही बन गया। वह सब से लड़ती-झगड़ती और निरंकुश व्यवहार करती। इस प्रकार फूला बाई शूला

बाई बन गई।

पहले कहा जा चुका है कि उस घर के सभी लोग सभी बातों के लिए ठाकुरजी का ही प्रताप समझते थे। घर में जो भावना फैली होती है उसी को बालक ग्रहण करते हैं और वैसी ही भावना बन जाती है। फूलीबाई की भावना भी ऐसी ही हो चली। वह भी हर चीज को ठाकुरजी का प्रताप समझने लगी। सेठजी के यहाँ यह भजन गाया जाता था—

जो रूठे उसको रूठन दे, तू मत रूठे मन बेटा।
एक नारायण नहिं रूठे तो, सबके काट लूँ चोटी पटा॥

फूलाबाई ने इस भजन का यह आशय समझ लिया कि सब लोग रूठते हैं तो परवाह नहीं। उन्हें रूठ जाने दो! अगर ठाकुरजी अकेले न रूठे तो सब के सिर के बाल उतरवा सकती हूँ।

फूला बाई ने सोचा—दुनिया में बहुत लोग हैं। किन-किन की अलग-अलग खुशामद करती फिरूँगी! अतएव अच्छा यही है कि अकेले नारायण को राजी कर लिया जाय। फिर चाहे जिससे चाहे जैसा व्यवहार किया जा सकता है।

फूला बाई के ऐसे व्यवहार को घर के लोग हँसी में टालते रहे, मगर फूला बाई समझने लगी कि यह सब नारायण भगवान् का ही प्रताप है। नारायण मददगार हों तो कोई क्या कर सकता है? इस प्रकार फूला बाई सबके साथ गुल

का सा व्यवहार करने लगी।

फूलां बाई की सगाई एक करोड़पति सेठ के घर की गई। यह देख कर तो फूलांबाई के अभिमान का पार ही न रहा। वह सोचने लगी—मुझ पर ठाकुरजी की बड़ी कृपा है। यही कारण है कि इस घर में मैंने सभी पर अंकुश रक्खा है, फिर भी मैं करोड़पति के घर व्याही जा रही हूँ! जैसी धाक मैंने यहाँ जमा रक्खी है, वैसी ही सुसराल में जमा सकूं तो ठाकुरजी की पूरी कृपा समझूं।

विवाह हो गया। फूलांबाई सुसराल पहुँची। सुसराल पहुँचकर ससुर-सासू के पैर छूना आदि विनीत व्यवहार तो दूर रहा, उसने अपनी दासी को सासू के पास भेजकर कहला दिया—'अभी से यह बात साफ कर देना ठीक जँचता है कि मैं इस घर में गुलाम या दासी बन कर नहीं आई हूँ। मैं मालकिन बनकर आई हूँ और मालकिन बनकर ही रहूँगी। अपने साथ में धन लेकर आई हूँ, कोरी नहीं आई हूँ। सब काम-काज मेरे कहने के अनुसार होता रहा तो ठीक, अन्यथा इस घर में तीन दिन भी मेरा निर्वाह न होगा।'

फूलांबाई सोचती थी—ठाकुरजी प्रसन्न हैं तो फिर डर किसका? आरंभ में प्रभाव जम गया तो जम गया, नहीं तो जमना कठिन है। इसलिए पहले ही आतंक जमा लेना चाहिए। डर-भय की तो परवाह ही नहीं है!

नवागता पुत्रवधू का यह अनोखा संदेश सुनकर सासू

को अचरज भी हुआ और दुःख भी हुआ। वह सोचने लगी—यह कैसी विचित्र वहू आई है! इसे इतना अहकार क्यों है? है तो यह वड़े घर की वेटी, पर इतने घमण्ड का क्या कारण हो सकता है? घमण्ड किसी को हो सकता है लेकिन इस प्रकार व्याह कर आते ही तो कोई वहू ऐसा नही कहला सकती। देखने मे सुन्दर है, वड़े घर की है, फिर भी इसकी वोली और प्रकृति ऐसी क्यों है? जान पड़ता है इसके शरीर मे कुछ न कुछ अवश्य है। फिर भी इसे अभी तो प्रसन्न ही रखना चाहिए। कुछ दिनों मे ठिकाने आ जाएगी। ऐसा सोचकर सासू ने कहला भेजा—'अच्छा जैसा वह कहेगी वैसा ही होगा।'

फूलांवाई के अहंकार को और ईंधन मिल गया। वह सोचने लगी—धन्य हैं ठाकुरजी, उन्होंने यहाँ भी मेरा वेड़ा पार लगा दिया। वड़ी प्रसन्नता और उत्साह के साथ उसने ठाकुरजी की मूर्त्ति पधराई और कहने लगी—'ठाकुरजी का प्रभाव मैंने प्रत्यक्ष देखा।'

थोड़े ही दिनों मे फूलांवाई के व्यवहार से घर के सव लोग कॉप उठे। उसने सव जगह अपना एकछत्र राज्य जमाना शुरु किया। वह न किसी से प्रेम करती, न किसी का लिहाज़ रखती। सासू वगैरह समझ गई कि वहू का स्वभाव दुष्ट है। मगर घर की वात वाहर जाने से इज्जत चली जाएगी। इस विचार से घर के लोग कड़वे घूँट के समान

फूलांबाई के व्यवहार को सहन करते गये और उसे क्षमा करते रहे। उनकी क्षमा को फूलांबाई ने ठाकुरजी का अपने ऊपर विशेष अनुग्रह समझा। उसका व्यवहार दिन प्रतिदिन बुरा होता चला गया।

फूलां की सुसराल के किसी सम्बन्धी के घर विवाह था। इस विवाह में सपरिवार सम्मिलित होना आवश्यक था। बहू को भी साथ ले जाना जरूरी था। मगर चिन्ता यह थी कि अगर पराये घर जाकर भी इसने ऐसा व्यवहार रक्खा तो इतनी बड़ी इज्जत कौड़ी की हो जायगी। अन्त में बहू को घर पर ही छोड़ जाने का निश्चय किया गया। मगर फूलांबाई को छोड़ जाना भी सरल नहीं था। इसलिए उसकी सास ने एक उपाय सोच लिया।

मूर्ख लोग अपनी मिथ्या प्रशसा से प्रसन्न होते हैं। उन्हें प्रसन्न करके फिर जो चाहे वही काम करा सकते हो। वे खुशी-खुशी कर देंगे। सासु ने फूलांबाई की खूब प्रशंसा की। अपनी प्रशसा सुनकर वह फूल गई। उसके बाद सासू ने कहा—इस विवाह में जाना तो सभी को चाहिए, पर घर सूना नहीं छोड़ा जा सकता। बड़ा घर है। इसे सँभालने के लिए होशियार आदमी चाहिए। तुम बहुत होशियार हो। अगर घर रह कर इसे सँभाले रहो तो सब ठीक हो जाएगा।

फूलांबाई फूलकर कुप्पा हो चुकी थी। उसने कहा— तुम्हारे बिना कौन सा काम अटका है? तुम सब पधारो। घर

सँभालने के लिए मै अकेली ही काफी हूँ।

घर के लोग यही चाहते थे। फूलांबाई को घर छोड़कर सब विवाह में सम्मिलित होने के लिए रवाना हो गये।

उधर सब लोग विवाह के लिए गये और संयोगवश इधर सेठ की समानता रखने वाले एक सगे मेहमान सेठजी के यहाँ आ गये। मेहमान भी ईश्वर मे निष्ठा रखने वाला भक्त था। फूलांबाई को मेहमान के आने का समाचार मिला। उसने भोजन की तैयारी करके उसे जीमने के लिए बुलाया। मेहमान जीमने बैठा और भोजन का थाल उसके सामने आया। उसने जैसे ही भोजन करना प्रारंभ किया कि उसी समय फूलां ने कड़क कर कहा—कभी पहले भी ऐसे टुकड़े मिले है या नही? एकदम भुखमरों की तरह भोजन पर टूट पड़े! कुछ विचार भी नही किया और पेट मे भरने लगे। कै दिन के भूखे आये हो?

ऐसे समय में क्रोध आना स्वाभाविक था। भोजन करने के अवसर पर यह शब्द कह कर फूलांबाई ने भोजन को ज़हर बना दिया था। पर मेहमान ने सोचा—मै भक्त हूँ। इसने भोजन को ज़हर बना दिया है, उसको मै अमृत न बना सका तो फिर मै भक्त ही कैसा? इसमें और मुझमे फिर अन्तर ही क्या रहेगा? मै तो आज आया हूँ और आज ही चला भी जाऊँगा, मगर इसके घर के लोग कितने दयाशील और सहिष्णु होंगे जो रोज-रोज़ इसके ऐसे बर्ताव को सहन

करते होंगे ! मेरा इसके साथ परिचय नहीं है, फिर भी इसने पत्थर-सा मारा है। यह घर वालों के साथ कैसा सलूक करती होगी ? सचमुच वे लोग धन्य हैं जो इसके इस दुष्टतापूर्ण व्यवहार को शान्ति के साथ सहन करते हैं ! अगर मैं इसके स्वभाव को और भड़का दूँ तो इसमें मेरी विशेषता क्या है ? मैं इसका मेहमान बना हूँ। किसी उपाय से अगर इसका सुधार कर सकूँ तो मेरा आना सार्थक हो सकता है।

मन ही मन इस प्रकार विचार कर उसने फूलांबाई से कहा—आपने क्या ही अच्छी बात कही है ! यह भोजन की तैयारी और उसपर आपका यह बोलना मैंने आज ही देखा है। आप ऐसी हैं तभी तो यह तैयारी कर सकी हैं।

फूलांबाई मन ही मन कहती है—ठाकुरजी का प्रताप धन्य है कि उन्होंने इसे भी मेरे सामने गाय बना दिया है !

प्रकट में वह बोली—अच्छी बात है, अब आप जीम लीजिए। दो-चार दिन ठहरोगे न ? ऐसा भोजन दूसरी जगह मिलना कठिन है।

मेहमान—आप ठीक कहती हैं। ऐसा भोजन दूसरी जगह कदापि नहीं मिल सकता। मैं अवश्य दो-चार दिन रहूँगा। आपकी कृपा है तो क्यों नहीं रहूँगा ?

उसने सोचा—इस भोजन को अमृत बना लेना ही काफी नहीं है। इस बाई को भी मैं अमृत बना लूँ तो मेरा कर्त्तव्य पूरा होगा।

वास्तव में सुधार का काम बड़ा टेढ़ा होता है। तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है। सुधारक को बड़ी विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों में भी जो दृढ़ रहता है और अपने उद्देश्य की प्रशस्तता का खयाल रखकर विकट से विकट संकटों को खुशी के साथ सहन कर लेता है, वह अपने उद्देश्य में सफल होता है।

मेहमान जीम कर चला गया। पूछताछ करके उसने पता चलाया कि फूलांबाई का स्वभाव ही ऐसा है। यह केवल ठाकुरजी की भक्ति करती है और सबकी कम्बख्ती करती है। मेहमान ने सोचा—चलो यह ठीक है कि वह ठाकुरजी की भक्ति करती है। नास्तिक को समझाना कठिन है, जिसे थोड़ी-बहुत भी श्रद्धा है, उसे समझाना इतना कठिन नहीं है।

मेहमान ने एक-दो दिन रहकर फूलांबाई के वाग्बाणों को खूब सहन किया और उसकी प्रकृति का भलीभाँति अध्ययन कर लिया। उसने समझ लिया कि यह ठाकुरजी के सामने सबको तुच्छ समझती है और इसने धर्म का स्वरूप उलटा समझ लिया है। उधर फूलांबाई सोचने लगी—कैसा बेशर्म है यह आदमी, जो हँसता हुआ मेरी सभी-बातें को सहन करता जाता है। जो लोग मेरे आश्रित हैं, वे भी मेरे व्यवहार को देखकर अगर मुँह से कुछ नहीं कहते तो भी

आँखे लाल तो कर ही लेते हैं। मगर इसके नेत्रों में जरा भी विकार नहीं दिखाई देता। चेहरा ज्यों का त्यों प्रसन्न बना रहता है। इसे मेरी परवाह नहीं है, फिर भी इतना शांत रहता है। यह मनुष्य कुछ निराला है।

दो-तीन दिन बाद, आधी रात के समय, मेहमान फूलांबाई के कमरे के पास गया और उसे आवाज दी। फूलांबाई ने पूछा—कौन है? उसने अपना नाम बता दिया। आधी रात के समय आने के लिए फूलांबाई उसे धिक्कारने लगी। तब उसने कहा—मैं किवाड़ खोलने के लिए नहीं कहता। आपके हिताहित से सम्बन्ध रखने वाली बात सुनाने आया हूँ। न सुनना चाहो तो मैं जाता हूँ। सुनना हो तो किवाड़ की आड़ में से सुन लो।

हिताहित की बात सुनने के लिए फूलांबाई किवाड़ के पास खड़ी हो गई। उसने कहा—क्या कहना है, कह डालो।

मेहमान—कहूँ या न कहूँ, इसी दुविधा मे पड़ा हूँ। कुछ निर्णय नहीं कर पाया हूँ।

फूलांबाई—जो कहना चाहते हो कह डालो। विचारने की बात ही क्या है? डरो मत।

मेहमान—आपका भी आग्रह है तो कह देता हूँ। अभी मैं सो रहा था। स्वप्न में ठाकुरजी ने दर्शन दिये थे।

फूलां—ठाकुरजी! तुम्हारे भाग्य बड़े हैं जो ठाकुरजी ने दर्शन दिये! उन्होंने तुमसे क्या कहा है?

मेहमान—उन्होंने कहा कि भगत ! चल। अब मैं इस घर में नही रहूँगा, तेरे साथ चलूँगा। मैंने ठाकुरजी से कहा—मैंने इस घर का नमक खाया है। आप मेरे साथ चलेंगे तो मेरी बदनामी होगी।

फूलां—ठाकुरजी मेरे घर से रूठे क्यों हैं ? किस कारण जाना चाहते हैं ?

मेहमान—मैंने यह भी पूछा था कि आप इस घर से क्यों रूठ गये हैं ? उन्होने उत्तर दिया कि मैं इस घर से ऊब गया हूँ। अब इस घर की सत्ता मुझसे नही सही जाती। मैं धीरज रख रहा था कि अब सुधरे, अब सुधरे, मगर अभी तक कुछ सुधार नहीं हुआ। उन्होंने यह भी कह दिया कि मैं तेरे हृदय मे बसूँगा। तू भक्त है। मैंने ठाकुरजी से पूछा—क्या कपड़ों की या नैवेद्य की कुछ कमी रही ?

फूलांबाई ने चट किवाड़ खोल दिये और कहने लगी—मैं ठाकुरजी के लिए किसी चीज़ की कमी नही होने देती। फिर वे नाराज़ क्यों हो गये ?

मेहमान—मैंने भी तो उनसे यही प्रश्न किया था। उन्होंने उत्तर दिया—तू भी मूर्ख मालूम होता है। मैं क्या उसके कपड़े-लत्ते के लिए नङ्गा-भूखा बैठा हूँ ! मैं अपनी सत्ता से संसार का ईश्वर हुआ हूँ। वह क्या चीज़ है जो मुझे कपड़े-लत्ते और नैवेद्य देगी ? मुझे उसकी परवाह ही कब है ?

फूलां—मैं जानती थी कि ठाकुरजी इन्हीं चीज़ों से प्रसन्न

होते हैं। फिर मुझ से क्या अपराध हुआ है जो ठाकुरजी जाने की सोच रहे हैं?

मेहमान—ठाकुरजी ने मुझे एक बात कही है और उसका उत्तर तुम से माँगने की भी आज्ञा दी है। उन्होंने पुछवाया है-इस बाई के एक सुकुमार लड़का हो। कोई मनुष्य उस लड़के को मारे या अपमान करे। फिर उन्ही हाथों से एक थाल में पकवान भर कर वह आदमी फलाबाई को देने आवे तो बाई लेगी या नहीं?

फलां—जो मेरे बेटे को दुःख देगा, उसके पकवान लेना तो दूर रहा, मैं उसका मुँह भी नहीं देखना चाहूँगी।

मेहमान—तुम्हारी तरफ से यही उत्तर मैंने ठाकुरजी को दिया था। परन्तु ठाकुरजी कहने लगे—उस बाई के तो एक ही बेटा होगा, किन्तु मेरे तो संसार के सब जीव बेटे हैं। अपने मुँह के विष से जो मेरे बेटों को दुःख देती है, उनसे त्राहि-त्राहि कहलवाती है, उस पापिनी के घर मे मैं नहीं रह सकता। इस प्रकार ठाकुरजी अब तुम्हारे घर नहीं रहेंगे। वह सारे संसार के पिता हैं और तुम सब से वैर रखती हो। ठाकुरजी बेचारे रहें भी तो कैसे?

फला का चेहरा उतर गया। वह कहने लगी—मेरी तकदीर खोटी है जो ठाकुरजी जाते हैं। अब मैं किसके सहारे रहूँगी? मेरी नाव डूबती है, आप किसी तरह इसे किनारे लगाइए। आपकी बड़ी कृपा होगी।

मेहमान—घबराओ मत। मुझे तो पहले से तुम्हारी चिन्ता थी। इसलिए मैंने अपनी शक्ति भर तुम्हारे लिए सब कुछ किया है। मैंने ठाकुरजी से विनय की—आप दीनदयाल हैं। बाई के अपराध को क्षमा करके यहीं रहिए। अन्यथा मेरी बहुत बदनामी होगी। तब ठाकुरजी बोले—मैं अब तक के अपराधों को क्षमा कर सकता हूँ, पर इससे लाभ क्या होगा? जो अपराध आगे भी करते रहना है, उसके लिए क्षमा मांगने से क्या लाभ है? जिस अपराध के लिए क्षमा मांगनी है, वही अपराध आगे न किया जाय, तभी क्षमा मांगना सार्थक होता है। अगर वह बाई भविष्य में सब के प्रति आत्मभाव रक्खे, दूसरे की मार खाकर भी बदले में न मारे, गाली सुनकर भी गाली न दे और शांत बनी रहे, सब के प्रति नम्र हो, सब की प्रिय बने, तो मैं रह सकता हूँ, अन्यथा नहीं। अब आप बतलाइए कि आपकी इच्छा क्या है? आप ठाकुरजी की शर्त पूरी करके उन्हें रखना चाहती हैं या नहीं?

फूला—बलिहारी है आपकी! मैं अब आपकी शरण में हूँ। आपको तो ठाकुरजी स्वप्न में ही मिले और स्वप्न में ही आपने उनसे बातचीत की, परन्तु मुझे तो आप साक्षात् ठाकुरजी मिले हैं। आपने मेरी आंखें खोल दीं। वास्तव में मेरी क्रूरता के कारण सब त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। मैं भक्त नहीं नागिन हूँ। मैंने सदा ही अपने मुँह से विष उगला है। आप पर भी मैंने ज़हर बरसाया पर आपकी आंखों से अमृत ही निकला।

आपने मुझे सच्ची शिक्षा दी है। सब से पहले आप ही मेरा अपराध क्षमा कीजिए। अपराध रहने से ठाकुरजी न रहेंगे तो मैं अपराध रहने ही नहीं दूँगी। फिर ठाकुरजी कैसे जा सकेंगे?

मेहमान—आपने मुझसे जो कुछ कहा है, उससे मुझे दु:ख नहीं हुआ। परन्तु जो अशक्त हैं और धर्म को नहीं जानते हैं, उनसे क्षमा मांगो। इसी में आपका कल्याण है। मैं तो आपके क्षमा मांगने से पहले ही क्षमा कर चुका हूँ।

प्रात:काल होते ही फूलांबाई ने सब से क्षमा मांगी। पड़ौसियों, नौकरों-चाकरों से बड़े प्रेम के साथ वह मिली और अपने अपराधों के लिए पश्चात्ताप करने लगी। उसने कहा—आप सब लोग अब तक मुझ से दुखी हुए हैं। आपने मेरे कठोर-व्यवहार को शान्ति के साथ सहन किया है। एक बार और क्षमा कर दीजिए।

अगर फूलांबाई का मेहमान उसकी बातें सुनकर क्रोधित हो जाता तो फूलांबाई का सुधार हो सकता था? नहीं। वास्तव में क्षमा बड़ा गुण है। क्षमा के द्वारा सब का सुधार किया जा सकता है।

विवाहकार्य से निवृत्त होकर फूलां के घर के लोग जब लौटे तो फूला आंखों से जल बरसाती हुई सब के पैरों में पड़ी और अपने अनेक अपराधों के लिए क्षमा मांगने लगी। वह कहने लगी—आप मुझे क्षमा कर देंगे तभी ठाकुरजी रहेंगे,

नही तो चले जाएँगे।

सब लोग फूलांबाई के इस आकस्मिक परिवर्त्तन को देख कर चकित रह गए। किसी ने कहा—अब तुमने अपना नाम सार्थक किया ! पर यह तो कहो कि इस परिवर्त्तन का कारण क्या है ?

फूलां—अपने घर एक भक्त आये है। यह परिवर्त्तन उन्हीं के प्रताप से हुआ है।

सारा वृत्तान्त जानकर सब परिवार के लोगों ने उन मेहमान की प्रशंसा की। उनका बड़ा उपकार माना और देवता की तरह सत्कार किया। सेठ ने कहा—सच्चे भक्त से ही ऐसा काम हो सकता है ! आपने हमारा घर पावन कर दिया। जिस घर मे सदा आग लगी रहती थी उसमें आपने अमृत का स्रोत प्रवाहित कर दिया।

फूलां ने भक्त मेहमान से कहा—भगतजी ! अच्छा, इस पद का अर्थ बतलाइए:—

जो रूठे उसको रूठन दे, तू मत रूठे मन बेटा।
एक नारायण नहि रूठे तो सब के काट लू चोटी पटा॥

भगत ने कहा—पहले तुमने जो अर्थ समझा है, वह बतलाओ। फिर मै कहूँगा।

फूलां—मैंने यह अर्थ समझा था कि एक ईश्वर को खुश रखना और सब के चोटी-पट्टे काट लेना।

भगत—यही तो भूल है। इसी भूल ने तुम्हे चक्कर में

डाल दिया था। इस पद का सही अर्थ यह है कि—दूसरा रूठता है तो रूठने दे। हे मन ! तू मत रूठ। अर्थात् दूसरा अगर मारता और गाली देता है तो तू क्रोध मत कर।

'एक नारायण नहि रूठे तो काट लूँ सब के चोटी पट्टा' इसका अर्थ स्पष्ट है। अगर मैं तुम्हारी बातों पर क्रोध करता तो क्या तुम मेरे पैरों में पड़तीं ? मैंने अपने मन को नहीं रूठने दिया तो तुम मेरे पैरों में गिरीं। यही तो चोटी-पट्टा काटना कहलाता है।

फूला—बहुत ठीक, अब मैं समझ गई। पर एक श्लोक का अर्थ और समझा दीजिए।

भगत—कौन-सा श्लोक ?

फूला—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८॥

भगत—इसका अर्थ यह है कि तुझ में काम, क्रोध, आदि जितने पाप हैं, मेरी शरण में आने पर वे सब छूट जाएँगे। तात्पर्य यह है कि जहाँ पाप है वहाँ ईश्वर की शरण नहीं है और जहाँ ईश्वर की शरण है वहाँ पाप नहीं है।

फूला—मैं आपकी कृतज्ञ हूँ। आपने मेरा भ्रम दूर कर दिया। आज मेरे नेत्र खुल गये। मैं कुछ का कुछ समझ बैठी थी।

इस कथा से स्पष्ट है कि शास्त्र के अभिप्राय को विपरीत समझ लेने से बड़ी गड़बड़ी हो जाती है। अतएव अन्यथा

समझ लेना ध्यान का एक विघ्न है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि सच्चे धार्मिक या परमात्मा के आराधक को अन्य प्राणियों के प्रति किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए! अगर आपको भगवान् के वचन पर श्रद्धा है तो जगत् के सब जीवों को अपना ही मानो। ऐसा करोगे तो भगवान् आपके है, अन्यथा भगवान् रूठ जाएँगे।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'सव्वभूअप्पभूअस्स' अर्थात् समस्त प्राणियों को अपना समझो। अपनी आत्मीयता की सीमा क्षुद्र मत रहने दो। तत्त्वदृष्टि से देखोगे तो पता चलेगा कि अन्य जीवों में और आपके अपने माने हुए लोगों में कोई अन्तर नहीं है।

इस प्रकार परिपूर्ण मैत्रीभावना को हृदय में स्थापित करके अगर प्रभु का ध्यान करेंगे तो आपका परम कल्याण होगा।

बीकानेर
२१-८-३०

४

आत्मोद्धार

——.::() ::——

गम्भीरतापूर्वक सत्य का विचार न करने वाले लोगों का कहना है कि साधु बनना एक प्रकार की अकर्मण्यता धारण करना है। किन्तु कोई समझदार और विवेकशील पुरुष ऐसी बात नहीं कह सकता। गृहस्थ मुख्य रूप से अपने सांसारिक कर्त्तव्यों का पालन करता है और गौण रूप से धार्मिक कर्त्तव्यों का। उसे दुनियां की झंझटें ऐसी फंसाए रहती हैं कि वह आध्यात्मिक कर्त्तव्य को प्रधान रूप नहीं दे पाता। गृहस्थ का सांसारिक कार्य इसी जन्म में लाभदायक हो सकता है, आगामी जन्मों में नहीं। किन्तु वर्त्तमान जन्म अल्पकाल तक ही रह सकता है और भविष्य अनन्त है। उस अनन्त भविष्य को मङ्गलमय बनाने के लिए गृहस्थी की झंझटों से दूर हट जाना आवश्यक होता है। यद्यपि गृहस्थ भी अपनी मर्यादा के अनुसार धर्म और अध्यात्म की आराधना कर सकता है फिर भी निवृत्ति जीवन में जैसी आराधना की जा सकती है,

वैसी गृहस्थजीवन में नहीं। इस कारण निवृत्तिमय जीवन अंगीकार किया जाता है। निवृत्तिमय जीवन का अर्थ यह नहीं है कि कोई साधु बनकर निठल्ला बैठा रहे और किसी कर्त्तव्य का पालन ही न करे। साधुअवस्था की निवृत्ति का अर्थ यह है कि वह गृहस्थी के कामों में नहीं पड़ता। धन कमाना, मकान बनवाना, बाल-बच्चों का विवाह करना आदि कार्यों से साधु मुक्त हो जाता है। इनकार्यों से निवृत्त होकर साधु अपनी प्रवृत्तियों का क्षेत्र नया बनाता है। वह अपनी आत्मा के शाश्वत श्रेय को लक्ष्य बनाकर महान् कर्त्तव्यों को स्वीकार करता है। साधु की प्रवृत्ति आध्यात्मिक साधना के उद्देश्य से होती है। अतएव वह ऊँचे दर्जे की प्रवृत्ति करता है और जगत् के हित का भी कारण बनता है।

साधु होना आत्मा को स्वतंत्र बनाना है। अतएव साधु बनकर अपनी आत्मा को उच्च बनाना उचित है। इसके विपरीत जो लोग साधु होकर भी आत्मा को नीचे गिराते हैं, वे अपना ऐसा अहित करते है जैसा सिर काटने वाला वैरी भी नहीं कर सकता। ऐसे दुरात्मा को कंठ छेदने वाले वैरी से भी अधिक वैरी समझो।

कहा जा सकता है कि सिर काटने वाला वैरी तो प्रत्यक्ष में शरीर का विनाश करता है किन्तु दुरात्मा ऐसा कुछ नहीं करता। फिर दुरात्मा को कंठ छेदने वाले वैरी से भी अधिक क्यों कहा गया है ?

जिन नास्तिकों ने शरीर के साथ ही आत्मा का नाश मान रक्खा है, उन नास्तिकों के लिए यह उपदेश नहीं है। यह उपदेश आस्तिकों के लिए है। आस्तिक तो इस शरीर को वस्त्र के समान समझते हैं। वस्त्र के बदल जाने से जैसे पुरुष नहीं बदल जाता, उसी प्रकार शरीर के बदलने पर आत्मा नहीं बदलता। सिर काटने वाला वैरी अनित्य शरीर का ही नाश करता है, नित्य आत्मा का नहीं। सिर काटने वाले वैरी से अगर द्वेष न किया जाय तो वह कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकता। यही नहीं, बल्कि यह आत्मा की मुक्ति में उसी प्रकार सहायक बन जाता है जैसे गजसुकुमार मुनि के लिए सोमल ब्राह्मण सहायक बना था। अतएव तात्त्विक दृष्टि से (निश्चय-नय से) विचार किया जाय तो दूसरा कोई भी हमारा सिर नहीं काट सकता। हमारा सिर हम स्वयं ही काट सकते हैं। हमने बुरे कर्म किये होंगे तो इसी कारण कोई हमारा सिर काट सकता है। बुरे कर्म न किये हों तो लाख प्रयत्न करने पर भी कोई हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

ज्ञानस्वरूप आत्मा सिंह के समान पूर्ण अधिकारी है और ज्ञानविकल आत्मा कुत्ते के समान है। कुत्ते को कोई ईंट या पत्थर मारता है तो कुत्ता उस पत्थर या ईंट को काटने के लिए झपटता है। वह समझता है कि यह पत्थर या ईंट ही मुझे मारने वाला है। किन्तु सिंह ऐसा नहीं करता। सिंह को गोली या तीर लगता है तो वह मारने वाले की तरफ दौड़ता है। वह

समझता है कि तीर या गोली का दोष नही है वरन् मारने वाला का दोष है।

मार डालना पशुबल है, आत्मबल नही। जैसे सिंह समझता है कि तीर या गोली मुझे नही मार रही है किन्तु उसका प्रयोग करने वाला मार रहा है, उसी प्रकार जिसमे आत्मबल है, जो विज्ञानघन है, वह समझता है कि हमारा सिर यह वैरी नहीं काट रहा है बल्कि मेरी आत्मा आप ही अपना सिर काट रही है। वैरी तो निमित्त मात्र हैं। यह हमारे कर्मों का वैसा ही हथियार बन गया है जैसा हथियार सिंह के लिए तीर या गोली बनी थी। इस मारने वाले का कोई दोष नही है। मारने वाला तो हमारे ही भीतर बैठा है।

जिसे यह ज्ञान हो जाएगा वह किसी दूसरे से लड़ाई नही करेगा, वह तो अपनी ही आत्मा के साथ जूझेगा। वह कहेगा--हे आत्मन्! तू अब विज्ञानघन हो जा। तू अपने विज्ञानघन स्वभाव को न समझने के कारण दुखी हो रहा है।

अपना सिर काटने वाले को तो छोड़िए, कई पीढ़ी के पूर्वज का सिर काटने वाले से भी लोग बोलना पसंद नही करते। आप लोग जब एक पूर्वज का सिर काटने वाले से भी मेल नही रखना चाहते और दुश्मनी रखते है तो ज्ञानी जन कहते हैं कि अपने दुरात्मा से वैर क्यों नहीं रखते? इस दुरात्मा ने विषय, कषाय, दुराचरण और भोग के वश होकर एक-एक योनि मे अनन्त-अनन्त बार चक्कर लगाये हैं। इसने

अपने को दुस्सह दुःखों का पात्र बनाया है। फिर इससे ज्यादा हानि करने वाला दूसरा कौन है?

हमारी आत्मा एक तरह से हमारा मित्र भी है और दूसरी तरह से शत्रु भी है। ऐसी स्थिति मे हमारा कर्त्तव्य है कि हम मित्र-आत्मा के साथ भेंट करें और शत्रु आत्मा से वैर करें। शत्रु आत्मा हमें अनादि काल से ऐसे घोर कष्टों में डाले हुए है कि जिसका वर्णन कर सकना भी असंभव है। इस दुरात्मा ने हमारा जितना अहित किया है उतना अहित किसी भी दूसरे वैरी ने नहीं किया। इस दुरात्मा ने ही दूसरे वैरी पैदा किये हैं। अगर मैंने इसे दूर कर दिया तो फिर कोई वैरी ही नहीं रह जाएगा।

यह शिक्षा सभी मतों के शास्त्रों मे मौजूद है। गीता भी कहती है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसीदयेत्।

अपनी आत्मा से आत्मा का उद्धार करो। आत्मा से ही आत्मा का उद्धार होगा। जब तक तुम स्वयं तैयार न होओगे, कोई भी तुम्हें नहीं तार सकता, क्योंकि डरपोक या कायरों को न तो किसी की सहायता मिली है और न मिलेगी ही। श्री-आचारांगसूत्र में भी कहा है—

पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि।

अर्थात्—अरे नर! तेरा असली मित्र तू स्वयं है। बाहरी मित्र की इच्छा क्यों करता है? भारतीयों ने आध्यात्मिक

उन्नति खूब की थी लेकिन उलटी समझ के कारण उससे हानि भी खूब उठाई। बहुतों ने समझ लिया कि धर्म के लिए हमें मिहनत भी न करनी पड़े और ईश्वर हमे सीधा मोक्ष भी भेज दे। यह गलत समझ हानि का कारण बनी। मिहनत से बचने वालों ने धर्म और ईश्वर को समझा ही नहीं है। अगर ईश्वर बिना परिश्रम किये ही तारता होता तो वह दयालु होने के कारण किसी के कहने की राह ही न देखता। अगर वह स्वय ही सब का उद्धार करता है तो किसी जीव को दुखी क्यो रहने देता है? क्या वह भी आलसी है? वास्तव मे ईश्वर तारनहार तो है पर जब तुम तरने के लिए तैयार होओगे तभी वह सहायता करेगा। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते है—

त्व तारको जिन! कथ भविना त एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्त।
यद्वा हृतिस्तरति यज्जलमेष नून—
मन्तर्गतस्य मरुत स किलानुभाव॥

—कल्याणमन्दिर।

तू जगत् का उद्धार करने वाला नही है। अगर तू उद्धार करने वाला होता तो संसार दुखी ही न रहता और न मुझे संसार के दुख भोगने पड़ते। अतएव सिवाय इसके कि तू तारक नही है, और क्या कहूँ? मगर एक हिसाब से तू तारक भी है। जब कोई तुझे हृदय मे धारण करता है तो तू उसे

तार देता है। इस प्रकार तू तारक है भी और नहीं भी है।

मशक में हवा भर कर उसका मुँह बाँध दिया जाय और उसका आश्रय लेकर तैरा जाय तो वह तार देती है। लेकिन अगर उसमे हवा न भरी जाय या हवा के बदले पत्थर भरे जाएँ तो वह नहीं तिरा सकती। वैसे वायु तो सभी जगह है लेकिन जो उसे अपना कर भर लेता है उसी को वह तिराती है।

आचार्य कहते हैं—हे प्रभु! तू वायु के समान है और मै मशक के समान। अगर मै तुझे हृदय मे धारण कर लूँ तो तू बिना तारे नहीं रहेगा। अगर तुझे हृदय मे धारण न करूँ और तेरे बदले विषय-कषाय आदि पत्थर भर लूँ तो तू कैसे तारेगा? फिर तेरा क्या दोष है?

वायु मशक को तिराने वाली है लेकिन वह कहती है कि मुझे अपने भीतर भरो तो मैं तुझे तारूँगी। अन्यथा मेरे भरोसे मत रहना। इसी तरह परमात्मा कहता है—मुझे हृदय मे धारण कर लो तो मैं संसार-सागर के जल मे तुम्हे नहीं डूबने दूँगा। अगर ऐसा न किया तो मै क्या कर सकता हूँ!

मै अभी कह चुका हूँ कि आत्मा से आत्मा का उद्धार करो। आत्मा से आत्मा का उद्धार किस प्रकार करना चाहिए, यही बात मै थोड़े में कहता हूँ। अगर आपको अपना उद्धार करना है तो ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनो। अपना उद्-

धार करना शुरू कर दो। मैं जो मार्ग बतला रहा हूँ उस मार्ग पर बड़े से बड़ा विद्वान् भी चल सकता है और बालक भी चल सकता है। पण्डित और बालक दोनों के लिए यह मार्ग सुगम है। इस मार्ग का अवलम्बन लोगे तो आपका काम सिद्ध हो जाएगा। वह मार्ग यह है—

तो सुमरण विन आणि कलियुग मे,
अवर न कोइ अधारो।
मैं वारी जाऊँ तो सुमरण पर,
दिन-दिन प्रीति वधारो।
पद्मप्रभु पावन नाम तिहारो,
पतित उधारनहारो॥ पद्म०॥
परम धरम को मरम महारस,
सो तुम नाम उचारो।
या सम मन्त्र नही कोउ दूजो,
त्रिभुवन मोहनगारो॥ पद्म०॥

इस प्रकार का अभ्यास करो और इस आत्मा को समझा लो कि हे आत्मा! तू इस सर्वव्यापक परमात्मा को छोड़कर दुरात्मा मत बन। तू उस परमात्मा का ध्यान उठते-बैठते कर और आठो पहर उसका जप चलने दे। उसके जप में आठों पहर रहने से तेरे पास पाप फटकेगा ही नही।

मै संतों, सतियों, श्रावकों और श्राविकाओ से कहता हूँ कि जो काम परमात्मा की आज्ञा मे हैं उनके लिए तो कुछ

कहना ही नहीं है, लेकिन आग-याहर के काप जैसे ही तुम्हारे सामने आवें वैसेही तुम परमात्मा की शरण मे जाओ। वैरी के सामने आते ही शस्त्र छोड़ देना कायरता है। काम क्रोध आदि ही तुम्हारे असली वैरी है। यह जब तुम्हारे पास आवें तब तुम परमात्मा से प्रार्थना करो—'प्रभो! इनसे हमें बचा।' ऐसा करने से वे वैरी तुम्हारा कुछ भी नही बिगाड़ सकेगे। मगर कठिनाई यह है कि ऐसे विकट प्रसंग पर लोग परमात्मा को भूल जाते हैं और इसी कारण परमात्मा उनकी रक्षा नही कर सकता।

शत्रु का हमला कभी न कभी होना ही है। हमला न हो तो परीक्षा कैसे हो? मगर हमला होने पर जो परमात्मा की शरण जाता है उसे क्षण-क्षण मे सहायता मिले बिना नहीं रहती। जो मन और वाणी के भी अगोचर है, जिसकी शक्ति के सामने तलवार, आग, जहर और देवताओं की शक्ति भी तुच्छ है, उस महाशक्ति के सामने सारा संसार तुच्छ है।

जो रूठे उसको रूठन दे, पर तू मत रूठे मन बेटा।
एक नारायण नहीं रूठे तो सब के काट लू चोटी-पटा॥[१]

इस उक्ति का अर्थ पलट दिया जाय तो बात दूसरी है। नहीं तो यह समझ लो कि जो रूठता है उसे रूठने दो, लेकिन तू मत रूठ। जिस मशक ने वायु को अपने भीतर भलीभाँति भर लिया है, उस मशक को कोई भी तूफान नहीं डुबा

[१] इसकी व्याख्या इसी पुस्तक में अन्यत्र आ चुकी है।

सकता। इसी प्रकार हे आत्मा! काम क्रोध आदि का कैसा ही तूफान आवे तू ईश्वर की शरण मत छोड़।

मित्रो! आत्मा को अमृतमयी बनाओ। यह मत समझो कि माला हाथ में ले लेने से ईश्वर का भजन हो जायगा। ईश्वर को अपने हृदय में विराजमान करो। जब तक शरीर में प्राण हैं तब तक जैसे निरन्तर श्वास चलता रहता है, उसी प्रकार परमात्मा का ध्यान भी चलता रहना चाहिए। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए अपथ्य और तामसिक भोजन तथा खोटी संगति को त्यागकर शुद्ध अन्तःकरण से उसका भजन करोगे तो उसे प्राप्त करने की सिद्धि भी अवश्य मिलेगी।

भाइयो! यह समय अपूर्व है। जो अवसर मिला है वह बार-बार नहीं मिलेगा और प्रतिक्षण चला जा रहा है। इसे परमात्मा के ध्यान में लगाओ। परमात्मा के ध्यान से तुम्हे सन्मति प्राप्त होगी। तुम्हारे कुकर्म छूट जाएँगे और तुम्हारे लौकिक-व्यवहार में कोई बाधा नहीं आवेगी।

कुछ लोग कहा करते हैं कि परमात्मा का भजन करने पर भी हमारा अमुक काम सिद्ध नहीं हुआ। मगर वे यह नहीं सोचते कि उन्होंने ऐसा भजन किया है जो परमात्मा को पसंद नहीं है। यों तो रावण भी भक्त था। लेकिन मंदोदरी ने उससे कहा—

> सुनहु नाथ! सीता बिन दीन्हे।
> हित न तुम्हार शंभु अज कीन्हे॥

तुलसीदासजी ने शंभु और ब्रह्मा की बात कही है और हम लोग कह सकते हैं कि सीता को दिये बिना अर्हन्त भी हित न करेंगे। रावण अगर सीता को लौटा देता तो उसे भजन से आनन्द मिलता। लेकिन उसने इस बात पर ध्यान नहीं दिया। इसी प्रकार आपने जो भक्ति की होगी उसमें कोई कारण ऐसा होगा जो परमात्मा को पसंद नहीं होगा। इस-लिए शुद्ध अन्तःकरण से, दूसरे के हिताहित का ध्यान रखते हुए परमात्मा का ध्यान करो। ऐसा करने से अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा।

५

लक्ष्यभ्रष्ट न होओ

——..: ()::::——

भगवान् अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक से कहा—राजन्! कई लोग नाथ होने के लिए उद्यत होकर भी इन्द्रियों के या कषाय के वश होकर सांसारिक पदार्थों मे गृद्ध हो जाते हैं और परिणाम यह होता है कि वे फिर अनाथ हो जाते हैं। उनकी साधु बनने की रुचि निरर्थक हो जाती है, क्योंकि उसका मुख्य प्रयोजन नष्ट हो जाता है। जो साधु के आचार-विचार से विरुद्ध चलता है फिर भी साधु का वेष धारण किये रहता है, वह प्राणी पामर है। ऐसा मनुष्य इस लोक के सुखो से भी वञ्चित रहता है और परलोक के सुखों से भी कोरा रह जाता है।

वह इस लोक के सुखों से वंचित यो रह जाता है कि लोकलज्जा के मारे उसे केशलोंच करना पड़ता है, नंगे पैर पैदल चलना पडता है और भिक्षाटन आदि बाह्य क्रियाएँ साधुओं की ही तरह करनी पड़ती है। मतलब यह है कि

साधु जिन कष्टों को सहन करते है, उन्हें उसे भी सहन करना पड़ता है। फिर भी उसका कष्ट सहना उत्तम अर्थ में नहीं लगता। वह जो कुछ करता है, जो कष्ट सहता है सो सिर्फ इसलिए कि लोग उसे साधु समझें। वह आडम्बर करता है और असलियत की उपेक्षा करता है। इस प्रकार वह ऐहलौकिक सुखों से भी वञ्चित रहता है और पारलौकिक सुखों से तो वञ्चित है ही। वह न इधर का रहता है न उधर का रहता है। 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' की कहावत उस पर पूरी तरह घटती है। ऐसे व्यक्ति का इस लोक मे भी कोई आदर नहीं करता और परलोक मे तो उसे पूछेगा ही कौन? वह जो कष्ट सहन करता है सो समभाव से नहीं करता। ऐसा मनुष्य अनाथ का अनाथ ही बना रह जाता है।

कोई भी मनुष्य हो, वह जिस उद्देश्य के लिए घर से निकलता है उसके विषय में सावधानी न रक्खे तो सासारिक कामों के लिए जैसे गृहस्थ उलाहना देते हैं, उसी तरह पारलौकिक कार्य के लिए शास्त्र उलाहना देते हैं। अपने ध्येय को भूल जाने वाले ऐसे मनुष्य की क्या दशा होती है, यह सब लोग समझ सकते हैं। इस संबंध में मैं अपने स्वानुभव की बात कहता हूँ।

गृहस्थ लोग संवत्सरी के दूसरे दिन जमाई को बुलाकर कोई भेट देते हैं और उससे खमतखामणा करते है। जब मैं बालक था तो मेरे संसारी मामाजी ने रिश्ते के एक जमाई को

बुला लाने के लिए मुझ से कहा। मै घर से चला। रास्ते में कुछ बालक कौड़ियों और पैसों का खेल खेल रहे थे। मै वहाँ खड़ा हो गया और खेल देखने लगा। मै किसलिए घर से निकला हूँ, यह बात बिलकुल भूल गया। पारणा करके घर से निकला था। खाने पीने की चिन्ता नही थी। खेल में मेरा मन इतना उलझ गया कि मध्याह्न हो गया और धीरे-धीरे करीब दो बजे का समय हो गया। खेल खत्म हुआ तब मामाजी की बात याद आई। मामाजी स्वभाव के बड़े क्रोधी थे। अतएव मुझे बहुत भय हुआ कि न जाने कैसी बीतेगी।

सारांश यह है कि जो जिस काम के लिए उठा है, उसे अगर पूरी तरह नही करता है तो स्थिति विषम हो जाती है। वह लक्ष्यभ्रष्ट होकर कष्ट ही पाता है। इसलिए ऐ साधुओ, तुम सावधान होओ। तुमने जिस महान् ध्येय को प्राप्त करने के लिए संसार के सुखों का परित्याग किया है, जिस सिद्धि के लिए तुम अनगार, अकिंचन और भिक्षु हुए हो, उस ध्येय को क्षण भर भी मत भूलो। उसकी पूर्ति के लिए निरन्तर उद्योगशील रहो। तुम्हारा प्रत्येक कार्य उसी लक्ष्य की सिद्धि मे सहायक होना चाहिए।

जो मनुष्य अपने लक्ष्य को भूल जाता है उसका सारा कष्ट सहन निरर्थक हो जाता है और उसका कहना भी असत्य हो जाता है कि मै अमुक कार्य के लिए उठा हूँ। कोई आदमी धन कमाने के लिए उठा और अपनी लापरवाही के कारण

गांठ की पूँजी गँवा बैठा तो यही कहा जाएगा कि उसने अपने लक्ष्य से विपरीत काम किया। इस धन कमाने के लिए उठने वाले को और धन न कमाने वाले को कष्ट तो वही हुए जो कमाने वाले को होते हैं। स्त्री, माता, पिता आदि छूटे, परदेश जाना पड़ा, सफर की दिक्कतें भोगनी पड़ीं, घर में जो स्वतन्त्रता थी वह बाहर नहीं रही। यह सब कष्ट सहने पर भी काम उलटा किया। जिस उद्देश्य को लेकर घर से निकला था वह उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। इस प्रकार वह न इधर का रहा, न उधर का रहा। पूँजी गँवाकर घर लौटने वाले को सकोच और लज्जा का भी अनुभव होता है। कदाचित् लौट भी आता है तो घर के लोग उससे घृणा करते हैं, उसे फटकारते हैं और खुद भी दुखी होते हैं।

यह लौकिक बात है। पारलौकिक बात भी इसी तरह समझना चाहिए। साधु बनने के लिए उठने वाले को घर-बार छोड़ना ही पड़ा। साधु अवस्था के कष्ट भी व्यावहारिक लज्जा के कारण सहने पड़े और नतीजा कुछ न निकला। यही नहीं वरन् उलटी हानि हुई। केशलौंच, भिक्षा, विहार आदि, जो साधु को करने पड़ते हैं, वह सब तो लोकलज्जा के कारण करने ही पड़े परन्तु उनमें श्रद्धा न होने से वे फलदायक नहीं हुए, क्योंकि वे सिर्फ लोकदिखावे के लिए ही किये गये। जब तक कोई देखता रहता है, तब तक वह नियमों का पालन करता है, और जब कोई नहीं देखता

तब उन्हें भग कर देता है। साधुपन ऊपर से पालने की वस्तु नहीं है। वह अन्तरात्मा से पाला जाता है। अतएव जब तक आत्मा शान्त नहीं हुआ है और उसे शान्त करने का प्रयत्न भी नहीं किया जाता है तब तक साधुपन का दिखाना व्यर्थ है। ऐसा मनुष्य दोनों लोकों से भ्रष्ट हुआ है। ऐसे साधुवेषी की संयम की रुचि विपरीत हो गई है। इसलिए वह इस लोक के भी सुखों से वंचित है और परलोक के सुखों से भी वंचित है।

यह कथन सभी के लिए लागू होता है। चाहे कोई साधु हो या श्रावक हो, ऊपर से साधु या श्रावक होने का दिखावा करना और भीतर पोल चलाना उचित नहीं है। आत्मा के वैरी मत बनो। आत्मा को मत ठगो। तुम्हारा आत्मा ही मित्र है और आत्मा ही शत्रु है। अपनी आत्मा से पूछो कि तू जो कर रहा है सो किस विचार से कर रहा है? जो आदमी जिस काम को अन्तरात्मा से करेगा उसे उस काम में कष्ट का अनुभव नहीं होगा। यही नहीं, उसके मनोयोग की शक्ति, जो कार्य को सम्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भाग लेती है और कार्य को साध्य बनाती है, उसके साथ होगी। उसे कार्य करते समय और कार्य करने के पश्चात् भी आह्लाद का अनुभव होगा। इसके विपरीत जो मनुष्य किसी काम को बोझ समझेगा और ऊपरी मन से करेगा, वह उसे कष्ट रूप समझेगा। उसे अपने कार्य से संतोष और सुख नहीं मिलेगा

और अच्छे से अच्छे कार्य का भी उत्तम फल वह प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति साधुपन पर श्रद्धा नहीं रखता है लेकिन ऊपर से साधु बना हुआ है, उसके लिए वह संयम भी दुःखदायी हो जाता है। जो व्यक्ति श्रद्धा और उत्साह के साथ संयम का पालन करता है उसे संयम के कष्ट का अनुभव ही नहीं होता। वह कष्टों को भी आनन्द के रूप में पलट लेता है। यह इतनी सरल और सीधी बात है कि प्रत्येक आदमी अपने ही अनुभव से इसे समझ सकता है। संसार-व्यवहार की बातों को ही लीजिए। आपको कहीं हजार रुपये मिलने की आशा होगी तो आप उसी समय दौड़े जाएँगे। उस समय आपको इतनी स्फूर्ति और इतना उत्साह मालूम होगा कि सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि का कष्ट मालूम ही नहीं पड़ेगा।

यों किसी का मुँह काला कर दिया जाय या धूल फेंकी जाय तो वह आग बबूला हो जायगा। लेकिन फागुन के महीने में ऐसा उन्माद छा जाता है कि काला मुँह करने पर पर और धूल फेंकने पर आनन्द माना जाता है। जब फागुन के महीने में मिथ्या उन्माद के कारण ऐसा करने पर भी दुःख नहीं होता तो जिसे ज्ञान का उन्माद हो गया है उसे क्यों दुःख होगा?

पुत्र और पुत्री के विवाह में माता रात दिन एक कर देती है, फिर भी उसका मन आनन्द ही पाता है; क्योंकि

उसके हृदय में उत्साह होता है।

जब उत्साह के कारण संसार-व्यवहार के कठिन कार्यों मे दुःख का अनुभव नहीं होता तब जन्म-जन्मान्तर के कष्ट मिटाने वाले संयम को पालने मे क्यों कष्ट मालूम होगा? लेकिन जिन्होंने कपटपूर्ण संयम लिया है, उन्हे बोलने, चलने, खाने, पीने आदि मे पद-पद पर खेद मालूम होता है। भगवान् ने कहा है कि जिस साधु के संकल्प-विकल्प न मिटे उसे साधुपन में पद-पद पर कष्ट होते हैं। इसलिए साधु में सकल्प-विकल्प रहना अनाथता के लक्षण है।

सारांश यह है कि अन्तरात्मा मे पूरी सद्भावना स्थापित करके साधुपन पालने वाला ही सनाथ बनता है। ऊपर ऊपर के भाव से काम करने वाला सनाथ नही, अनाथ ही है।

दुकान मे मुनीम भी काम करता है और सेठ का लड़का भी काम करता है। मुनीम तनख्वाह लेता है और सेठ का लड़का कुछ भी नही लेता। लेकिन पैसे के लिए काम करने वाले में और घर का काम समझ कर करने वाले मे कितना अन्तर होता है?

'बहुत!'

जो अपना कार्य समझ कर कार्य करता है वह मालिक बन कर करता है, गुलाम बन कर नही। मालिक और गुलाम में जो अन्तर है वही आन्तरिक उत्साह और सद्भावना के

साथ संयम पालने वाले और बिना मन लोकदिखावे के लिए संयम पालने वाले साधु मे है। जो भावना के साथ संयम पालता है वह मालिक के समान है और जो दिखावे के लिए संयम का पालन करता है वह गुलाम के समान है।

आप लोग श्रावक हैं। आप केवल मुनिपन की दृष्टि से अनाथ हैं, श्रावकपन की दृष्टि से सनाथ हैं। इस दृष्टि से आप आप इन्द्र से भी बड़े हैं। इन्द्र श्रावकपन की दृष्टि से भी अनाथ है। अतएव आप अपने गौरव को समझें। अपने पद की उच्चता को समझ कर उसका पूरी तरह निर्वाह करें। अतीत काल में भगवान् के शासन मे अनेक श्रावक हो चुके है। आपका पद उन्हीं की कोटि का है। आप उनके उत्तराधिकारी हैं। ऐसा कोई काम न करें जिससे आपकी और आपके द्वारा उनकी भी कीर्त्ति में धब्बा लगने की संभावना हो। इसके अतिरिक्त आप जो कुछ भी करें, दीनता और पराधीनता त्याग कर करें। आपको यह समझना उचित है कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ वह अपना काम कर रहा हूँ। मै गुलामी का काम नहीं कर रहा हूँ।

कल्पना कीजिए, दो गुमाश्ता हैं। उनमे एक श्रावक है और दूसरा अश्रावक है। इन दोनों के कार्य में कुछ अन्तर तो होना ही चाहिए। अगर कुछ भी अन्तर नहीं है तो दोनों के धर्म का अन्तर सर्वसाधारण की समझ में कैसे आएगा? साधारण जनता तो धर्म के अनुयायी व्यक्तियों के आचरण से ही उनके धर्म की परीक्षा करती है। वह तात्विक विवेचना की

गंभीरता मे नही उतरती ।

सच्चा श्रावक कभी नहीं सोचेगा कि मै गुलामी का कार्य करता हूँ। वह तो यही समझेगा कि मै जो कुछ करता हूँ, अपने धर्म की साक्षी से करता हूँ। कहीं ऐसा न हो कि मेरे किसी कार्य से मेरे व्रत मे दोष लग जाय और मेरे व्यवहार से मेरे धर्म की प्रतिष्ठा मे कमी हो जाय। मै नौकर हूँ, लेकिन सत्य का। शास्त्र की कथाओ मे उल्लेख है कि ऐसा समझने वालों को अनेक प्रलोभन दिये गये, यहाँ तक कि प्राण जाने का भी अवसर आ पहुँचा, फिर भी वे अपने सत्य धर्म से विचलित नही हुए।

मतलब यह है कि चाहे कोई मुनीमी करे या मजदूरी करे, अगर वह सच्चा श्रावक है तो यही विचारेगा कि मै पैसे के लिए ही नौकरी नही करता हूँ। मुझे अपने धर्म का भी पालन करना है। जो ऐसा विचार करके प्रामाणिकता के साथ व्यवहार करेगा वही सच्चा श्रावक होगा। जो पैसे का ही गुलाम है वह धर्म का पालन नही कर सकता। सच्चा श्रावक अपने मालिक के बताये हुए भी अन्यायपूर्ण काम को करना स्वीकार नही करेगा।

पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज एक बात कहा करते थे। वह इस प्रकार है.—

किसी सेठ के यहाँ एक प्रामाणिक मुनीम था। अपने सेठ का काम वह धर्मनिष्ठा के साथ किया करता था। एक बार

सेठ ने मुनीम की सलाह नहीं मानी और इस कारण उसका काम कच्चा रह गया। सेठ ने कुछ दिनों तक तो अपना आडम्बर कायम रक्खा मगर पूंजी के बिना कोरा आडम्बर कब तक चल सकता था? जब न चल सका तो एक दिन सेठ ने बड़े दुःख के साथ मुनीम से अपने लिए दूसरी आजीविका खोज लेने को कह दिया। उसने लाचारी दिखलाते हुए अपनी स्थिति का भी हाल बतला दिया, यद्यपि मुनीम से कोई बात छिपी हुई नहीं थी।

मुनीम ने कहा—अपना संसार-व्यवहार चलाने के लिए मुझे कोई धन्धा तो करना ही पड़ेगा, लेकिन आप यह न समझें कि मैं पराया हूँ। जब कभी मेरे योग्य काम आ पड़े आप निस्संकोच होकर मुझे आज्ञा दें। अधिक तो क्या, मैं प्राण देने के लिए भी तैयार हूँ।

इस प्रकार बड़े दुःख के साथ सेठ ने मुनीम को विदा किया और मुनीम भी बड़े दुःख के साथ विदा हुआ।

मुनीमजी घर बैठे रहे। नगर में बात फैल गई कि अमुक मुनीमजी आजकल खाली हैं। उसी नगर में एक वृद्ध सेठ रहता था। वह खूब धनवान् था। उसके बच्चे छोटे थे। वह चाहता था कि मैं व्यापार और बालकों का भार किसी विश्वस्त आदमी को सौंपकर कुछ धर्म-कर्म करने में लगूं। मगर उसे अपने नौकरों में ऐसा कोई नहीं दिखता था जो उसका काम-काज संभालकर ईमानदारी से काम कर सके।

आज के लोग तो अपनी आयु संसारकार्य में ही पूरी कर देते है, परन्तु पहले के लोग चौथी अवस्था मे या तो साधु हो जाते थे या साधु न होने की अवस्था में धर्मध्यान में लग जाते थे। इससे आगे वालों के सामने एक अच्छा आदर्श खड़ा हो जाता था और वह अपना कल्याण कर लेता था।

सेठजी को उन मुनीमजी के खाली होने की खबर लगी। वह मुनीम को जानते थे। अपना काम-काज सँभालने के लिए सेठजी ने उन्हें उपयुक्त समझा और एक दिन बुलाकर कहा—मै आपकी चतुराई से परिचित हूँ। आप हमारी दुकान का काम-काज सँभाल लें। मुनीम आजीविका की तलाश मे था ही। उसने सेठजी की दुकान पर रहना स्वीकार कर लिया। सेठजी ने उसे सब नौकरों का अध्यक्ष बनाकर सब काम उसके सुपुर्द कर दिया।

थोड़े दिन बाद सेठ ने मुनीम से कहा—अमुक बही के अमुक पाने का खाता निकालिए। मुनीम ने खाता निकाला। खाता उसी सेठ का था, जिसके यहाँ मुनीम पहले नौकर था और जिसकी आर्थिक स्थिति खराब हो गई थी। खाते में कुछ रुपया बकाया था। सेठ ने कहा—यह रकम वसूल कीजिए।

मुनीम बही लेकर उस सेठ के यहाँ पहुँचे। सेठ ने प्रेम के साथ आदर-सत्कार करके बिठलाया। मुनीम संकोच के कारण मुँह से तकाज़ा न कर सका। उसने खाता खोलकर

सेठ के सामने रख दिया। सेठ समझ गया। उसने आँसू भरकर कहा—मुनीमजी, रुपया तो देना है, लेकिन इस घर की दशा आपसे छिपी नहीं है। मैं क्या करूँ?

मुनीम ने कहा—आप दुखी न हों। मैं स्थिति से परिचित हूँ। अगर मैं ने अपने नये सेठजी को वहीं उत्तर दे दिया होता तो ठीक न रहता। इसी विचार से मैं यहाँ तक आया हूँ।

वहीखाता लेकर मुनीमजी लौट आये। सेठ के पूछने पर उन्होंने कहा—खाते मे रकम ज्यादा वकाया है। अभी चुकता कर देने की उनकी शक्ति नहीं है। कभी उनके दिन पलटेंगे तो चुका देंगे। वे हजम करने वाले आसामी नहीं है।

सेठ बोला—पहले के सेठ होने के कारण आप उनकी खुशामद करते है। हमारे नौकर होकर उनका रुख रखना उचित नहीं है। इतना बडा घर था। बिगड़ जाने पर भी गहने-बर्तन आदि तो होंगे ही। अगर सीधी तरह नहीं देना चाहते तो दावा करके वसूल करो।

मुनीम—मै जानता हूँ कि उनकी आमदनी ऐसी नहीं है। किसी प्रकार अपना निर्वाह कर रहे हैं और इज्जत लेकर बैठे हैं। उनकी आबरु बिगाड़ना मेरा काम नहीं है। मै तो आपकी और उनकी इज्जत बराबर समझता हूँ।

कुछ कठोर पड़ कर सेठ ने कहा—जिसे रोटी की गरज होगी उसे किसी की आबरू भी बिगाड़नी पड़ेगी।

मुनीम ने यह बात सुनी तो चाबियों का गुच्छा सेठजी

के सामने रख दिया और कहा—सेठ साहब, मुझे विदाई दीजिए।

सेठ—अच्छी तरह सोच-विचार लीजिए। मैंने आपको रोज़गार से लगाया है। सब कर्मचारियों का प्रधान बनाया है और आप मेरे साथ ऐसा सलूक करते है ?

मुनीम—जो अपनी इज्ज़त के महत्त्व को नही समझता वही दूसरे की इज्ज़त बिगाड़ता है। एक दिन वे भी मेरे मालिक थे। आज उनकी स्थिति ऐसी नही है, तो क्या मै उनकी इज्जत बिगाड़ने लगूँ ? मैंने उनका नमक खाया है और वह मेरे सारे शरीर में व्यापा हुआ है। मै उनकी प्रतिष्ठा नष्ट नही करूँगा। फिर भी अगर आप रकम वसूल करना ही चाहेंगे तो मैं अपनी जायदाद से चुकाऊँगा। मै सिर्फ पैसे का गुलाम नही हूँ। मै धर्म से काम करने वाला हूँ।

मुनीम की बात सुनकर सेठ को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने धन्यवाद देते हुए कहा—मुनीमजी, मै आपकी कसौटी करना चाहता था। मेरी आज तक की चिन्ता दूर हो गई। यह चाबियाँ सँभालिये। अब आप जाने और दुकान जानें। अब यह घर और बाल-बच्चे मेरे नहीं, आपके हैं। मेरे सिर का भार आपके ऊपर है।

मित्रो ! यदि मुनीम पैसे के प्रलोभन में पड़कर, आजीविका रखने की चिन्ता से धर्म को भूल जाता तो क्या परिणाम निकलता ?

आज के लोग श्रावक कहलाते हुए भी स्वतंत्र रहने में कठिनाई का अनुभव करते हैं।

भगवान् अनाथी मुनि ने यही कहा था कि नाथ बनकर किसी काम को करना एक बात है और गुलाम बनकर करना दूसरी बात है। नाथ बनकर साधुधर्म का पालन करना और बात है और गुलाम बनकर सिर्फ दिखाने के लिए पालन करने का ढोंग करना और बात है।

सेठ और मुनीम का जो उदाहरण दिया गया है वह भाई-भाई और पिता-पुत्र आदि के लिए भी लागू होता है। धर्मात्मा पुरुष किसी के साथ दगा नहीं करता। वह प्राण देने को तैयार हो जाता है पर अपना धर्म नहीं छोड़ता। धर्म को वह प्राणों से ज्यादा प्यारा समझता है। धर्म उसके लिए परम कल्याणमय होता है। वह समझता है कि मैं नास्तिक नहीं, आस्तिक हूँ। आत्मा अमर है। मैं अनन्त काल तक रहने वाला हूँ। इसलिए थोड़े समय तक रहने वाली तुच्छ चीज के लोभ मे पड़कर मैं धर्म का परित्याग नहीं कर सकता। इस प्रकार विचार करने वाला मनुष्य सदा सुखी रहता है।

राम और लक्ष्मण भाई-भाई थे तो क्या राम अकेले वन चले जाते और लक्ष्मण घर बैठे मौज करते रहते? सीता, राम की पत्नी होकर भी क्या राजमहल के सुख भोगती रहती? धर्म की कसौटी संकट के समय ही होती है। बल्कि संकट

को ही धर्म की कसौटी समझना चाहिए।

यह बात पहले तो मुनियों और सतियों को सोचनी चाहिए। उन्होंने माता-पिता का त्याग कर दिया है लेकिन क्या संसार के जीव अनन्त-अनन्त वार माँ-बाप न हो चुके होंगे? वह मुनीम अपने पुराने सेठ की आबरू नहीं बिगड़ना चाहता। तो क्या अपने पुराने माँ-बाप की आबरू बिगाड़ना उचित है? लेकिन जब आत्मा का पतन होता है तो वह काय की दया उठ जाती है। मगर जो मनुष्य यह विचार करता है कि विश्व के समस्त प्राणी मेरे पुराने मित्र है, संबंधी है, सेठ है, वह प्राणी मात्र पर दया और प्रेम की भावना रखता है। वह त्रिकाल में कभी अनाथ नही होगा।

× × × ×

एक बार गृहस्थी का त्याग करके, साधु होकर फिर अनाथ अर्थात् इन्द्रियों का गुलाम बन जाता है, वह निरर्थक कष्ट मोल लेता है। इतना ही नहीं, वह अपनी आत्मा को नीचे गिराता है, अपने संघ की उज्ज्वल कीर्ति को कलंकित करता है और अपने धर्म को बदनाम करता है।

सुना है, बन्दर को पकड़ने वाले लोग उसे पकड़ने के लिए जगल में किसी लोहे के या लकड़ी के पात्र में, जिसका मुँह सँकड़ा होता है, चने भर देते है। बन्दर उस पात्र में चने लेने के लिए हाथ डालता है और चनों से मुट्ठी भर लेता है। पात्र का मुँह इतना संकड़ा होता है कि उसमें

खाली हाथ तो आ जा सकता है, मगर मुट्ठी बँधा हाथ न घुस सकता है और न निकल सकता है। बन्दर मुट्ठी मे चने लेकर हाथ निकालना चाहता है किन्तु हाथ निकलता नही। अगर बन्दर चनो का प्रलोभन त्याग दे तो हाथ छुड़ा सकता है, अन्यथा नही। इस प्रकार बन्दर चनें के लोभ मे पड़कर अपने लिए बंधन का निर्माण कर लेता है। वह चना छोड़ना नहीं चाहता और इसी कारण बंधन से मुक्त भी नहीं हो सकता। वह तड़फड़ाता रहता है और पकड़ने वाले उसे पकड़ लेते हैं।

इसी प्रकार संसारी जीव स्वय ही सासारिक सुख-साधनें के प्रलोभन मे पड़कर अपने लिए बंधन तैयार करते हैं। इसी तरह साधुवेषधारी असाधुओ मे भोगविलास की लालसा विद्यमान रहती है। जैसे बन्दर चनें का त्याग नही कर सकता उसी प्रकार वे साधुवेषधारी असाधु भोगलालसा का त्याग नही कर सकते। मगर जैसे बन्दर पात्र से छुटकारा चाहता है उसी प्रकार वे भी आत्मा का कल्याण चाहते है। लेकिन जैसे बन्दर चनों का लोभ छोड़े बिना छुटकारा नही पा सकता, उसी प्रकार साधु हो जाने पर भी संसार की भोगलालसा का त्याग किये बिना मुक्ति नही मिल सकती।

बड़े-बड़े ग्रंथकार कह गये है कि इस विषम कालमें महापुरुषों के पन्थ पर चलना ही कल्याणकारी है।

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना-
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।

धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायां,

महाजनो येन गत स पन्थाः ॥

अर्थात्—तर्क अस्थिर है। गेंद की तरह वादी-प्रतिवादी के वचनों की ठोकर खाकर वह इधर-उधर लुढ़कता फिरता है। श्रुति-स्मृति आदि के निर्माताओं की मति भिन्न-भिन्न होने से श्रुति-स्मृति का कथन भी भिन्न-भिन्न है। इस भिन्न-भिन्न कथन की गड़बड़ में लोग पड़ गये हैं और इस कारण धर्म का तत्त्व इतना दूर चला गया है मानों गुफा में छिप गया है। लोग विचार करते है कि इस काल में हम क्या करें? सब मतों का अध्ययन करके अगर उनका निचोड़ निकालना चाहें तो यह संभव नहीं। संसार में इतने अधिक मत और पन्थ है और इतने अधिक ग्रन्थ एवं शास्त्र है कि सारी उम्र व्यतीत हो जाने पर भी उनके अध्ययन का अन्त नहीं आ सकता। ऐसी विकट परिस्थिति में आत्मा का कल्याण किस प्रकार किया जाय?

दुनिया की इस स्थिति में ग्रंथकार कहते हैं—घबराओ मत। जिस मार्ग पर महापुरुष चले हैं उसी मार्ग पर चलो और चलते ही रहो। उसी मार्ग पर चलने में कल्याण है। उस पर चलने से अकल्याण नहीं हो सकता।

तब प्रश्न खड़ा होता है कि महापुरुष कौन? प्रत्येक मत और पन्थ वाले अपने-अपने मत और पन्थ को महापुरुष का मत और पन्थ कहते हैं और वे परस्पर में विरोधी हैं। ऐसी

स्थिति में महापुरुष का मार्ग कौन-सा समझा जाय ? किस पर चलें ?

जैनसिद्धान्त इस प्रश्न का जो उत्तर देता है, वह इतना व्यापक है कि उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जैन-सिद्धान्त कहता है कि महापुरुष वह है जिसमें राग और द्वेष न हो। अर्थात् जिसने राग आदि आत्मिक दोषों को पूर्ण रूप से जीत लिया हो और दोषों को जीतने के फलस्वरूप जिसमें पूर्ण ज्ञान उत्पन्न हो गया हो वही महापुरुष है।

प्रश्न का अन्त फिर भी नहीं होता। अब यह आशंका उठ सकती है कि निर्दोष और पूर्ण ज्ञानी कौन है ? लेकिन आत्मा में ऐसी शक्ति विद्यमान है कि वह महापुरुष को फौरन पहचान सकती है। आप लोग महापुरुष की खोज इसलिए करना चाहते हैं। कि आपके दोष महापुरुष का उपदेश मिलने से नष्ट हो जाएँ। तो इन दोषों के सहारे ही महापुरुष का पता लगाया जा सकता है। आपमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष हैं। इन दोषों का नाश करने के लिए ही आप महापुरुष की खोज करते हैं तो समझा जा सकता है कि जिसमे यह दोष न हों वही महापुरुष हैं। जिसमें राग-द्वेष होंगे उसके वचन सदोष होंगे और जो राग-द्वेष से मुक्त है उसके वचन भी निर्दोष हैं। उन वचनों को ग्रहण करने से हमारा कल्याण होगा ?

कहा जा सकता है कि क्या सभी साधु वीतराग है ?

अगर साधु ऐसा समझले या कहें तो समझना चाहिए कि वे दंभ और अहंकार से घिरे हैं। उन्हें विचारना चाहिए कि हम महापुरुष के पन्थ पर जा रहे हैं और दूसरों से भी वे यही कहें कि हम महापुरुष के पंथ पर चल रहे हैं। तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी इसी पन्थ पर आ जाओ। यह पन्थ हमारा नहीं है, महापुरुषों का है। महापुरुष इसी पन्थ पर चले हैं और जगत् के जीवों को इसी पर चलने की प्रेरणा कर गये है। साधु अगर ऐसा समझे और प्रकट करें तो समझना चाहिए कि वे सच्चे साधक हैं।

६

ज्ञान और चारित्र

——...:()':.:——

संसार की समस्त शिक्षाओं का सार ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति करना है। चारित्र को आचरण भी कहते हैं, मगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनों में थोड़ा सा अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है। चारित्ररूप गुणों की आराधना करने की जो विधि बतलाई गई है उस विधि के अनुसार चारित्र को पालन करना आचरण कहलाता है। विधिपूर्वक चारित्र का पालन न करने से काम नहीं चलता। विधिपूर्वक चारित्र के पालन करने का अर्थ यह है कि चारित्र का पालन ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिए। ज्ञान के साथ पाला जाने वाला आचार ही उत्तम आचार है। वही आचार सफल होता है। ज्ञानहीन आचरण और आचरणहीन ज्ञान से उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। कल्याण को अगर रथ मान लिया जाय तो ज्ञान और चारित्र उसके दो पहिये हैं। दोनों की किस प्रकार आवश्यकता है, यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझना ठीक होगा।

किसी वृक्ष के नीचे एक अन्धा और एक पंगु मनुष्य बैठा है। वृक्ष मे फल लगे है। दोनों फलो के इच्छुक है। लेकिन अन्धे को फल दिखाई नहीं देते और पगु फलों को देखता हुआ भी वृक्ष पर चढ़ने की शक्ति से रहित है। यह दोनों जब तक अलग-अलग विचार कर रहे हैं तब तक फलों की अभिलाषा रखते हुए भी फलों से वंचित ही रहते हैं। लेकिन पंगु ने अन्धे से कहा—भाई, तेरे पैरों में शक्ति है। अगर तू मुझे अपने कधे पर बिठला ले तो मैं ऊँचा हो जाऊँगा और फल तोड़ लूँगा। ऐसा करने से मेरी और तेरी--दोनों की तृप्ति हो जायगी।

इन दोनों का संयोग ही इनके लिए कल्याणकारी हो सकता है। अगर अधा, पंगु को ऊँचा उठाने से इन्कार कर दे और पंगु, अधे को फल देना अस्वीकार कर दे तो दोनों को भूखे मरना पड़ेगा।

शास्त्र में चारित्र की बड़ी महिमा प्रकट की गई है। लेकिन कोई अगर कोरी क्रिया को ही पकड़ कर बैठ जाय और वह क्रिया ज्ञानयुक्त न हो तो जैसे अधे और पंगु के सहयोग के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान के संयोग के बिना की जाने वाली क्रिया से भी फल की प्राप्ति नहीं होती।

निरे चारित्र का मार्ग अधा है। ज्ञान के अभाव में उसे मुक्ति रूपी फल नहीं सूझता। दशवैकालिक सूत्र में कहा है:—

अन्नाणी कि काही कि वा नाईहि छेयपावक।

अर्थात्—बेचारा अज्ञानी जीव क्या कर सकता है ? वह अपने कल्याण और अकल्याण को कैसे समझ सकता है ?

इसलिए उक्त सूत्र में आगे कहा गया है—

पढम नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।

अर्थात्—पहले ज्ञान की आराधना करनी चाहिए और उसके बाद चारित्र की आराधना हो सकती है। सभी संयमवान् महापुरुष ऐसा ही करते हैं। वे बिना ज्ञान के चारित्र की आराधना करना संभव नहीं मानते। इस प्रकार चारित्र की आराधना करने से पहले ज्ञान की आराधना करना आवश्यक बतलाया गया है। वास्तव में ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र की आराधना हो ही नहीं सकती।

इसी प्रकार चारित्र से रहित अकेला ज्ञान पंगु है। चारित्र की सहायता के बिना उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि अगर कोई सिर्फ क्रिया को ले बैठे और ज्ञानगुण की अवहेलना कर दे तो वह अंधे की तरह भटका-भटका फिरेगा और उसे उस फल की प्राप्ति नहीं हो सकती जिसे वह प्राप्त करना चाहता है। इसी तरह अगर किसी ने ज्ञान पाकर चारित्र की अवहेलना कर दी तो वह भी सिद्धि से वंचित रहेगा। शास्त्र में कहा है—

भणंता, अकरिंता य बंधमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमित्तेणं समासासेन्ति अप्पयं॥

अर्थात्—ज्ञान से ही बन्ध और मोक्ष मानने वाले लोग

कहते तो हैं पर करते नही है। वे अपनी वाणी की वीरता मात्र से अपनी आत्मा को आश्वासन देते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिन्होंने ज्ञान तो प्राप्त कर लिया है किन्तु जो ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करते और जो ज्ञान से ही बन्ध-मोक्ष मानकर तसल्ली कर लेते हैं वे अपनी आत्मा को धोखा देते हैं और दूसरों को भी धोखा देते हैं। इसीलिए शास्त्रकार आगे चलकर कहते हैं—

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।

अर्थात्—अपनी पंडिताई का अभिमान करने वाले चारित्र-हीन व्यक्ति नाना प्रकार की भाषाएँ भले ही जानते हों मगर वे भाषाएँ दुःख से उनकी रक्षा नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार विद्याएँ और व्याकरण आदि शास्त्र भी उनकी रक्षा कैसे कर सकते है?

इस प्रकार न तो ज्ञानविकल पुरुष सिद्धि पाता है और न क्रियाविकल पुरुष सिद्धि पाता है। जब ज्ञान और क्रिया का संयोग होता है तभी मुक्ति मिलती है। जो लोग ज्ञानहीन हैं और थोथी क्रिया को ही लिए बैठे हैं उन्हें ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान के अभाव में वे भ्रष्ट हुए बिना नहीं बच सकते। और जो लोग अकेले ज्ञान को ही लेकर बैठे है और क्रिया को निरर्थक मानते हैं उन्हें क्रिया का भी आश्रय लेना चाहिए। क्रिया के बिना वे भी भ्रष्ट हुए बिना नही रहेंगे।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है वह आत्मिक कल्याण की दृष्टि से ही कहा गया है। मगर आत्मिक कल्याण के लिए

संसार पर भी दृष्टि देना आवश्यक है। संसार पर दृष्टि दिये बिना आत्मिक कल्याण नजर नही आता। आज संसार में एक मनोभावना सर्वत्र दिखाई देती है और वह यह है कि लोग फल तो चाहते है लेकिन क्रिया करना नही चाहते। पंगु को दया से प्रेरित होकर अगर कोई फल दे भी दे तो भी रहेगा वह पंगु ही। अंधे का सहारा लेकर फल तोड़ लेने में पंगु को जो आनन्द मिल सकता है वह आनन्द दूसरे के फल देने से नही मिल सकता। जिस दिन उसे दूसरा फल नहीं देगा उसी दिन वह दुःख फिर पंगु के सामने आ खड़ा होगा।

आप लोग पगड़ी बाँधते हैं और धोती पहनते है। इस क्रिया का फल आप यही समझते हैं कि आप संसार-व्यवहार में अच्छे दिखलाई दे। ठीक दीखने के लिए आप जो धोती और पगड़ी पहनते है, उसे अगर अपने हाथ से पहन सके तब तो ठीक है कदाचित दूसरे के हाथ से पहना करें तो क्या ठीक होगा ? आज आपको सभी प्रकार की सुविधा प्राप्त है तो दूसरे के हाथ से आप पोशाक पहन सकते है। कल अगर ऐसी सुविधा नही हुई तो क्या होगा ? क्या उस समय आपमें दीनता की भावना जागृत नही होगी ? आप विषाद में नहीं डूब जायेंगे ?

इस बात पर गहराई के साथ विचार करने पर आपको मालूम होगा कि स्वतंत्रता का मूल्य क्या है ? अगर आप

सावधान होकर देखें तो आपको पता चलेगा कि आपके सब काम पराधीन है। भोजन खाना तो आपमे से सभी को आता है, लेकिन भोजन बनाना कितनों को आता है ? आप नौकर के सहारे ही भोजन खाना जानते है। कदाचित् रसोइया ने अचानक जवाब दे दिया तो क्या होगा ? कहा जा सकता है-कि ऐसी दशा मे पत्नी भोजन बना देगी। परन्तु विदेश मे, जहाँ पत्नी न हो, क्या करेंगे ? अथवा कल्पना करो कि घर में पति–पत्नी दो ही हैं और पत्नी बीमार हो गई तब क्या होगा ? ऐसे समय मे भोजन बनाकर कौन देगा ? मगर लोग तो इस भ्रम के शिकार हो रहे है कि हाथ से काम नही करेंगे तो पाप से बच जाएँगे ! मगर क्या यह पाप से छूटने का रास्ता है ? इस प्रकार की परतन्त्रता से किसी बात में सिद्धि नही मिलती। सिद्धि प्राप्त करने का या पाप से छुटकारा पाने का मार्ग निराला है।

भोजन के विषय मे आपकी जैसी स्थिति है वैसी ही अन्न, वस्त्र आदि के विषय में भी है। आप चाहते सभी कुछ है मगर स्वाधीन किसी भी चीज के लिए नहीं है। जैसे पगु पड़े-पड़े भीख माँगा करते हैं, उसी प्रकार आप इन सब वस्तुओं की इच्छा रखते हैं। पंगु और अन्धे को माँगने पर कभी–कभी कोई दे भी देता है मगर उस देने से क्या उनमें स्वाधीनता आ जाती है ?

'नहीं !'

इसी प्रकार दूसरों की सहायता से आपको भोजन, वस्त्र, अन्न आदि मिल जाय तो भी आप स्वतन्त्र नहीं हो सकते। बल्कि इस परतंत्रता के कारण आपको इन चीज़ों की क्रिया से घृणा हो गई है। आप भोजन और वस्त्र बनाने वाले को नीची निगाह से देखते हैं और उनका उपयोग करने वालों का आदर करते हैं! आपके खयाल से कपड़ा बनाना नीच का काम है और पहनना ऊँच का काम है। मित्रो! क्या यही समदृष्टि का लक्षण है? आप जिस वस्तु का उपयोग करते हैं, उस वस्तु को बनाने आदि की क्रिया न जानने से अर्थात् स्वतन्त्रता को भूल जाने से आज धर्म मे भी गुलामी हो रही है। आपमें से बहुतों को धर्म भी वही रुचिकर होगा जिसके सुनने पर क्रिया न करनी पड़े। मगर विचार करना चाहिए कि क्या यह उचित है?

मित्रो! आपको स्वाधीनता का महत्त्व समझना चाहिए। कोरी बातें बनाकर संसार पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करना सच्चे ज्ञान का फल नही है। ज्ञानी वह है जो प्रत्येक बात पर गहराई से, तात्विक दृष्टि से विचार करता है। जैनशास्त्र में ऐसा एक भी बड़े आदमी का उदाहरण नही मिलेगा, जिसने दूसरों पर हुक्म चलाया हो और आप निरुद्योगी होकर बैठा रहा हो। राजकुमार मेघ के उदाहरण को लीजिए। उसने जीवनोपयोगी बहत्तर कलाओं का अध्ययन किया था।

चन्द्रमा की बड़ाई कला से ही है। अमावस्या के दिन चन्द्रमा कहीं दूसरे लोक मे नहीं चला जाता। सिर्फ उसमें कला नही रहती। इसलिए आपको सोचना चाहिए कि जिसमें कला न होगी वह अमावस्या के चन्द्रमा के समान होगा अथवा पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान होगा ?

मेघकुमार ने बहत्तर कलाएँ सीखकर स्वतंत्र जीवन का बोध प्राप्त कर लिया था। उन्हें भोजन बनाना, वस्त्र बनाना, घर बनाना, आभरण बनाना आदि प्रत्येक जीवनोपयोगी कला का भलीभांति ज्ञान था।

मेघकुमार घर बनाना आदि समस्त कलाओं में पारंगत थे तो बने रहते। शास्त्र में इन सब बातों का उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर यही है कि शास्त्र में यह चरित देकर बतलाया गया है कि इस प्रकार का जीवन कभी परतंत्र नही हो सकता। मगर आपमें से अधिकांश लोग ऐसे निकलेंगे जो ऐसी एक भी क्रिया शायद न जानते होंगे जो जीवन की स्वतंत्रता के लिए उपयोगी हो। अलबत्ता कपट क्रिया करके पैसा कमाना लोग जानते हैं। लेकिन ऐसी क्रिया से पैसा इकट्ठा करने वाले के पास जब किसी कारण से पैसा आना बन्द हो जाता है, तब उसे हाय हाय करने के सिवाय और क्या चारा रह जाता है? आज जो हाय हाय मची हुई है, उसका प्रधान कारण यही है कि आज के लोगों का व्यापार भी स्वतंत्र नहीं है। जो पर-

तब जीवन मे ही जीवन का आनन्द मानते हैं, उन्हे क्रिया का महत्त्व कैसे मालूम हो सकता है ? लेकिन बिना क्रिया के स्वतंत्रता नही है और स्वतन्त्रता न होने के कारण हाय-हाय मची है।

अगर आप पराधीनता और परावलम्बन का त्याग नही कर सकते तो कम से कम पराधीनता पर गर्व करना तो त्याग सकते है ! आप उत्तम स्वादिष्ट भोजन करके गर्व करते हैं, लेकिन समझ नही आता कि आपके गर्व का आधार क्या है ? आपने दूसरे का दिया खाया है, फिर गर्व क्यो ? गर्व हो तो भोजन बनाने वाली बाई को हो सकता है। वह सोच सकती है कि मैंने बढिया भोजन बनाकर दूसरों का पेट भरा है ! आप किस बात पर अहकार कर सकते हैं ? और असल में उस बाई को भी गर्व करने का अधिकार नही है, क्योंकि उसने अन्न पैदा नहीं किया है। अन्न किसान पैदा करता है। कदाचित् किसान का गर्व समझ में आ सकता है। आप अपनी असमर्थता पर, पराधीनता पर और परावलम्बन पर गर्व करें तो आपकी मर्जी !

मित्रो ! आपका ध्यान, क्रिया को छोड़कर खाने-पीने में ही कल्याण समझ बैठा है और इसी कारण आप अहंकार करते है। अहंकार के बदले आत्मनिन्दा करो और तत्त्व की गहराई में जाकर विचार करो तो आपका अहकार विलीन हो जायगा।

आज मैं आपका आत्मसाक्षी बनकर आपकी ओर से आपकी निन्दा करता हूँ। मैं पूछता हूँ कि आप जिन आलीशान हवेलियों का गर्व करते हैं, उन्हें आपने बनाया है ? अगर उनका एक भी पत्थर खिसक जाय तो उसे भी आप नहीं जमा सकते। फिर गर्व का आधार क्या है ? इस तरह दूसरों के बनाये मकान में रहना परतंत्रता है—गुलामी है। इसमें स्वतन्त्रता कहाँ है ?

बहिनें बँगड़ियाँ पहन कर हाथ कड़ा रखती होंगी, लेकिन मैं पूछता हूँ कि बँगड़ी में से एक भी मोगरा निकल जाय तो क्या वे उसे बना कर जड़ सकती हैं ? अगर नहीं जड़ सकतीं तो गर्व किस बिरते पर ! यों तो गौरैया (गौर-गौरी) पुतली को भी गहने पहनाये जाते हैं, लेकिन वह क्या गर्व कर सकती है ? वह गर्व कैसे करे ? उसे तो दूसरों ने गहने पहनाये हैं। इसी प्रकार जो बहिनें दूसरों के दिये कपड़े पहनती हैं वे भी कैसे गर्व कर सकती हैं। बहिनो ! आप अपनी आत्मा को ऐसी शिक्षा दीजिए कि वह पुकार उठे—'हे आत्मा ! तुझे धिक्कार है, जो तू दूसरों की दी हुई वस्तुओंपर गर्व करती है !'

कपड़ा बनाने वाला दूसरा, सिलाई करने वाला दूसरा और धोने वाला दूसरा है। ऐसी दशा मे पहनने वाला गर्व क्यों करता है ! अगर तुम्हारे लिए काम करने वाले लोग अपना-अपना काम बन्द कर दें तो कैसी बीतेगी ? जब तुम

उनकी कल नहीं जानते तो उनके काम बन्द कर देने पर रोना स्वाभाविक है। बहिनें जो कपड़ा पहनती हैं उनमें क्या एक भी ऐसा है जो उनका खुद का बनाया हो?

'नहीं!'

पहले की रानियाँ चौंसठ कलाओं में निपुण होती थीं। वे शस्त्र बाँधकर लड़ने नहीं जाती थीं लेकिन किसी ऐसी चीज का उपयोग भी नहीं करती थीं जिसे बनाना उन्हें न आता हो। वे नये-नये कला कौशल निकाल कर अपने वस्त्राभूषण सजाया करती थीं। आज की स्त्रियाँ यह सब कहाँ करती हैं? दर्जी मशीन से बेलबूटे निकाल देता है और ये पहनकर अभिमान करती हैं कि ऐसी चीज उसके पास नहीं है, मेरे पास है! लेकिन बहिनो! जरा विचार करो कि तुम्हारा क्या है जिस पर तुम गर्व करती हो!

भाइयो! आप मुझे अपना धर्मगुरु मानते हैं। इसलिए मैं कहता हूँ आप अभिमान का त्याग करें। मैं आपको निर-भिमान देखना चाहता हूँ। चक्रवर्त्ती भी, जो स्वयं कपड़ा बनाने की कला में कुशल होते थे, कपड़ों का अभिमान नहीं करते थे, तो आप जो कपड़ा बनाना ही नहीं जानते, कैसे अभिमान कर सकते हैं! प्रत्येक वस्तु का उपयोग करते समय यह विचार कर लो कि यह वस्तु मैंने बनाई है या नहीं। और साथ ही यह सोच लो कि जब मैंने नहीं बनाई है तो फिर अभिमान कैसा?

अगर आप खाने का अभिमान करते तो तो कीड़-मकोड़े क्या आपसे अधिक अभिमान नहीं कर सकते ? मिष्टान्न में पड़ने वाले कीड़े आपको बुरे क्यों लगते हैं ? इसलिए कि मिष्टान्न उन्होंने बनाया नहीं और आ कैसे गये ? लेकिन यही बात आप अपने विषय में भी सोचिये। आप स्वयं कीड़ों के समान बन रहे हैं या नहीं ?

भाइयो और बहिनो ! आज की मेरी इस बात को याद रक्खो कि ज्ञानयुक्त क्रिया के बिना और क्रियायुक्त ज्ञान के बिना धर्म और संसार को नहीं जान सकते। अतएव जो भी क्रिया सामने आवे उस पर विचार करो कि यह क्रिया मैंने की है या नहीं ? अगर नहीं की है तो उस पर मैं अभिमान कैसे कर सकता हूँ ! इस प्रकार विचार कर उस क्रिया का बदला देने की भी चिन्ता रक्खो। अगर आपने ऐसा नहीं किया तो सिर पर ऋण चढ़ा रहेगा। जिस प्रकार होटल में भोजन करने पर कीमत चुकानी पड़ती है, उसी प्रकार क्रिया का बदला देना भी उचित है। आज आप सीधा खाते हैं तो यह मत समझिए कि यह आपको यों ही मिल गया है। आप को जो प्राप्त होता है वह आपकी किसी क्रिया का फल है। इसे खाकर अगर आपने संसार और धर्म की सेवा न की तो समझ लीजिए कि आपने अपनी संचित पूंजी गँवा दी है। कोई भी विचारवान् व्यक्ति दीवालिया बनना पसंद नहीं करता। लेकिन पुण्य के विषय में यह बात क्यों भुला दी जाती है ?

पुण्य रूपी पूंजी को भोगने वाले उसे घटने नहीं देने का विचार क्यों नहीं रखते ?

आप पाखाने में शौच जाते हैं या नहीं ?

'जी हाँ !'

कभी पाखाने को साफ भी करते है ?

'नहीं !'

अगर एक दिन भी पाखाने की सफाई न की जाय तो क्या होगा ? ऐसे पाखाने को आप साफ नहीं करते और जो साफ करता है उसे आप क्या समझते हैं ?

'नीच !'

फिर भी लोग दावा करते हैं कि हम ज्ञान और क्रिया को समझते है ! जो पाखाने को अस्वच्छ बनाता है वह तो ऊँचा है और जो स्वच्छ करता है नीच है ! क्या यही ज्ञान और क्रिया का समझना कहलाता है ? ऐसी समझ को क्या कहा जाय !

कदाचित् आपका यह खयाल हो कि आप पुण्यवान् हैं और भंगी पुण्यहीन है। तो आप जब बालक थे तब आपकी माता ने क्या आपकी अशुचि न उठाई होगी ? क्या इस कारण आपकी माता पुण्यहीन हो गई ? और आप पुण्यवान् हुए ? मित्रो ! आपकी स्वतंत्रता लुट गई है, फिर भी अगर आप निरभिमानी बनें तो किसी न किसी रूप में दुनिया की सेवा में आ सकते हैं।

संसार में सब से बड़ा काम भंगी का है। भंगी चाहें तो एक ही दिन में आपकी हवेली नरक की याद दिलाने लगे, नगर नरक बन जाय और आप घबरा उठें। जो लोग स्वतंत्र है और जंगल मे टट्टी जाते हैं वे तो कदाचित् न भी घबरावें, मगर बड़े कहलाने वाले लोग सब से पहले घबरा जाएँगे। तात्पर्य यह है कि समाज के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य को करके शांति कायम करने वालों के प्रति आपको कृतज्ञ होना चाहिए। अगर आपमें कृतज्ञता नहीं है तो कम से कम उन्हें घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से तो मत देखिए।

लोग अंधेरे में पड़े हुए है, इसलिए उन्हे उजेले में लाने के लिए मै कहता हूँ कि जिस तरह मै सब संतों से प्रेम करता हूँ, उसी तरह आप भी ऊँच-नीच का भेद छोड़ कर सब से प्रेम करो और उन्हे अपना सहायक समझो। आप हमेशा पढते हैं—

मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई।

अर्थात्-समस्त प्राणियों पर मेरा मैत्रीभाव है। मेरा किसी के प्रति वैरभाव नहीं है। इस पाठ के अनुसार नरक में पड़े हुए जीव क्या आपके मित्र नहीं है? मगर ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि पास के जीवों को भूल जाओ और जो नरक में पड़े हैं, सिर्फ उन्हीं को मित्र मानने लगो। अगर रोटी बना कर देने वाले पास के मनुष्य को आप नीच मानेंगे तो नरक के जीवों को किस प्रकार मित्र समझ सकेंगे?

मित्रो ! समय को देखो। युगधर्म को पहचानो। अपनी बुद्धि को विवेक के मार्ग पर चलाओ। ज्ञान के द्वारा निर्धारित किये हुए काम को करने वाले ही विजयी हो सकते हैं। ज्ञान से निर्णय किये बिना ही काम करने वाले विजय नहीं प्राप्त कर सकते। अतएव ज्ञान की बड़ी महिमा है। ज्ञान के बाद ही सम्यक् क्रिया आती है। शास्त्रकारों ने ज्ञान को पहले स्थान दिया है और उसके बाद क्रिया को। आप लोग आज ज्ञान को भूल रहे हैं, ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं समझते और कद्र भी नहीं करते, लेकिन ज्ञान से उत्तम कोई वस्तु नहीं है। गीता में भी कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

इस संसार में ज्ञान के समान और कोई पवित्र वस्तु नहीं है। ज्ञान सर्वोत्कृष्ट वस्तु है और अखिल कर्म की समाप्ति शुद्ध ज्ञान में ही हो जाती है।

जैनसिद्धान्त के अनुसार विचार किया जाय तो इस बात में और ही तत्त्व निकलता है। स्याद्वाद सिद्धान्त का उपयोग किये बिना किसी भी बात का मर्म पूरी तरह समझ में नहीं आ सकता। जैनसिद्धान्त के अनुसार तेरहवें गुणस्थान को छोड़कर चौदहवें गुणस्थान में जाने पर क्रिया का नाश हो जाता है। उस समय क्रिया नहीं रहती। साथ जाने वाली चीज ज्ञान के सिवाय और नहीं है। भगवती सूत्र में एक प्रश्नोत्तर आता है। गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया-

'भगवन् ! ज्ञान इसी भव में साथ रहता है या परभव में भी ?' भगवान् ने उत्तर दिया—'इस भव मे भी साथ रहता है और परभव में भी साथ रहता है।'

मतलब यह है कि क्रिया की समाप्ति ज्ञान में हो जाती है। अतएव ज्ञान के समान अन्य कोई भी वस्तु नहीं है।

मगर यह मत भूल जाना कि ज्ञान की पवित्रता को जान लेने मात्र से ही ज्ञान नही होता। ज्ञानी पुरुषों का चारित्र तो उनके अंतिम शरीर के साथ समाप्त हो गया है, परन्तु उस चारित्र का ज्ञान अभी तक मौजूद है। आप ज्ञान से ही भगवान् महावीर को पहिचानते हैं। लेकिन आज हँसी-मजाक में ज्ञान का नाश हो रहा है। आज बालकों और युवकों के दिमाग में जहर भरने वाले, कुवासनाओ को उत्तेजित करने वाले उपन्यासों के ढेर लग रहे हैं। इन्हें ज्ञान या ज्ञान का साधन समझ लेना विष को पीयूष समझ लेना है। यह पुस्तके भुलावे मे डालने वाली हैं। इनसे भारतवर्ष की पवित्र संस्कृति का सत्यानाश हो रहा है। जिसके प्रताप से कार्य की सिद्धि हो जाने पर कर्म मात्र का परित्याग हो जाय वही सच्चा ज्ञान है।

गीता का एक श्लोक है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

अर्थात्—योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर अर्जुन जिस ओर हैं, उसी ओर विजयश्री, ध्रुव नीति आदि है।

गांधीजी ने धनुर्धर अर्जुन का अर्थ 'क्रिया' किया है और योगेश्वर कृष्ण का अर्थ 'ज्ञान' किया है। योगेश्वर कृष्ण के आदेश से अर्थात् ज्ञान के आदेश से क्रिया जहाँ की जायगी वहीं सफलता प्राप्त हो सकेगी। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बहुत भारपूर्वक लिखा है कि आज हम लोग योगाध्याय से निकलकर गड़बड़ाध्याय में पड़ गये है। आज हमारे लिए पुस्तकें पढ़कर समझना कठिन हो गया है कि वास्तविक ज्ञान क्या है?

इस ज़माने में भी बहुत लोग हैं जो कहते है कि पढ़े-लिखे आदमी ज्यादा खराब होते हैं, इसलिए पढ़ाना बुरा है। स्त्रियों को तो मूर्ख रहना ही अच्छा है। उन्हें ज्ञान सिखाने से हानि होती है।

मैं पूछता हूँ कि यह अक्षरविद्या पुरुषों से तो निकली नहीं है, स्त्रियों से ही निकली है, फिर अक्षरज्ञान को पैदा करने वाली स्त्रियां ही अक्षरज्ञान न पढें, इस विधान का कारण क्या है? भगवान् ऋषभदेव की दो कन्याएँ थीं। एक का नाम ब्राह्मी और दूसरी का नाम सुन्दरी था। भगवान् ने सर्व-प्रथम दोनों पुत्रियो को अक्षरज्ञान सिखलाया था। इन दोनों के नाम से ब्राह्मी लिपि और सुन्दरी गणित नाम प्रचलित हुआ। आप लोग आज स्त्रियों को पढ़ाना हानिकारक समझते है तो क्या आप लोगों में भगवान् ऋषभदेव से अधिक बुद्धि है? ब्राह्मीलिपि के बावन अक्षरो का ही यह प्रताप है

कि आप हजारों लाखों वर्ष पूर्व की बात जान रहे हैं। एक अंगरेज विद्वान् ने ब्राह्मीलिपि के बावन अक्षरों की तुलना जहाज के साथ करते हुए लिखा था कि ये बावन अक्षर जहाज हैं। जैसे जहाज एक द्वीप का माल दूसरे द्वीप में पहुँचाता है उसी प्रकार यह बावन अक्षर पूर्वकालीन पुरुषों की बातें हमारे पास पहुँचाते हैं। इन बावन अक्षरों की ही महिमा है कि हम अपने पूर्वजों के चरित और ज्ञान-विज्ञान को आज जान सकते हैं।

मित्रो! जिसे शास्त्र रूपी चक्षु प्राप्त नहीं है वह अंधा है। हजारों वर्ष पहले की बातें शास्त्र द्वारा ही जानी जा सकती हैं। दूर से दूर की बातें भी शास्त्र ही बतलाता है। भगवान् ऋषभदेव आदि का चरित आपने कैसे जाना? सिद्धशिला, नरक और स्वर्ग का वृत्तान्त आपको कैसे विदित हुआ? इन सब वस्तुओं को इस भव मे आँखों द्वारा नहीं देखा है। शास्त्रों से ही इनका ज्ञान हुआ है। अगर बावन अक्षरों का शास्त्र हमारे-आपके सामने न होता तो क्या दशा होती? हम लोग न जाने किस बीहड़ अंधकार में भटक रहे होते। मगर ब्राह्मीलिपि का ही यह प्रताप है कि हमें उस अंधकार में नहीं भटकना पड़ रहा है और हमें ज्ञान का आलोक प्राप्त है। ब्राह्मी कन्या थी, पुरुष नहीं थी। फिर आज की कन्याएँ पढ़ने-लिखने से किस प्रकार बिगड़ जाएँगी? आपको जो बात सूझ रही है वह क्या भगवान ऋषभदेव को नहीं सूझी

थी ? अगर भगवान् आपसे अधिक ज्ञानी थे तो उन्होंने ब्राह्मी को लिपिज्ञान क्यों दिया ?

एक सम्प्रदाय वालों का कहना है कि साधुओं के सिवाय औरों को खाने को देकर शस्त्र तीखा मत करो। भोजन देने से शस्त्र तीखा हो जाता है और भूखों मारने से भोटा (मोथरा) हो जाता है। किन्तु यह कथन अज्ञानपूर्ण है। इनके कथनानुसार अगर एक महिला यह विचार करती है कि मेरी लड़की के आँखें होंगी तो वह पुरुषों को देखेगी। देखने पर नीयत बिगड़ जाना भी संभव है। इस प्रकार आँखें रहने से शस्त्र तीखा होगा। ऐसा विचार करके वह महिला अपनी लड़की की आँखें फोड़ डाले तो आप उसे क्या कहेंगे ?

'पापिनी !'

जो महिलाएँ अपनी लड़की की आखों को अच्छी रखने के लिए लड़की की आखों में काजल आजती हैं, वे बहिनें उसकी मां हैं या शत्रु ?

'मां !'

मगर खाने को देने से शस्त्र तीखा होता है, ऐसा कहने वालों की श्रद्धा के अनुसार तो वह बहिन लड़की की आंखों में काजल लगाकर शस्त्र तीखा कर रही है! इसलिए न लड़की को खिलाना चाहिए और न आंखों में अंजन ही आंजना चाहिए। फिर तो उसे ले जा कर कहीं समाधि करा देना ही ठीक होगा! कैसा अनोखा विचार है!

लड़की की माता को पहले ही ब्रह्मचारिणी रहना उचित था। तब मोह होने का प्रश्न ही उपस्थित न होता। लेकिन जब मोहवश होकर सन्तान उत्पन्न की है तो लालन-पालन करके उस मोह का कर्ज भी चुकाना है। इसी कारण शास्त्र में माता-पिता और सहायता करने वाले को उपकारी बतलाया है। भगवान् ने कहा है कि सन्तान का लालन-पालन करना अनुकम्पा है।

सारांश यह है कि जो माता अपनी कन्या की आंखें फोड़ दे उसे आप माता नही वैरिन कहेंगे। लेकिन हृदय की आंखे फोड़ने वाले को आप क्या कहेंगे ? कन्याशिक्षा का विरोध करना वैसा ही है जैसे अपनी संतति की आंखे फोड देने में कल्याण मानना। जो कन्याओं की शिक्षा का विरोध करते हैं वे उनकी शक्ति का घात करते है। किसी की शक्ति का घात करने का किसी को अधिकार नहीं है। हाँ, शिक्षा के साथ सत्संस्कारों का भी ध्यान रखना आवश्यक है। कन्याओं की शिक्षा की योजना करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि कन्याएँ शिक्षिता होने के साथ सुसंस्कारों से भी सम्पन्न बनें और पूर्वकालीन सतियो के चरित्र पढ़कर उनके पथ पर अग्रसर होने मे ही अपना कल्याण माने। यह बात तो बालकों की शिक्षा के संबध में भी आवश्यक है। ऐसी दशा में कन्याओं की शिक्षा का विरोध करना उनके विकास में बाधा डालना और उनकी शक्ति का नाश करना है।

लोग कहते हैं कि लड़की को क्या हुंडिया लिखनी है जो वह पढ़ाई करे ! परन्तु ब्राह्मी को क्या हुंडिया लिखनी थीं जो वह पढ़ी ? ब्राह्मी तो ब्रह्मचारिणी ही रही थी। भगवान् को चिन्ता हुई कि मैं ऐसी दिव्य कन्या को दूसरे को सौंपूंगा और वह इसका नाथ बनेगा ? ब्राह्मी अपने पिता की चिन्ता को समझ गई। उसने कहा—पिताजी, आप चिन्ता क्यों करते हैं ? हमारे रोम-रोम मे शील बसा हुआ है। हमे सुसराल का नाम लेने में ही लज्जा मालूम होती है।

ब्राह्मी अगर विद्या न पढी होती,तो क्या ऐसा कह सकती थी ?

'नही !'

बहुत से लोगो की धारणा है कि लिखने-पढने से लड़कों-लड़कियो का बिगाड होता है। लेकिन बिना पढ़े-लिखे लोग क्या बिगड़ते नहीं हैं ? नुकसान क्या पढे-लिखे ही करते है और बिना पढ़-लिखे नही करते ? ग्रथकारों का कथन है कि ज्ञानी के द्वारा कोई भूल हो जाय तो वह जल्दी समझ जाता है। मगर मूर्ख तो नुकसान करके भी प्राय. नही समझता।

भगवान् ने कहा है कि अगीतार्थ साधु चाहे सौ वर्ष का हो, फिर भी उसे गीतार्थ साधु की नेश्राय में ही रहना चाहिए। पच्चीस साधुओं में एक ही साधु अगर आचारांग और निशीथसूत्र का जानकार हो और वह शरीर त्याग दे, तो भादों का महीना ही क्यों न हो, शेष चौबीस को विहार करके आचारांग और निशीथसूत्र के ज्ञाता मुनि की देखरेख मे चले जाना

चाहिए। अगर उनमें दूसरा कोई साधु आचारांग निशीथ का ज्ञाता हो तो उसे अपना मुखिया स्थापित करना चाहिए।

मतलब यह है कि शिक्षा के साथ उच्च क्रिया लाने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए मगर मूर्ख रहना किसी के लिए भी उचित नहीं है।

विद्वान् और मूर्ख के बुरे और अच्छे कामों में भी कैसा अन्तर होता है, इस विषय मे ग्रंथकारों ने एक दृष्टान्त इस प्रकार दिया है:—

एक विद्वान् को जुआ खेलने का व्यसन लग गया था। जुआ के फंदे में फँसकर उसने गांठ की सारी पूँजी गँवा दी और अपनी पत्नी के आभूषण भी बेच डाले। उसकी दशा बड़ी हीन हो गई। लोग उस की बात पर विश्वास नहीं करते थे और घर के लोग भी उसे दुत्कारते थे।

धन संबंधी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए उस विद्वान् को चोरी करने के सिवाय और कोई मार्ग दिखाई न दिया। अन्त में लाचार होकर उसने यही करने का निश्चय कर लिया। वह सोचने लगा—चोरी किसके घर करनी चाहिए? अगर किसी सेठ के घर चोरी करूँगा तो वह चोरी में गये धन को भी हिसाब में लिखेगा। सेठ लोग पाई-पाई का हिसाब रखते हैं। और जब-जब वह हिसाब देखेगा तब तक गालियाँ देगा। अगर किसी साधारण आदमी के घर चोरी करूँगा तो वह रोएगा। उस बेचारे के पास पूँजी ही कितनी

होती है !

इस प्रकार विद्वान् ने सब का विचार कर देखा। अन्त में उसने निश्चय किया कि औरों के घरचोरी करना तो उचित नहीं है. राजा के यहाँ चोरी करनी चाहिए। इस प्रकार निश्चय करके वह राजा के यहाँ चोरी करने गया।

राजा ने एक बन्दर पाल रक्खा था। बन्दर राजा को बड़ा प्रिय था। वह उसे अपने साथ ही खिलाता और साथ ही रखता था। रात के समय जब राजा सोता तो बन्दर नंगी तलवार लेकर पहरा दिया करता था। राजा बन्दर को अपना बड़ा प्रिय मित्र समझता था।

राजा सो रहा था। बन्दर नंगी तलवार लिये पहरा दे रहा था। इसी समय विद्वान् चोरी करने के लिए पहुँचा।

बन्दर राजा का मित्र है, लेकिन वह विद्वान् चोरी करने आया है इस कारण शत्रु है। फिर भी देखना चाहिए कि विद्वान् शत्रु में और मूर्ख मित्र में कितना अन्तर है ? और दोनों में कौन अधिक हितकर या अहितकर है ?

राजा गाढ़ निद्रा में लीन था। उसी समय मकान की छत पर एक साँप आया। साँप की छाया राजा पर पड़ी। बन्दर ने साँप की छाया को साँप ही समझ लिया और विचार किया कि यह साँप राजा को काट खाएगा ! वह चपल और मूर्ख तो था ही, आगे-पीछे की क्यों सोचने लगा ? उसे विचार ही नहीं आया कि छाया पर तलवार चलाने से साँप तो मरेगा

नहीं, राजा ही मर जायगा। वह तलवार सँभालकर छाया-रूपी साँप को मारने के लिये तैयार हुआ।

मूर्ख मित्र की बदौलत राजा के प्राणपखेरू उड़ने में देरी नहीं थी। विद्वान् खड़ा-खड़ा यह सब देख रहा था। उसने सोचा—'इस मूर्ख मित्र के कारण वृथा ही राजा की जान जा रही है।' चाहे मैं पकड़ा जाऊँ और मारा जाऊँ मगर राजा को बचाना ही चाहिए। अपनी आँखों के आगे राजा का वध मैं नहीं होने दूँगा!' यह सोचकर विद्वान् एकदम झपट पड़ा और उसने बन्दर की तलवार पकड़ ली। बन्दर और विद्वान् में झगड़ा होने लगा। इतने में राजा की नींद खुल गई। वह हड़बड़ा कर उठा और बन्दर तथा विद्वान् की खींचतान देखकर और भी विस्मित हुआ। राजा के पूछने पर विद्वान् ने कहा—यह बन्दर आपके प्राण ले रहा था पर मुझसे यह नहीं देखा गया। इसी कारण झपट कर मैंने तलवार पकड़ ली है।'

राजा—तू कौन है?

विद्वान्—मैं? मैं चोर हूँ!

राजा—बन्दर मुझे कैसे मार रहा था?

विद्वान्—आप सो रहे थे और मैं चोरी करने की ताक में आया था। छत पर साँप आया। उसकी छाया आपके शरीर पर पड़ी। छाया को साँप समझ कर यह बन्दर तलवार चलाने को उद्यत हुआ। मुझसे यह नहीं देखा गया। मैंने

झपट कर तलवार पकड़ ली।

विद्वान् की बात सुनकर राजा सोचने लगा—प्रजा को अशिक्षित रखकर बन्दर के समान मूर्ख बनाए रखने से क्या हानि होती है, यह बात आज मेरी समझ में आई। मगर राजा ने पण्डित से पूछा—तुम पण्डित होकर चोरी करने आये हो?

पण्डित—मैं जुआ खेलने के व्यसन में पड़ गया था। एक दुर्व्यसन भी मनुष्य के जीवन को किस प्रकार पतित कर देता है, किस प्रकार विवेक को विनष्ट कर देता है, इसके लिए मैं उदाहरण हूं। जुआ के दुर्व्यसन ने मेरी पण्डिताई पर पानी फेर दिया है। मेरी विद्वत्ता जुए से कलंकित हो रही है। मैं आपके सामने उपस्थित हूं। जो चाहे, करें।

मतलब यह है कि नादान दोस्त की अपेक्षा ज्ञानवान् शत्रु भी अधिक हितकारी होता है। ज्ञानवान् अपने कल्याण-अकल्याण को शीघ्र समझ जाता है। ज्ञान का प्रकाश मनुष्य को शीघ्र ही सन्मार्ग पर ले आता है। पथभ्रष्ट मनुष्य भी, अगर उसके हृदय मे ज्ञान विद्यमान है तो एक दिन सत्पथ पर आये बिना नहीं रहेगा। अतएव प्रत्येक दशा मे ज्ञान जीवन को उन्नत बनाने में सहायक होता है।

अगर आप लोग ज्ञान का सच्चा महत्त्व समझते हैं तो अर्हन्त भगवान् के ज्ञान का प्रचार कीजिए। आप स्वयं ऐसे काम कीजिए जिससे ज्ञान का प्रचार हो। अर्हन्त के ज्ञान का

प्रचार अक्षरज्ञान के विना नहीं हो सकता। यह विचार कर ही भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी को लिपिज्ञान दिया था। भगवान् के आशय को आप समझिए और अपनी संतति को मूर्ख मत रहने दीजिए। ज्ञान का प्रचार करने का उद्योग कीजिए। ज्ञान की वृद्धि उन्नति का मूल मंत्र है। आपके पास जो भी शक्ति हो, ज्ञान के प्रचार में लगाइए। इतना भी न कर सकें तो कम से कम ज्ञान और ज्ञान-प्रचार का विरोध तो मत कीजिए। ज्ञान की शिक्षा की निन्दा करना, उसमें रोड़े अटकाना और जो लोग ज्ञान का प्रचार कर रहे हैं उनका विरोध करना बुरी बात है। ज्ञान का प्रचार शासन की प्रभावना का प्रधान अङ्ग है। सच्चे ज्ञान का प्रचार होने पर ही चारित्र के विकास की संभावना की जा सकती है। आप लोग ज्ञान और चारित्र की आराधना करके आत्म-कल्याण में लगे, यही मेरी आतंरिक कामना है।

७

आत्माः-दुधारी तलवार

जिन्होंने वस्तुतत्त्व का यथार्थ बोध प्राप्त नहीं किया है और जो बहिर्दृष्टि बने हुए हैं, वे अपने सुख-दुःख का कारण सही रूप में नहीं समझ पाते। वे निमित्त कारण को ही देखते हैं और उपादान कारण का विचार ही नही करते। मिर्च के तीखेपन को और मिश्री की मिठास को वे जानते हैं, मगर उन्हें यह मालूम नही होता कि उस तीखेपन का या मिठास का अनुभव होता किसे है? अगर नीम में ही कटुकता है और हमारी संवेदना कोई काम नहीं करती तो ऊँट को मीठा लगने वाला नीम हमें कटुक क्यों प्रतीत होता है? क्या नीम ऊँट के लिए और मनुष्य के लिए अपना स्वाद बदल लेता है? नहीं। नीम अपना स्वभाव नहीं बदलता। लेकिन जीव की संवेदना शक्ति ही नाना रूप धारण करके वस्तु को नाना रूप में ग्रहण करती है। दही किसी को रुचिकर और किसी को अरुचिकर क्यों प्रतीत होता है? आत्मा की संवेदना शक्ति का

ही यह सब खिलवाड़ है। यही बात सुख और दुःख के विषय में समझी जा सकती है। एक आदमी जिसे दुःख मानता है, दूसरे के लिए वह दुःख नहीं है। यही नहीं बल्कि उसके लिए वह सुख है। और दूसरे का माना हुआ सुख एक के लिए दुःख प्रतीत होता है। यह बात हम लोकव्यवहार में सदा देखते रहते हैं। पर इसका कारण क्या है?

मिर्च तीखी प्रतीत होती है मगर वह अपने तीखेपन को नहीं जानती। मिश्री की मिठास मिश्री को मालूम नहीं है। मिर्च का तीखापन और मिश्री की मिठास आत्मा ही जानती है। मगर लोग आत्मा को भूल जाते हैं और स्थूल पदार्थों को पकड़ बैठते हैं और मानते हैं कि मिठास मिश्री में ही है और तीखापन मिर्च में ही है। एक लकड़ी या पत्थर की पुतली के मुँह मे मिश्री या मिर्च डाली जाय तो क्या उसे मिठास या तीखास का अनुभव होगा?

'नहीं!'

तो फिर मानना चाहिए कि मिठास और तीखास का अनुभव करने वाला आत्मा ही है। आत्मा ही कर्त्ता है और आत्मा ही विधायक है। इसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुओं पर विचार किया जाय तो यही सर्वत्र यही चमत्कार दिखाई देगा।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत-से पोथों की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान तो एक छोटी-सी घटना और थोड़ी-सी बात से भी हो सकता है। और ज्ञान होने पर अज्ञान उसी प्रकार

नष्ट हो जाता है जैसे प्रकाश होने पर अंधकार।

ऋषि मुनि कहते आये हैं कि-हे मानव ! तू बाहरी वैभव मे क्यों उलझा है ? स्थूल और निर्जीव पदार्थों के फेर में क्यों पड़ा है ? उन्हें सुख-दुःख का विधाता क्यो समझ रहा है ? सुख दुख के मूल स्रोत की खोज कर। देख कि यह कहाँ से और कैसे उत्पन्न होते है ? अपने मन को स्थिर करके, अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाकर विचार करेगा तो स्पष्ट दिखाई देगा कि तेरा आत्मा ही तेरे सुख और दुःख आदि का विधाता है। उसीने इनकी सृष्टि की है और वही इनका विनाश करता है। इस तथ्य को समझ जाने पर तेरी बुद्धि शुद्ध और स्थिर हो जायगी और तू बाह्य पदार्थों पर राग द्वेष करना छोड़ देगा। उस अवस्था मे तुझे समता का ऐसा अमृत प्राप्त होगा जो तेरे समस्त दुःखों का, समस्त व्यथाओ का और समस्त अभावों का अन्त कर देगा।

तू अपने बंधन का निर्माता आप ही है और मुक्ति का विधाता भी आप ही है। तू स्वय दुःख का निर्माण करता है और फिर हाय-हाय करता है, लेकिन निर्माण करना नहीं छोड़ता। मिथ्याज्ञान के कारण जीव दुखों का विनाश करने के लिए जो प्रयत्न करता है, उसी प्रयत्न मे से अनेक दुःख फूट पड़ते है। इस प्रकार दुःखों की दीर्घ परम्परा चल रही है। इस परम्परा को समाप्त करने का उपाय सम्यग्ज्ञान ही है। सम्यग्ज्ञान के अपूर्व प्रकाश मे दुःखों के आद्य स्रोत को देख

कर उसे बंद कर देने से ही दुखों का अन्त आता है। दुखों का आद्य स्रोत आत्मा का विकारमय भाव है। इस प्रकार आत्मा ही दुखों का कर्त्ता और संहर्त्ता है।

तोता पकड़ने वालों के विषय में सुना जाता है कि वे जंगल में एक गिर्री लगाते हैं। तोता आकर उस पर बैठ जाता है। तोते के बैठने पर गिर्री घूमने लगती है। तोता यह समझ कर कि यदि मैं गिर्री को छोड़ दूँगा तो गिर जाऊँगा, गिर्री को और मज़बूती के साथ पकड़ता जाता है। ज्यों-ज्यों वह मज़बूती के साथ गिर्री को पकड़ता है, गिर्री अधिक-अधिक तेज़ी के साथ घूमती जाती है। अगर तोता अपने पंखों के बल को याद करके गिर्री को छोड़ दे तो वह उड़ जाय और गिर्री का घूमना भी बंद हो जाय। मगर वह अपने पंखों का बल भूल जाता है और गिर्री पर बैठा हाय-हाय करता रहता है। परिणाम यह होता है कि उसे बन्धन में पड़ना पड़ता है।

गिर्री की तरह ही यह संसार घूम रहा है। इस घूमते हुए संसार को पकड़ कर इसके साथ ही आत्मा भी चक्कर खा रहा है। आत्मा संसार को दोष देता है मगर यह क्यों नहीं सोचता कि संसार को पकड़ किसने रक्खा है? आत्मा ने ही संसार को पकड़ रक्खा है. इसी कारण वह संसार के साथ घूम रहा है। जिस दिन वह संसार का आसरा छोड़ देगा उसी दिन उसे आनन्द का लाभ होगा और विग्रह शांत

हो जायगा। मगर ज्यों-ज्यों संसार घूमता है, त्यों-त्यों आत्मा इसे ज्यादा मज़बूती से पकड़ता है और समझता है कि अगर मैंने संसार को छोड़ दिया तो गिर जाऊँगा। तोते की तरह आत्मा इसी भ्रान्ति में पड़ा है। अगर आत्मा समझ ले कि मेरे घूमने से ही संसार घूमता है तो उसके सब चक्कर मिट जाएँ।

मित्रो ! अगर आप वास्तविक कल्याण चाहते हैं तो इस भूल पर विचार करो। इस प्रकार सुख और दुःख का कर्त्ता आत्मा ही है। शास्त्र भी यही कहते हैं—

अप्पा मित्तममित्तं च।

अर्थात्-आत्मा स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि मित्र किसे कहते हैं ? मिठाई और चूरमा खाने वाले मित्र तो बहुत मिलेंगे, मगर संकट के समय साथ देने वाले मित्र विरले ही होते हैं। सम्पत्ति के समय मिठाई-चूरमा खाने वाले और मीठी-मीठी बातें बनाने वाले किन्तु संकट के समय किनारा काट जाने वाले लोग मित्र नहीं छिपे शत्रु हैं। सच्चा मित्र वह है जो घोर से घोर संकट आने पर भी अपने मित्र का साथ देता है और अपने मित्र को संकट से बचाने के लिए अपने प्राणों को भी संकट में डाल सकता है। सच्चे मित्र की कसौटी ऐसे अवसर पर ही होती है।

श्री जम्बू स्वामी ने अपनी पत्नियों के सामने मित्रता का

एक दृष्टान्त देकर कहा—तुम प्रेम दिखलाती हो, मगर सच्ची मित्रता यह नहीं है। ऊपरी सांसारिक व्यवहार को देखकर ही यह नहीं समझा जा सकता कि सच्चा मित्र कौन है? इस विषय में एक दृष्टान्त सुनो।

एक राजा का प्रधान था। राजा उसका खूब आदर-सत्कार करता था। प्रधान विवेकवान् था। उसने विचार किया—

राजा जोगी अगनि जल, इनकी उलटी रीति।
बचते रहियो परसराम, थोडी पाले प्रीति॥

अतएव सिर्फ राजा के प्रेम पर निर्भर रहकर किसी दूसरे को भी अपना मित्र बनाये रखना उचित है। मित्र होगा तो समय पर काम आयगा।

इस प्रकार विचार कर प्रधान ने एक नित्य मित्र बनाया। प्रधान अपने इस मित्र के साथ ही खाता, पीता और रहता था। वह समझता था कि नित्य मित्र भी मेरा आत्मा है। इस प्रकार प्रधान अपने मित्र को बड़े प्रेम से रखने लगा।

एक मित्र पर्याप्त नहीं है, यह विचार कर प्रधान ने दूसरा मित्र भी बनाया। यह मित्र पर्व मित्र था। किसी पर्व या त्योहार के दिन प्रधान उसे बुलाता, खिलाता-पिलाता और गपशप करता था। प्रधान ने एक तीसरा मित्र और बनाया जो सैन-जुहारी मित्र था। जब कभी अचानक मिल गया तो जुहार उससे कर लिया करता था। इस प्रकार प्रधान ने तीन

मित्र बनाये।

समय ने पलटा खाया। राजा, प्रधान पर कुपित हो गया। कुछ चुगलखोरों ने राजा के कान भर दिये कि प्रधान ने अपना घर भर लिया है, राज्य को अमुक हानि पहुँचाई है, यह गया है, वह किया है, आदि आदि। राजा कान के कच्चे होते हैं। उसने एक दिन पुलिस को हुक्म दे दिया कि प्रधान के घर पहरा लगा दो और प्रातःकाल होते ही उसे दरबार मे हाजिर करो।

प्रारम्भ में राज्यव्यवस्था प्रजा की रक्षा के उद्देश्य से की गई थी। लोगों ने अपनी रक्षा के लोभ से राजा की शरण ली थी। मगर धीरे-धीरे राजा लोग स्वार्थी बन गये। पहले राजा और प्रजा के स्वार्थों मे विरोध नही था। राजाओं का हित प्रजा का और प्रजा का हित राजा का हित था। मगर राजाओं की विलासिता और स्वार्थभावना ने प्रवेश किया। तब प्रजा के हित का घात करके भी राजा अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगे। तभी से राजा और प्रजा के बीच संघर्ष का सूत्रपात हुआ। आज वह संघर्ष अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है और राजा के हाथों से शासन-सूत्र हट रहा है। राजतंत्र मरणासन्न हो रहा है और प्रजातंत्र का उदय हो रहा है।

चुगलखोरों ने झूठे-झूठे गवाह पेश करके सिद्ध कर दिया कि प्रधान दुष्ट है। राजा ने प्रधान को गिरफ्तार करने की आज्ञा

दे दी। इधर राजा ने आज्ञा दी और उधर प्रधान के किसी हितैषी ने प्रधान को राजाज्ञा संबंधी सूचना देकर कहा—'गिरफ़्तारी मे देर नहीं है। इज्ज़त बचाना हो तो निकल भागो।'

प्रधान अपनी आबरू बचाने के उद्देश्य से घर से बाहर तो निकल पड़ा मगर सोच-विचार मे पड़ गया कि अब कहाँ जाऊँ? और किसकी शरण लूँ? अन्त मे उसने सोचा—मेरे तीन मित्र है। तीन में से कोई तो शरण देगा ही। मगर मेरा पहला अधिकार नित्य मित्र पर है। पहले उसके पास ही जाना योग्य है।

प्रधान आधी रात और अधेरी रात मे नित्य मित्र के घर पहुँचा। किवाड़ खटखटाए। मित्र ने पूछा—कौन है?

प्रधान ने दबी आवाज मे कहा—धीरे बोलो धीरे। मै तुम्हारा मित्र हूँ।

मित्र—मै कौन?

प्रधान—तुम तो मुझे स्वर से ही पहचान लेते थे। क्या इतनी जल्दी भूल गये? मै तुम्हारा मित्र हूँ।

मित्र—नाम बताओ?

प्रधान—अरे! नाम भी भूल गये! मै प्रधान हूँ।

मित्र ने किवाड़ खोलकर आधी रात के समय आने का कारण पूछा। प्रधान ने राजा के कोप की कथा कहकर कहा—यद्यपि मै निरपराध हूँ, मगर इस समय मेरी कौन सुनेगा? इसीलिए मै तुम्हारी शरण में आया हूँ। आगे जो होगा, देखा

जायगा।

मित्र—राजा के अपराधी को मेरे घर मे शरण ! मै बाल बच्चे वाला आदमी हूँ। आपको मेरे हानि-लाभ का भी विचार करना चाहिए ! राजा को पता चल गया तो मेरी मट्टी पलीद होगी ! अगर आप मेरे मित्र है तो मेरे घर से आपको अभी-अभी चला जाना चाहिए।

प्रधान—मित्र, क्या मित्रता ऐसे ही वक्त के लिए नही होती ? इतने दिन साथ रहे, साथ खाया-पिया और मौज की ! आज संकट के समय धोखा दोगे ? क्या आज इसी उत्तर के लिए मित्रता साधी थी ?

मित्र—आप मेरे मित्र हैं, इसी कारण तो राजा को खबर नही दे रहा हूँ। अन्यथा फौरन गिरफ्तार न करवा देता ? लेकिन अगर आप जल्दी रवाना नही होते तो फिर लाचार होकर यही करना पड़ेगा।

प्रधान—निर्लज्ज ! मैंने तुझे अपनी आत्मा की तरह स्नेह किया और तू इतना स्वार्थी निकला ! विपदा का समय चला जायगा, मगर तेरी करतूत सदा याद रहेगी।

बाहर रात्रि का घोर अधकार था और प्रधान के हृदय में उससे भी घनतर निराशा का अधकार छाया था। उसे अपने पर्वमित्र की याद आई। मगर दूसरे ही क्षण खयाल आया-जब नित्यमित्र ने यह उत्तर दिया है तो पर्वमित्र से क्या आशा की जा सकती है ? मगर चलकर देखना तो चाहिए।

इस प्रकार विचार कर वह पर्वमित्र के घर पहुँचा। सारी घटना सुनने के बाद मित्र ने हाथ जोड़कर कहा—मेरी इतनी शक्ति नही कि राजा के विरोधी को शरण दे सकूं। आप भूखे हों तो भोजन कर लीजिए। वस्त्र या धन की आवश्यकता हो तो मै दे सकता हूँ। मगर आपको स्थान देने मे असमर्थ हूँ।

प्रधान—मै नङ्गा या भिखारी नही हूँ। मेरे घर धन की कमी नहीं है। मै तो इस संकट के समय शरण चाहता हूँ। जो संकट के समय सहायता न करे वह मित्र कैसा ?

जे न मित्र-दुख होहि दुखारी।
तिनहिं विलोकत पातक भारी ॥

जो अपने मित्र के दुःख से दुखित नही होते, उन्हें देखने में भी पाप लगता है।

मित्र—मै यह नीति जानता हूँ, मगर राजविरोधी को अपने यहाँ आश्रय देने की शक्ति मुझमें नही है।

प्रधान ने सोचा—हठ करना वृथा है। नित्य मित्र जहाँ गिरफ्तार कराने को तैयार था वहाँ यह नम्रतापूर्वक तो उत्तर दे रहा है ! यह विपत्ति मित्रों की कसौटी है।

निराश होकर प्रधान सेनजुहारी मित्र की ओर रवाना हुआ। उसने सोचा—इस मित्र पर अपना कोई अधिकार तो है नही, मगर कसौटी करने में क्या हर्ज है ? यह सोचकर वह अपने तीसरे मित्र के घर पहुँचा। राजा के कोप की कहानी सुनाकर आश्रय देने की प्रार्थना की। मित्र ने

दृढ़ता के साथ कहा—खैर, यह तो राजा का ही कोप है, अगर इन्द्र का कोप होता और मैं सहायता न देता तो आपका मित्र ही कैसा ? आप ऊपर चलिए और निश्चिन्त होकर रहिये। यह घर आपका ही है।

प्रधान की प्रसन्नता का पार न रहा। मन ही मन कहा—इसे कहते हैं मित्रता ! समय पर ही मित्रता की पहिचान होती है।

प्रधान अपने मित्र के साथ भीतर गया। मित्र ने उसका सत्कार करके कहा—अगर आपकी कोई आवश्यकता हो तो विना संकोच कह दीजिए। प्रधान के मना करने पर उसने कहा—मनुष्य मात्र भूल का पात्र है। अगर कोई भूल हो गई हो तो आप मुझसे छिपाइए नहीं। सच-सच कह दीजिए। रोग का ठीक तरह से पता लगने पर ही सही इलाज़ हो सकता है।

प्रधान सोचने लगा—अपनी बात ऐसे मित्र से नहीं कहूँगा तो किससे कहूँगा ? और प्रधान ने उसके सामने अपना दिल खोलकर रख दिया। मित्र ने उसे आश्वासन दिया।

प्रातःकाल प्रधान के घर की तलाशी ली गई। तभी पता चला कि प्रधान घर मे नहीं है। चुगलखोरों की बन आई। कहा—प्रधान अपराधी न होता तो भागता ही क्यों ? भागना ही उसके अपराधी होने का सबसे बड़ा सबूत है। राजा के दिल में बात ठस गई। उसने कहा—ठीक है। पर भागकर जायगा कहाँ ? जहाँ भी होगा पकड़वा कर

मँगवा लिया जायगा।

प्रधान का आश्रयदाता मित्र प्रातःकाल ही राजा के दरबार में जा पहुँचा था। वह चुपचाप सारी बातें सुनता रहा। सारे शहर में हलचल मची थी।

सब बातें सुन चुकने के बाद मौका देखकर प्रधान के मित्र ने मुज़रा किया। राजा ने कहा—सेठ, तुम कभी आते नहीं। आज आने का क्या कारण है ?

सेठ—पृथ्वीनाथ कुछ अर्ज करना चाहता हूँ।

राजा—कहो।

सेठ—एकान्त में निवेदन करूँगा।

राजा और सेठ एकान्त में चले गये। वहाँ राजा ने पूछने पर सेठ ने कहा—महाराज, प्रधानजी ने क्या अपराध किया है ? क्या मै यह जान सकता हूँ ?

राजा ने कई-एक अपराध गिना दिये, जिनके विषय मे कोई प्रमाण नहीं था।

सेठ—आपके कथन को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? मगर प्रधान के बिना तो काम चलेगा नही। आपने इस विषय में क्या सोचा है ?

राजा—दूसरा प्रधान बुलाएँगे।

सेठ—कदाचित् वह भी ऐसा ही निकला तो क्या होगा ?

राजा—उसकी परीक्षा कर लेंगे।

सेठ—नये प्रधान की जिस प्रकार जांच करेंगे, उसी

प्रकार अगर पुराने प्रधान की ही जाच की जाय तो क्या ठीक न होगा ? वह नया आयगा तो पहले अपना घर बनायगा। उपद्रव मचा देगा। शायद आपको फिर पश्चात्ताप करना पड़े। पुराने प्रधान से अभियोगों के विषय में आप स्वयं पूछते और संतोजनक उत्तर न मिलने पर यहीं कैद कर लेते तो क्या हानि थी ? मगर आपने उस खानदानी प्रधान के पीछे पुलिस लगा दी। यह कहा तक उचित है, आप सोचें।

सेठ की बात राजा को ठीक मालूम हुई। उसने कहा—सेठ, तुम राज्य के हितचिन्तक हो। इसी कारण तुम्हे राजा और प्रजा के बीच का पुरुष नियत किया है और सेठ की उपाधि दी गई है। मगर प्रधान न मालूम कहाँ चला गया है ! वह होता तो मैं उससे सब बात पूछता।

सेठ—प्रधानजी मेरे आत्मीय मित्र हैं। मुझे उनकी सब बातों का पता है। उनके अभियोगों के विषय मे मुझसे पूछें तो संभव है, मै समाधान कर सकूं।

राजा—प्रधान तुम्हारे मित्र हैं ?

सेठ—मैंने न तो कभी छदाम दी है, न ली है। आपके प्रधान होने के नाते और मनुष्यता के नाते उनसे मेरी मित्रता है। मित्रता भी ऐसी है कि उन्होंने मुझसे कोई बात नहीं छिपाई।

राजा—अच्छा, देखो, प्रधान ने इतना हज़म कर लिया है।

सेठ—ऐसा कहने वालों ने गलती की है। फलां बही मँगवा कर देखिए तो समाधान हो जायगा।

वही मँगवाकर देखी गई। राजा ने पाया कि वास्तव में अभियोग निराधार है। इसी प्रकार और दो-चार बातों की जाँच की गई। सब ठीक पाया गया। सेठजी बीच-बीच में कह देते थे-हाँ, इतनी भूल प्रधानजी से अवश्य हुई है और वे इसके लिए मेरे सामने पश्चात्ताप भी करते थे। आपसे भी कहना चाहते थे मगर शायद लिहाज के कारण नहीं कह सके।

राजा—प्रधान ने पश्चात्ताप भी किया था? मगर इतने बड़े काम मे भूल हो जाना संभव है। वास्तव में मैंने प्रधान के साथ अनुचित व्यवहार किया है। किन्तु अब तो उसका मिलना कठिन है? कौन जाने कहाँ चला गया होगा?

सेठ—अगर आप उनके सम्मान का वचन दें तो मैं ला सकता हूँ।

राजा—क्या प्रधान तुम्हारी जानकारी में है?

सेठ—जी हां। मगर विना अपराध सिर कटाने के लिए मै उन्हें नहीं ला सकता। आप न्याय करने का वचन दें तो हाजिर कर सकता हूँ।

राजा—मै वचन देता हूँ कि प्रधान के गौरव की रक्षा की जायगी। यही नहीं वरन् चुगलखोरों का मुँह काला किया जायगा।

सेठ—महाराज, अपराध क्षमा करें। प्रधानजी मेरे घर पर है।

राजा—सारे नगर में उनकी बदनामी हो गई है। उसका

परिमार्जन करने के लिए उनका सत्कार करना चाहिए। मैं स्वयं उन्हें लिवाने चलूँगा और आदर के साथ हाथी पर बिठाकर ले आऊँगा। जिसने अपमान किया है, वही मान करे तो अपमान मिट जाता है।

हाथी सजाकर राजा, सेठ के घर की तरफ रवाना हुआ। सेठ ने जाकर प्रधान से कहा—प्रधानजी, आपको दरबार में पधारना होगा।

प्रधान—क्या गिरफ्तार कराओगे?

सेठ—क्या मैं पापी हूँ? महराज द्वार पर आ पहुँचे हैं और आदर के साथ आपको ले जाएँगे।

सेठ के साथ बाहर आकर प्रधान ने राजा को मुजरा किया। राजा ने हाथी पर बैठने का हुक्म दिया। प्रधान शर्मिन्दा हुआ। तब राजा ने कहा—जो होना था, हो चुका। शर्माने की कोई बात नहीं है। मूर्खों की बातों मे आकर मैंने तुम्हारा अपमान किया है। मगर अब किसी प्रकार की शंका मत रक्खो।

दरबार में पहुँच कर प्रधान ने निवेदन किया—मेरे विरुद्ध जो भी आरोप हैं, उनकी कृपा कर जांच कर लीजिए। इससे मेरी निर्दोषिता सिद्ध होगी और चुगलखोरों का मुँह आप ही काला हो जायगा।

जम्बूकुमार अपनी पत्नियों से कह रहे हैं—कहो, मित्र कैसा होना चाहिए? उनकी पत्नियों ने कहा—पहला मित्र तो मुँह देखने योग्य भी नहीं है। दूसरे ने हृदय को नहीं पह-

चाना और अनावश्यक वस्तुएँ पेश कीं। तीसरे मित्र ने हृदय को पहचाना और उसी के अनुसार उपाय किया। इसलिए मित्र हो तो तीसरे मित्र के समान ही होना चाहिए।

जम्बूकुमार कहने लगे—प्रधान के समान मेरे भी तीन मित्र है। नित्य मित्र यह शरीर है। इसे प्रतिदिन नहलाता धुलाता हूँ, खिलाता-पिलाता हूँ और सजाता हूं। परन्तु कष्ट का प्रसंग आने पर, जरा या रोग के आने पर सब से पहले शरीर ही धोखा देता है। इतना सत्कार सन्मान करने पर भी यह शरीर आत्मा के बंधन नही तोड़ सका। अतएव आत्मा से शरीर को भिन्न और अंत मे साथ न देने वाला समझकर उस पर ममता रखना उचित नही है।

माता, पिता, पत्नी आदि कुटुम्बी जन पर्व मित्र के समान है। पत्नी, पति पर प्रीति रखती है किन्तु जब कर्म रूपी राजा का प्रकोप होता है तब वह अपने पति को छुड़ा नहीं सकती।

जा दिन चेतन से कर्म शत्रुता करे
ता दिन कुटुम्ब से कोउ गर्ज न सरे

जिस दिन कर्म चेतना के साथ शत्रुता का व्यवहार करता है, उस दिन कुटुम्बी जन क्या कर सकते है? वह व्याकुल भले ही हो जाएँ और सहानुभूति भले प्रकट करें किन्तु कष्ट से छुड़ाने में समर्थ नही होते।

जम्बूकुमार अपनी पत्नी से कहते हैं—मेरे तीसरे मित्र

सुधर्मा स्वामी है। उन्होंने आत्मा और कर्म की भिन्न-भिन्न व्याख्या करके उसी प्रकार समझाया है, जैसे सेठ ने राजा को समझाया था। इस तीसरे मित्र की बदौलत ही आत्मा दुःख से मुक्त होता है और अपने परम पद पर प्रतिष्ठित होता है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य।

हे आत्मा! अगर तू चाहे तो दुःख क्षण भर भी नहीं ठहर सकता। मगर तू धन की कुंजी भी अपने हाथ में रखना चाहता है और स्वर्ग की कुंजी भी अपने हाथ मे रखना चाहता है। यह दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।

वस्तुतः सच्चा मित्र वही है जो उपकार करता है, संकट से बचाता है और जो सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करता है। मित्र का यह स्वरूप आध्यात्मिक दृष्टि से ही समझने योग्य नही है किन्तु व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि से भी समझने योग्य है। आचारांगसूत्र मे कहा है—

पुरिसा! तुममेव तुम मित्त किं वहिया मित्त मिच्छसि।

अर्थात्—हे पुरुष! तू अपना मित्र आप ही है। दूसरे मित्र की अभिलाषा क्यों करता है?

इसलिए मैं कहता हूँ—मित्रो! शास्त्र के इस वचन को याद रक्खो। संसार-सागर मे अगर नौका का आश्रय लेना हो तो शास्त्र की इन सूक्तियों को मत भूलो। अगर आपने इस तथ्य को कि हम स्वयं ही अपने सुख-दुःख के विधाता

हैं, समझ लिया तो दुःख आपके पास फटक ही नहीं सकेगा। बल्कि इससे आत्मा को अपूर्व लाभ होगा।

वास्तव में दुःख और सुख का कर्त्ता-हर्त्ता आत्मा ही है। लेकिन हम सुख और दुःख दोनों के आने पर गफलत में पड़ जाते है। सुख के समय आत्मा अहंकार मे डूब जाता है और जब दुःख होता है तो बिलबिलाने लगता है। आत्मा जब सुख को पुत्र, पत्नी, परिवार आदि का दिया हुआ मानता है तो अहंकार के साथ उसमे एक ज़हरीली भावना उत्पन्न होती है। मै श्रेष्ठ हूँ और दूसरे मुझसे हीन हैं, यह भावना विषैली भावना है। सुख को दूसरे का दिया हुआ मानकर इस विष-मय भावना को स्थान देने से आत्मा अमृत को विष और दूध को शराब बना लेता है। इसके विपरीत जब दुःख आ पड़ता है तो दुःख के निमित्त कारण पर निरन्तर मलीन विचार करता रहता है। फिर अपने ही पैदा किये हुए दुःख से दुखी होकर अपने को अनाथ मान बैठता है और अपनी रक्षा की इच्छा से दूसरो को नाथ बनाता फिरता है। वह सोचता है कि भैरों, भवानी, भोपा आदि की शरण लेने से मेरे दुःख का अन्त आ जायगा और मै सुखी हो जाऊँगा। इस प्रकार तत्त्व का बोध न होने के कारण आत्मा सुख में अहंकार करता है और दुःख में दीन बन जाता है। इस प्रकार सारा संसार अपनी मिथ्या धारणा के कारण परेशान हो रहा है। सौभाग्य से जब कभी कोई ज्ञानधन मिलता है और

उसके मिलने पर आत्मा अपने संबंध में विचार करता है, तब उसके नेत्र खुल जाते है। उस समय उसकी समझ में आता है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य।

अरे मानव ! तू भ्रम में क्यों पड़ा है ? अपने अन्तरतर की ओर देख। वहीं तो वह बड़ा कारखाना चल रहा है जहां सुख और दु ख तेरी भावनाओं के साँचे में ढल रहे हैं ! और तू बाहर की ओर देखता है ? कस्तूरीमृग कस्तूरी की खोज के लिए इधर-उधर भागता फिरता है। उसे नहीं मालूम कि कस्तूरी बाहर नहीं, उसी के भीतर है। यही दशा तेरी है। तू महात्माओं की वाणी सुन। वीतराग के कथन पर श्रद्धा कर और समझ ले कि अपने सुख- दु ख का दाता तू आप ही है। तुझे सुख या दु ख देने का सामर्थ्य दूसरे में नहीं है। अगर सोने- चांदी में सुख होता तो सब से पहले सोने--चांदी वालो की ही गर्दन क्यों काटी जाती ? स्त्री से सुख होता तो ज़हर क्यों दिया जाता ? इन सब बाह्य वस्तुओं से सुख होने का भ्रम दूर कर दे। निश्चय समझ ले कि सुख तेरी शान्ति, समता, संतोष और स्वस्थता मे समाया है। तेरी भावनाएँ ही सुख को उत्पन्न करती है। स्त्री, पुत्र और धनवैभव का अहंकार छोड़ दे।

दु ख के विषय में भी यही बात है। समस्त संसार की शक्तियाँ संगठित होकर भी तुझे दुखी नहीं बना सकतीं।

अपने दु ख का निर्माण तो तू स्वय करता है।

सिर पर अगारे जल रहे हैं और कोल्हू में पिल रहे हैं, तब भी तत्त्वज्ञानी क्या कभी अनाथ भावना उत्पन्न होने देते हैं? नहीं। ऐसे समय में वे जरा भी दु ख का विचार करते तो नाथ न रहते। मगर उन्होंने ऐसा विचार ही नही किया। वे इस विचार पर दृढ़ थे कि हम अपनी ही आत्मा की शरण लेंगे, स्वय सनाथ बनेंगे। दूसरे को नाथ नहीं बनाएँगे। जो परिस्थिति उत्पन्न हुई है वह हमारे ही प्रयत्नो का फल है। हमारे ही प्रयत्न से उसका अन्त होगा। दीन बनकर दूसरे का आश्रय लेने से कुछ हासिल होने वाला नही है। यही नही, ऐसा करने से दु ख बढ़ सकता है, घट नहीं सकता। दीनता स्वयं एक व्याधि है। उसका आश्रय लेने से व्याधि कैसे मिट सकती है?

मतलब यह है कि सुख, दुख, कामधेनु, वैतरणी, कल्पवृक्ष और कूट शाल्मलि आदि सब वस्तुएँ आत्मा से ही उत्पन्न होती है। अब यह भी देखना चाहिए कि आत्मा इन सब को किस प्रकार बनाता है?

हे आत्मा! तू अन्तर्मुख होकर विचार कर। स्वरूप की ओर देख। तू किस प्रकार सुख बनाता है और किस प्रकार दुःख का निर्माण करता है, इस बात को भलीभाँति समझ। कब समझा जाय कि तू अपने के लिए वैतरणी बना रहा है और कब समझा जाय कि तूने नन्दन वन और कामधेनु का

निर्माण किया है ? इस बात पर विचार कर।

मान लो कि आपके पास एक वस्तु ऐसी है जो दाहिने हाथ में लेने पर रत्न बन जाती है और बायें हाथ मे लेने पर कोयला हो जाती है। आप उस वस्तु को किस हाथ में लेना पसंद करेंगे ?

'दाहिने हाथ में।'

एक वस्तु दाहिने हाथ में लेने पर फूल की छड़ी हो जाती है और बायें हाथ मे लेने पर काली नागिन बन जाती है। आप उसे किस हाथ मे लेंगे ?

'दाहिने में।'

प्रत्येक आत्मा मे ऐसी शक्ति विद्यमान है कि वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तु को कनिष्ठ बना सकती है और कनिष्ठ से कनिष्ठ वस्तु को श्रेष्ठ बना सकती है।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥

—उत्तरा० अ० २०1

अर्थात् मेरी आत्मा वैतरणी नदी है, आत्मा ही कूटशाल्मलि वृक्ष है, आत्मा ही कामधेनु है और आत्मा ही नन्दन वन है। सुखों और दुःखों का कर्त्ता और हर्त्ता भी आत्मा ही है। सन्मार्गगामी आत्मा ही मित्र है और कुमार्गगामी आत्मा

ही शत्रु है।

श्री आचारांग सूत्र मे भी यही कहा है कि 'हे पुरुष! तू ही तेरा मित्र है, बाहर के मित्र की तरफ क्यों ताकता है!' इसी वाक्य को पलट कर कहा जा सकता है कि—'हे पुरुष! तू ही मेरा शत्रु है तू दूसरे को क्यों शत्रु समझता है?'

मित्रो जब एक ही वस्तु फूल की छड़ी बन सकती है और नागिन भी बन सकती है और उसका बनाना भी तुम्हारे ही अधीन है तो उसे नागिन क्यो बनाते हो? फूल की छड़ी क्यों नही बनाते?

आत्मा कब फूल की छड़ी बनती है और कब नागिन बनती है, इसके लिए कहा गया है—

दुप्पट्ठिय सुपट्ठिए।

आत्मा जब दुष्कर्म मे लगती है तो आप ही अपना शत्रु बन जाती है। दुष्कर्म मे संलग्न आत्मा अपने आपका वैरी है। इसी प्रकार सत्कर्म मे लगी हुई आत्मा अपना मित्र है। दुष्कर्म में लगने का फल दु:ख के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

आत्मा दुष्कर्म मे किस प्रकार प्रवृत्त होती है और सत्कर्म में किस प्रकार लगती है, इस बात को जरा स्पष्ट रूप से समझ लीजिए। पहले कानों को ही लीजिए। इन कानो से धर्मोपदेश सुना या वीतराग भगवान् की वाणी सुनी तो आत्मा ने अपने आपको मित्र बनाया। इसका फल क्या हुआ?

स महप्फलं खलु एगस्स वि आयरियस्स,
धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए।

अर्थात्—तथा रूप के श्रमण निर्ग्रन्थ के प्रवचन का एक भी वाक्य सुन ले तो उसके फल का पार नहीं रहता।

इसके विपरीत कानों को अगर वेश्या का गान सुनने में लगाया या विकथा सुनने में लगा दिया तो आत्मा दुःप्रतिष्ठित हो गया। अतएव मनुष्य को विचार करना चाहिए कि—इन कानों की बड़ी महिमा है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की अवस्था में अनन्त काल तक आत्मा रहा है और उस अवस्था में उसे कानों की प्राप्ति नहीं हो सकी। किसी प्रकार अनन्त पुण्य का उदय होने पर पंचेन्द्रिय दशा प्राप्त हुई और तब कानों की प्राप्ति हुई है। प्रबल पुण्य का व्यय करके आत्मा ने कान-इन्द्रिय प्राप्त की है सो क्या इसलिए कि उसे पाप के उपार्जन में लगा दिया जाय? नहीं! इनसे परमात्मा की वाणी सुनना चाहिए। यही कानों का सदुपयोग है।

कहा जा सकता है कि दिन भर तो धर्मोपदेश होता नहीं है फिर दिन भर इनका क्या उपयोग किया जाय? इसका उत्तर यह है कि जब धर्मोपदेश सुनने का अवसर न हो तो आत्मा का नाद सुनो। भगवान् के स्मरण का नाद आत्मा में चलने दो और इसी अन्तर्नाद की ओर कान लगाये रहो। इतना भी न कर सको तो परमात्मा का भजन सुनो।

अगर आपने इस तरफ सावधानी रक्खी तो थोड़े ही दिनों मे आप देखेगे कि आपका कितना विकास होता है !

रातें रोज विचारो आज कमाया शु अही रे।
सूता मन महीं रे ॥ राते० ॥
खावा पीवा प्रभुए दीधुं,
ते माटे तें शुं शुं कीधु,
ए खातो सरभर कीधो छे के नहीं रे ॥ राते० ॥
पाप रूपि सों करज थयो छे,
ते साटे शुं पुण्य कर्यो छे ?
वधू घट के सुधार्यो शुं तो महीं रे ॥ राते० ॥

गुजराती कवि कहता है--आप प्रतिदिन रोजनामचा लिखते है। जमा-खर्च, पोते बाकी, लेना देना और जमा पूँजी आदि देखते है। संसार मे कहावत है कि जिसका हिसाब बराबर हो, उसे कभी हानि नहीं उठानी पड़ती। जो आय-व्यय का हिसाब नही रखता, उसे आय कम और व्यय ज्यादा हो तो उसकी दुकान कितने दिन चलेगी ?

मित्रो ! आप व्यापारी है और आय-व्यय के हिसाब के महत्त्व को भलीभाँति समझते है। आप रुपये-पैसे का हिसाब रखते भी है मगर संसार से आगे की भी बात कभी सोचते है ? उसका हिसाब रखते है ? अनन्त पुण्य की पूँजी लगाकर आपने यह मानव भव पाया है और दूसरी सामग्री पाई है। अब इस सामग्री से आप क्या कमाई कर रहे हैं ?

सोने के समय रुपयों के आय-व्यय का हिसाब कर लेते हो, लेकिन कभी यह भी देखते हो कि मैंने अनन्त पुण्य के बदले में नवीन कमाई क्या की है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि मूल पूंजी ही आप समाप्त कर रहे हो?

खान-पान की सामग्री शुभ कर्म के उदय से मिलती है और शुभ कर्म, क्रिया से उपार्जित किये जाते हैं। श्रमण के नाम और गोत्र के श्रवण से भी पुण्य की प्राप्ति होती है। इसका अर्थ यह निकला कि—'हे प्रभो! मैं तुम्हारा ही दिया खाता हूँ। इस प्रकार की भावना से अहंकार का त्याग होता है।

अब यह विचार करना उचित है कि मैं भगवान् के घर का खाता तो हूँ परन्तु बदला क्या चुकाता हूँ?

मैंने कल उपवास किया था। आज दूध पीने लगा तो वह दूध बहुत स्वादिष्ट लगा। उस समय मैं विचारने लगा कि इस एक-एक घूंट दूध की कीमत क्या है? यह कैसे पैदा हुआ? साधु होने के कारण हम इसे माँग लाये, अन्यथा हमें इसके माँगने का क्या अधिकार है? गृहस्थों ने गाय पाल रक्खी है। वे उसे खिलाते-पिलाते हैं और बदले में दूध लेते हैं। परन्तु हमने क्या गाय पाल रक्खी है? मगर तप और संयम के लिए इस शरीर की रक्षा करना है, इसलिए माँग लाये। तप-संयम के नाम पर लाये हुए दूध को पीकर अगर आत्मा तप संयम में लगा, तब तो उचित है, अन्यथा एक घूंट

का बदला चुकाना भी कठिन हो जायगा। लोगों ने यह दूध हमें तप-संयम पालने के लिए दिया है, विकारों का पोषण करने के लिए नहीं दिया है। धन्ना मुनि बेले-बेले का तप करते हुए पारणे में ऐसा आहार लेते थे जिसे भिखारी भी पसंद न करे। ऐसा आहार करते हुए भी वे तप करते थे। हे आत्मन! विचार कर कि वे तो नीरस और रूखा-सूखा आहार करके भी तप करते थे और तू कैसा आहार करता है और उसके बदले मे क्या करता है?

इस प्रकार का विचार करने वाला अपनी जीभ पर अंकुश रख सकेगा और उसकी धारणा बन जायगी कि भोजन जीभ को संतुष्ट करने के लिए नहीं है, वरन तप और संयम की वृद्धि के लिये है। भोजन करके जो तप और संयम का पालन करता है, उसका भोजन करना सार्थक है। जो ऐसा नहीं करता वह अपने माथे पर कर्ज़ चढ़ा रहा है।

दिन और रात्रि संबधी प्रतिक्रमण का अर्थ क्या है? इसकी नियमितता पर शास्त्र मे जो जोर दिया गया है, उस का रहस्य क्या है? जो गृहस्थ या साधु प्रतिक्रमण के असली रहस्य और उद्देश्य को समझकर भावपूर्वक प्रतिक्रमण करेगा, उसके जीवन मे उत्क्रान्ति हुए बिना नहीं रह सकती।

जो ज्यादा बढ़िया खाना खाता है और बढ़िया कपड़ा पहनता है, उसे समझना चाहिए कि मुझे इसका ज्यादा बदला देना पड़ेगा। होटल मे जाकर एक आदमी चने चबाता

है और दूसरा पिसने की चक्की वाला है। इन दोनो में से किसे अधिक दाम देते होगे ?

'पिसने की चक्की वाले को !'

इसी प्रकार खाना मात्र पराया है। अतएव खाना खाकर अपने कर्त्तव्य को भूल न जाओ। माथे पर जो ऋण ले रहे हो, उसे चुकाने की भी चिन्ता रक्खो और यथाशक्ति चुकाते चलो। अगर तुम साधु हो तो वास्तविक साधुता प्राप्त करो और अगर श्रावक हो तो सच्चे श्रावक के गुण प्राप्त करो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भोजन करने की भावना रक्खो और अडबंड खाना छोड़ो।

श्रावक मांस और मदिरा का सेवन नहीं करता। क्यों ? इसीलिए कि इन वस्तुओं के खान-पान से प्रकृति सात्विक नहीं रहेगी और खाता इतना भारी हो जायगा कि उसका चुकता करना कठिन हो जायगा।

साधु तो दूसरों के घर से आहार लाते है पर श्रावक अपने घर का खाते हैं। वह सोच सकते हैं कि हम अपनी कमाई खाते हैं। पराई कमाई नहीं खाते। मगर उन्हे यह भी सोचना चाहिए कि उनकी कमाई क्या है ? ज़रा अपनी कमाई का विचार तो करो ! तुम ऐसी कौन-सी चीज़ अपने हाथ से उत्पन्न करते हो, जिससे तुम्हारी या दूसरों की जीवन संबंधी आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष पूर्ति होती हो ? किसान को ऐसा कहने का अधिकार हो सकता है, क्योंकि वह मिट्टी में से

अनाज़ निकालता है। आप किस बिरते पर ऐसा अभिमान कर सकते हो? पैसा कमा लेना अपनी कमाई का खाना नहीं कहलाता।

मित्रो! मेरे कहने पर विचार करो। मैं प्रतिदिन कहता हूँ, इस कारण इस कथन के प्रति उपेक्षा मत करो। आपके जीवन का उत्कर्ष ऐसी बातों पर गहराई के साथ, एकान्त में विचार करने से और अपने उन विचारों को अमल में लाने से ही होगा। निस्संदेह आप पुण्यशाली हैं। इसी कारण आपको बुद्धि मिली है। पुण्य से मिली बुद्धि को दूसरों को अपने फंदे में फँसाने के काम में मत लगाओ। बुद्धि के दो काम हैं। प्रथम यह कि किसी को न फँसाया जाय और दूसरा यह है कि फँसे हुए को निकाला जाय। अगर फँसाने वाला ही बुद्धिमान् समझा जाय तो मच्छीमार को सब से बड़ा बुद्धिमान् कहना पड़ेगा। दूसरे लोग कभी-कभी किसी को फँसाते हैं किन्तु मच्छीमार का प्रधान धन्धा ही मछलियों को फँसाना है। मच्छीमार ऐसी चतुराई से जाल बनाता है कि मछलियाँ उसमें फँस तो जाती हैं मगर निकल नहीं सकतीं। फिर भी ज्ञानपूर्वक विचार करने से प्रतीत होगा कि फँसाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। फँसे हुए को निकालने में ही बुद्धिमत्ता है। इस तथ्य पर विचार करने से आप अपनी बुद्धि का सदुपयोग करना सीखेंगे।

आप जो खाते-पीते हैं, उसका कुछ तो बदला दीजिये। आप हल तो नहीं हाँक सकते, परन्तु समभाव रखकर संसार

को शांति तो दे सकते हैं ? प्रत्येक श्वासोच्छ्वास में पाप लगता है। इसका बदला आप किस प्रकार चुकाते है ?

मतलब यह है कि आपको जो इंद्रियाँ प्राप्त हैं उनका आप जैसा चाहें वैसा उपयोग कर सकते है। प्रत्येक इंद्रिय का बुरा उपयोग भी हो सकता है और अच्छा उपयोग भी हो सकता है। आप अपने कानों से उत्तम पुरुषों के वचन भी सुन सकते हैं, अपना अन्तर्नाद भी सुन सकते हैं। इससे आपकी आत्मा सुप्रतिष्ठित होगी। यदि ऐसा न करके दूसरों की निन्दा और विकथा सुनने में कानों का उपयोग किया तो आपकी आत्मा दुःप्रतिष्ठित हो जायगी। जिनके कान सामायिक के समय भी ठिकाने नही रहते, समझना चाहिए कि उन्होंने आध्यात्मिक स्थिति नही पाई है। इस प्रकार जब आप फूल की छड़ी बना सकते हैं तो नागिन क्यों बनाते हैं ? आपकी आत्मा मे जो शक्ति है वह अनन्त पुण्य का निर्माण कर सकती है, फिर उसे आप घोर पाप के निर्माण में क्यों लगा रहे हैं ?

इन्हीं आँखों से संत-महात्माओं को देख सकते हो और इन्ही से वेश्या का शृङ्गार भी देख सकते हो। सोचो कि किसके देखने में तुम्हारा हित है ? और किसके देखने से आत्मा का पतन होता है ? मित्रो ! आत्मा को वैतरणी मत बनाओ, कामधेनु बनाओ। हां, अगर वेश्या को देखकर हृदय में यह विचार आता हो कि यह भी मेरी माता है तो बात दूसरी है। ऐसी

स्थिति में उसके देखने से आत्मा का पतन नहीं होगा।

महाभारत मे एक कथा है। अर्जुन तप कर रहे थे। उन्हे डिगाने के लिए एक अप्सरा आई। उसने विकारजनक हाव-भाव दिखाने मे जरा भी कसर नही रक्खी। लेकिन अर्जुन ने उसके रंगरूप की प्रशंसा करते हुए कहा—अगर मै इस पेट से जन्मा होता तो मेरा रूप भी ऐसा ही होता! इस विचार के कारण अर्जुन को जो सिद्धि बहुत दिनों मे प्राप्त होने वाली थी वह उसी क्षण प्राप्त हो गई।

बुरे काम से बचने के लिए कइयों ने अपनी आंखे ही फोड़ ली हैं। सूरदास के विषय मे यह बात प्रसिद्ध है। भक्त तुकाराम कहते है—

> पापाची वासना नको दाउ डोला।
> त्यातुन आंधला बराच मी॥

वह कहते है—प्रभो! मुझ पर अगर तेरी कृपा है तो तू इतना कर कि मेरी आंखों मे पाप की भावना न आने पावे। अगर तू इतना नही कर सकता तो मुझे अधा तो बना दे! मै अन्धा होना अच्छा समझता हूँ मगर विकारयुक्त आंखों से पराई स्त्री को देखना पसंद नही करता।

इस प्रकार एक-एक इंद्रिय के संबध में विचार करो और चौकसी करते रहो कि वह कहाँ-कहाँ जाती है और क्या-क्या करती है? ऐसा करके अगर आपने इंद्रियों को अच्छे काम में लगा दिया तो आत्मा कल्पवृक्ष बन जायगा। इस

प्रकार तुम्हारे दोनों हाथों मे से एक में नरक की और दूसरे में स्वर्ग की चावी है। जिसका द्वार खोलना चाहो, खोल सकते हो। अपनी एक आंख से कूटशाल्मलि वृक्ष बना सकते हो और दूसरी को नन्दन वन बना सकते हो। दोनो का बनाना तुम्हारे अधीन है। जो चाहो, बना लो। आपकी शक्ति स्वर्ग और अपवर्ग की ओर भी ले जा सकती है। और नरक एव निगोद मे भी घसीट सकती है जिस ओर जाना चाहो, जा सकते हो। अगर अपनी शक्ति का उपयोग करोगे तो कल्याण के भागी होओगे और अपने मानवभव को सफल बना सकोगे।

८

चार भावनाएँ

——:.:'():'::——

भारतवर्ष के विभिन्न सम्प्रदायों एवं पन्थों में तत्त्वज्ञान की बड़ी महिमा गाई गई है। किसी पन्थ के शास्त्र को उठाकर देखिये, उसमे तत्त्वज्ञान का महत्त्व अवश्य बतलाया गया होगा। कई-एक दर्शनशास्त्र तो यहां तक आगे बढ़ गये हैं कि उन्होंने सिर्फ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से मुक्ति होने का विधान किया है। यह ठीक है कि चारित्र की परिपूर्णता के अभाव में निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती, मगर चारित्र का प्रादुर्भाव तत्त्वज्ञान से ही होता है। जब तक दृष्टि मिथ्या है और मनुष्य मिथ्याज्ञान से घिरा हुआ है तब तक उसमें जागृति नहीं आती। कर्म के बंधन जब कभी ढीले पड़ते हैं और तत्त्वज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है तो मनुष्य के नेत्र खुल जाते हैं। वह जिन वस्तुओं को पहले जानता था उन्हीं को बाद में भी जानता है, लेकिन उसके जानने में आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। अक्षरज्ञान से शून्य बालक भी पुस्तक के अक्षर

देखता है और अक्षरज्ञान वाला भी देखता है। पर दोनों के देखने में कितना अन्तर है? यही अन्तर मिथ्याज्ञानी और तत्त्वज्ञानी के जानने में होता है।

तत्त्व का निर्णय करना बुद्धि का काम है। तत्त्व क्या है और अतत्त्व क्या है, इस बात को जाने बिना आत्मा जड़ के समान है। तत्त्व-अतत्त्व का निर्णय किये बिना बुद्धि का पाना और न पाना समान है और ऐसा पुरुष पशु से बढ़कर नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न हो सकता है कि तत्त्वज्ञान कहाँ से निकलता है और उसके प्राप्त होने पर आत्मा को क्या लाभ होता है? तत्त्व-ज्ञान का प्रादुर्भाव होने पर आत्मा में क्या विशिष्ट परिवर्त्तन हो जाता है? क्या कोई ऐसी शक्ति प्राप्त होती है जो पहले प्राप्त न हुई हो?

इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है कि आत्मतत्त्व के जान लेने पर इससे भी बड़ी बात होती है। मगर मुँह से कह देने मात्र से कुछ नहीं होता। असलियत का पता तो अनुभव करने से चलता है। ज्ञान को जब क्रिया के रूप में परिणत किया जाता है तभी सिद्धि मिलती है। अगर क्रिया हुई और ज्ञान नहीं हुआ तो अधाधुंधी चलेगी। अतएव यह आवश्यक है कि ज्ञान और क्रिया का समन्वय करके सिद्धि प्राप्त की जाय। अनन्त बार नरक की दुस्सह वेदना भोगने पर भी दुःखों का अन्त नहीं आया। अब कब तक दुःख

भुगतते रहने की ठानी है ? कहाँ तक संसार मे और नरक में चक्कर खाया करोगे ? मित्रो ! आत्मा को संसार रूपी गड़हे में मत डाले रहो।

किस प्रकार आत्मा गड़हे में से निकल सकता है, यह बात अन्यत्र कही जा चुकी है। 'अप्पा मित्तमित्तं च।' अर्थात् आत्मा स्वय अपना मित्र और स्वयं अपना शत्रु है। अब तक तुमने बहुतों पर दोपारोपण किया है, मगर अब इस निश्चय पर आ जाओ कि यह आत्मा ही दु:खो का स्रष्टा है। जब आत्मा ही अपने दुःखो और कष्टो का कर्त्ता है तो वही उन्हे मिटा भी सकता है। कर्म तुम्हारे किये हुए हैं तो तुम्ही उन्हे मिटा भी सकते हो। हथकड़ियाँ और बेड़ियां तुमने अपने हाथ से अपने हाथो-पैरो मे डाल रक्खी है उन्हें तुम्हीं तोड़ सकते हो। मगर यह सब होगा तभी जब आत्म-ज्ञान का तेज अपने मे आने दोगे।

जो कर्म किये जा चुके है, उन्हे किस प्रकार नष्ट किया जा सकता है ? इस प्रश्न का समाधान आत्मा की शक्ति को पहचान लेने पर अनायास ही हो जाता है।

एक वेश्या सिंगार करके पुरुषों को मोह मे डालने के लिए चल रही है। उसे देखकर अगर किसी के चित्त में विचार पैदा होता है तो वह आप ही कर्म का बंधन बाँधता है या नही ?

'बाँधता है!'

तो जिसमें कर्म बांधने की शक्ति है, वह ज्ञान प्राप्त करके देखे और अपने मन को पलट कर उस वेश्या को बुरी दृष्टि से देखने के बदले मातृभाव से देखे या कल्याणभाव से देखे तो वह क्या अपने कर्म का आप ही नाश नहीं कर सकता ?

'अवश्य कर सकता है !'

वेश्या निमित्त रूप से कर्म का बंध करा सकती है और कर्म का नाश भी करा सकती है। वह सुप्रतिष्ठित भी करा सकती है और दुष्प्रतिष्ठित भी करा सकती है। आपको ज्ञान-धन बनना चाहिए। संसार तो यही समझता रहेगा कि वेश्या नरक का द्वार है, खराब प्रवृत्ति में डालने वाली है, घोर मोह में डुबाने वाली है, लेकिन ज्ञानधन वेश्या को भी अपने कर्मनाश का कारण बना लेगा। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है—

> सत्वेषु मैत्र्यं गुणिषु प्रमोदम्,
> क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
> माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ,
> सदा ममात्मा विदधातु देव !

हे देव ! अगर तू मुझपर प्रसन्न है तो मैं और कुछ नहीं चाहता, केवल यही चाहता हूँ कि प्राणीमात्र के प्रति मेरे अन्तःकरण में मित्रता का भाव बना रहे।

आप कह सकते हैं कि वेश्या से मैत्री किस प्रकार की जाय ? किन्तु वेश्या क्या प्राणी नहीं है ? क्या वेश्या में आत्मा

नहीं है ? उसमें आत्मा ही न होती तो उसकी संगति कौन करता ? आत्मा होने से ही वह बुरी या भली है। इस प्रकार जब उसमें आत्मा है तो उससे मित्रता करना ही उचित है। धूल को बाजीगर यदि धूल ही बतलाए तो उसकी विशेषता क्या है ? उसकी विशेषता तो इस बात में है कि वह धूल को रुपया के रूप में दिखला दे ! ऐसा करने पर ही आप उसे कुशल बाजीगर समझेंगे। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान की कुशलता इस बात में है कि वह वेश्या को ज्ञान-प्राप्ति का साधन बना ले। वेश्या को देखकर विचार करना चाहिए कि इसने कैसा सुन्दर शरीर पाया है, फिर भी खेद की बात है कि यह पैसे के लोभ में फँसकर अपना शरीर नीच से नीच पुरुष को भी समर्पित कर देती है ! हाय ! पैसे का लोभ कितना बुरा है ! मनुष्य को कितने घोर पतन की ओर ले जाता है ! संसार के अधिकांश पाप पैसे के लिए या पैसे की बदौलत ही होते हैं। पैसे के संग्रह की लालसा ही संसार को विपत्ति में डाल रही है। पैसे के लिए वेश्या कोढ़ी, रोगी और नीच पुरुष का सत्कार करती है। पैसे के पाश में फँसकर ही वह अपनी आत्मा की हत्या कर रही है ! जिसके पास खड़ा होने को भी मन नहीं चाहता, उसे भी वह आदर देती है। यह बुराई इस बाई की नहीं, पैसे की है।

हे आत्मन् ! यह वेश्या तुझे उपदेश दे रही है कि 'मैं तो पैसे के लोभ में पड़कर बिगड़ी सो बिगड़ी, पर तू मत बिग-

ड़ना । मैं पैसे के लिए ही नीच काम करती हूँ !' तुम विचार करो कि पैसा कितना नीच है कि तूने मेरी इस बहिन के जीवन को बर्बाद कर दिया! मैं तेरे चक्कर में नहीं आऊँगा।

इस प्रकार विचार करने से वेश्या भी मित्र बन सकती है या नहीं ? जिसे सत्संग का लाभ प्राप्त है और जिसमें ज्ञान है, उसी के लिए वह मित्र है, अन्यथा शत्रु तो है ही । जो पैसे के लोभ में पड़कर नीच काम करता है, वह वेश्या के ही समान है ।

झूठ बोलना, बाप-बेटे मे झगड़ा होना, भाई-भाई मे लड़ाई ठनना, यह सब किस कारण से होता है ? इन सब अनर्थों का प्रधान कारण पैसा ही है। पैसा घोर से घोर अनर्थ करा डालता है। वेश्या तो पैसे के लोभ में पड़कर नीच की संगति ही करती है मगर क्या आपने नहीं सुना कि पैसे के लोभ ने बाप के द्वारा अपने बेटे की हत्या तक करवाई है ? इसी लोभ के चगुल में पड़कर पत्नी ने क्या पति को नहीं मार डाला ?

जिसके हृदय में वेश्या को देखकर इस प्रकार की विचार-धारा बहने लगती है, समझना चाहिए कि वही ज्ञानी है। जब वेश्या रूप निमित्त को पाकर ज्ञान उत्पन्न होता है तो वेश्या भी मित्र—हितकारिणी हुई ।

ज्ञानी पुरुष को जैसी शिक्षा सती सीता के उज्ज्वल चरित्र से मिल सकती है वैसी ही शिक्षा मलीन आचरण वाली वेश्या

के चरित्र से भी मिलती है। ज्ञानी पुरुष विचार करता है—आत्मा तो इस वेश्या का भी वैसा ही है, परन्तु दुर्गुणों के के कारण उसमें मलीनता आ गई है। दुर्गुण आत्मा को पतित कर देते हैं, इस सचाई का प्रत्यक्ष उदाहरण वेश्या है। अतएव हे आत्मन्! तू दुर्गुणों दूर रहना! वेश्या के दुर्गुणों को और पतन को देखकर तू सावधान हो जा।

सीता सत्कर्म में प्रवृत्त करने के कारण हितकारिणी है और वेश्या (ज्ञानी के लिए) दुष्कर्म से से बचाने का निमित्त होने से हितकारिणी है।

ज्ञानियों ने नरक के जीवों का हाल बताया है या नहीं?

'बताया है!'

मृगापुत्र ने कहा है.—

> सातों नरका हूं गयो ने अनन्त अनन्ती वार,
> छेदन भेदन में सह्याजी मही अनन्ती वार।
> रे जननी! अनुमति दो म्हारी मांय ॥

मृगापुत्र अपनी माता से आज्ञा माँग रहे हैं। आप भी कभी ऐसी आज्ञा मांगते हैं?

'हिम्मत नहीं!'

हिम्मत तो हम देते हैं मगर आपकी इच्छा कहाँ है! आपके अन्तर में भी एक मां है। उससे आज्ञा मागकर कहो कि मै नरक के जीवों का मित्र बनता हूँ। अगर नरक के जीवों की घोर यातना जानकर आप नरक से बचने का प्रयत्न

करते है तो नरक के जीव आपके मित्र हुए या नही ?

लोग सुखी को मित्र मानते है, दुःखी को मित्र नही बनाना चाहते। लेकिन भगवान् गौतम, महाप्रभु महावीर से आज्ञा प्राप्त करके प्रत्यक्ष नरक देखने गये थे। मृगालोढा का दुःख देखकर गौतम स्वामी के हृदय मे अपूर्व विचार उत्पन्न हुआ। उन्होने मृगालोढा को अपना मित्र बनाया। क्या आप भी किसी ऐसे को अपना मित्र बनाते है ? लोग मंदिरो, स्थानकों और गिर्जाघरों मे जाते है। मगर कितने ऐसे है जो कत्लखाना देखने जाते है ? गौतम स्वामी को वहां जाने में घृणा नही हुई जहा मृगालोढा प्रत्यक्ष नरक भोग रहा था, फिर आपको कत्लखाने मे जाने मात्र से क्यों घृणा होती है ? मृगालोढ़ा राजकुमार होते हुए भी नरक भोग रहा था। गौतम स्वामी कहते हैं कि मैंने नरक का वर्णन सुना ही था, नरक देखा नही था। परन्तु अब साक्षात् देख रहा हूँ। मृगा लोढ़ा को देखकर गौतम स्वामी ने प्रश्न किया कि—'प्रभो ! मृगा लोढा नरक क्यो भुगत रहा है ?' इस चर्चा का नाम भी शास्त्र रक्खा गया है ! जब उसका शास्त्र बना है तो उससे कुछ लाभ तो लेना चाहिए ! कुछ लाभ न होता तो शास्त्र मे इस चर्चा को स्थान ही क्यों मिलता ?

सोक्रेटीज़ (सुकरात) एक बड़ा आत्मवादी विद्वान् हो गया है। उसके जीवनचरित में लिखा है—सुकरात के हृदय मे कत्लखाने से जैसी जागृति हुई वैसी किसी दूसरी चीज़ से

नही हुई। वह कत्लखाने में जाता और वहाँ कत्ल के लिए लाई हुई गाय, भैंस आदि को देखता। वह दृश्य कितना करुणा होता होगा! उसे देखकर हृदय हिल जाता होगा। आप लोग मौज-मजे में पड़कर ऐसी बातों को नही देखते, परन्तु प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं। अगर ज्ञानपूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि कसाईखाने मे मारे जाने वाले पशु भी हमारे मित्र हैं।

कसाईखाने मे जाकर पशु किस प्रकार काटे जाते हैं, कटते समय पशुओं की चेष्टा कैसी होती है, इत्यादि बातों को सुकरात देखा करता था। वह मन ही मन सोचता— दूर खड़े होकर मै इस दृश्य को देखता हूँ, फिर भी मेरे रोएँ खड़े हो जाते हैं। मगर इन मारने वालों के चित्त पर कुछ भी असर नही होता। इसका कारण क्या है। इनका दिल क्या फौलाद का बना है? मगर मनुष्य मात्र की मूल स्थिति तो एक ही सरीखी है। जान पड़ता है, इस निर्दयता का कारण लोभ है। लोभ के कारण इन्हें मारने पर भी दया नही आती और मुझे देखने मात्र से दया आती है।

मतलब यह है कि दया नही उत्पन्न होगी जहाँ स्वार्थ न होगा। सुकरात ने विचार किया प्रभो! तेरी अनन्त दया है कि जिस तृष्णा के वश होकर यह लोग पशुओं को मार रहे हैं और इन्हे दया नहीं आती, मै उस तृष्णा से बचा हुआ हूँ।

आप तो किसी पर छुरी नहीं फेरते?

'नहीं !'

आपमें धर्म और जाति संबंधी कुछ ऐसे संस्कार परम्परा से चले आये हुए मौजूद हैं कि आप ऐसे प्रत्यक्ष पाप से बचे हैं। मगर विचार करो कि रूपान्तर से तो छुरी नहीं फेरते ? कसाई तो कसाई ही कहलाता है। उसे छुरी फेरते समय दया नहीं आती, लेकिन कलम फिरा कर आप तो किसी की गर्दन नहीं काटते ? अगर कलम चलाते समय आपका अन्तःकरण दयाहीन हो जाता है तो इसका प्रधान कारण लोभ ही है। प्राणी मात्र को अपना मित्र मान कर विचार करो कि—अरे आत्मा ! तेरे मे इतनी तृष्णा क्यों है ? तू दूसरे के पाप देखता है पर अपने पाप क्यों नहीं देखता ? जब तक तृष्णा से हृदय परिपूर्ण है तब तक कसाई को दया कैसे आ सकती है ! तृष्णा के होने पर दया उड़ जाती है और केवल स्वार्थ साधने की ही बुद्धि रहती है।

सम्पूर्ण तृष्णा तो उच्च अवस्था प्राप्त होने पर ही जीती जा सकती है, मगर अनुचित तृष्णा पर तो इस अवस्था में भी विजय प्राप्त की जानी चाहिए। पैसे की आवश्यकता होने से कसाई पशु को मारता है, लेकिन वह चाहे तो खेती करके भी अपनी आवश्यकता पूरी कर सकता है। मगर वह विवेकहीन और मर्यादाहीन तृष्णा में पड़ गया है।

सुना है कि देहली मे एक मेम तांगे मे बैठकर शराब की दुकान पर शराब लेने गई। पिकेटिंग करने वालों ने विनम्र-

तापूर्वक शराब न खरीदने का अनुरोध किया। मेम नहीं मानी। पिकेटिंग करने वाला स्वयंसेवक तांगे के आगे सो गया। उसने कहा—मेरे ऊपर से तांगा हाँक ले जाओ। स्वयंसेवक अपने विचार में जैसा पक्का था, मेम भी अपने विचार में वैसी ही पक्की थी! मेम ने अपना तांगा स्वयंसेवक के ऊपर चलवा दिया और तांगे का पहिया उसकी गर्दन पर फिर गया। इतने पर भी स्वयंसेवक ने परवाह नहीं की और वह यही कहता रहा कि शराब मत खरीदो।

एक आदमी शराब पीने वालों को रोकने के लिए जान देने को तत्पर होता है और दूसरा शराब पीने के लिए दूसरे की जान लेने को तत्पर होता है। अब देखना यह है कि इस अन्तर का कारण क्या है? मूल की तरफ देखें तो प्रतीत होगा कि एक को ज्ञान है और दूसरे को अज्ञान है। एक तृष्णा के कारण आत्मविस्मृत है और दूसरा अपने प्राण देकर भी उसकी तृष्णा को रोकना उचित समझता है। इस प्राण देने वाले को कौन बुरा कह सकता है?

'मूर्ख!'

बहुत-से ऐसे लोग भी मिलेंगे जो प्राण देने वाले को ही मूर्ख कहेंगे। गीता में कहा है—

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
> यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥

ज्ञानी लोग जिसे मूर्ख कहते हैं, उसे अज्ञानी बुद्धिमान

कहते है और ज्ञानी जिसे बुद्धिमान् कहते है उसे अज्ञानी मूर्ख कहते है।

जिसके हृदय मे प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भावना उत्पन्न हो जाती है, वह स्वयं कष्ट सहन करके भी दूसरों की भलाई करता है। मैत्री भावना वाला पुरुष अपने स्वार्थ मे फँसकर दूसरों के हित का घात नही करता। अतएव मैत्री भावना धारण करो और जगत के हित मे अपना हित मानो। ऐसा मानने से निश्चय ही आपका हित होगा।

अब प्रमोद भावना का विचार करे। जिस वेश्या के प्रति मैत्री भाव रखना है, उस पर प्रमोदभाव भी रक्खा जा सकता है। वेश्या को देखने पर गुणी जनों की याद आएगी। प्रमोदभावना वाला पुरुष विचार करेगा—एक तो यह सुन्दर शरीर वाली है और दूसरी सती भी सुन्दर शरीर वाली है। लेकिन यह अपने सौन्दर्य से लोगों को नरक की ओर ले जाती है और सती नरक से निकालती है। सती के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाएँ तो भी वह अनाचार मे प्रवृत्त नहीं हो सकती।

तात्पर्य यह है कि अंधकार देखने पर ही प्रकाश की याद आती है। ईश्वर को भी लोग तभी याद करते है जब दुःख होता है। इस प्रकार वेश्या के प्रति भी प्रमोदभावना धारण की जा सकती है।

कष्ट मे पड़े हुए, विपदा के सताये हुए जीव पर दया

आती है, लेकिन ज्ञानी जन वेश्या जैसे पतित समझे जाने वाले जीव पर भी दया का भाव रखते हैं।

अब मध्यस्थभावना की बात आती है। संसार में काला तिलक कोई नहीं निकालना चाहता! जो दुराचारी है, वह भी दुराचारी नहीं कहलाना चाहता। ऐसा होते हुए भी वेश्या अपने को वेश्या क्यों कहती है? इस प्रकार का विचार करके मध्यस्थभावना धारण करो। मध्यस्थभावना धारण करने से आत्मा की उन्नति बड़े वेग के साथ होती है। राग-द्वेष न मध्यस्थभाव कहलाता है। और जब राग-द्वेष नहीं ... तो आत्मा में समता की सुधा प्रवाहित होने लगती है। उस सुधा में ऐसी मधुरता होती है कि उसका आस्वादन करके मनुष्य निहाल हो जाता है। आत्मा को सुखी और शांत बनाने के लिए यह भावना अत्यन्त उपयोगी है।

यह चार भावनाएँ अगर आपने प्राप्त कर लीं तो आपको सर्वत्र शांति मिलेगी। इनसे आपका परम कल्याण होगा और जीवन धन्य बन जायगा।

६

भक्तामर-व्याख्यान

—— .:::():::: ——

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्—
उद्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा—
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥१॥

अर्थ—भक्तियुक्त देवों के झुके हुए मुकुटों मे लगी हुई मणियों की प्रभा को चमकाने वाले, पाप रूपी अंधकार के पटल का नाश करने वाले और इस कर्मयुग की आदि मे, भव-जल में डूबने वाले मनुष्यों को सहारा देने वाले, जिनेन्द्र भगवान् के चरण-युगल को प्रणाम करके—

य संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात ।
उद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ॥
स्तोत्रैः जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः ।
स्तोष्ये किलाहमपि त प्रथम जिनेन्द्रम् ॥२॥

अर्थ—समस्त आगम के तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न हुई बुद्धि से कुशल इन्द्रों द्वारा, तीन लोक के चित्त को हरने वाले स्तोत्रों द्वारा जिनकी स्तुति की गई है, उन जिनेन्द्र भगवान् की मै भी स्तुति करूँगा।

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपादपीठ ।
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ॥
बाल विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब—
मन्यः क इच्छति जनः सहसा गृहीतुम् ॥३॥

अर्थ—प्रभो ! आपका सिंहासन देवों द्वारा पूजा गया है। मै बुद्धिहीन, निर्लज्ज होकर आपकी स्तुति करने को तैयार हुआ हूँ। जल में प्रतिबिंबित होने वाले चन्द्रमा को, बालक के सिवाय और कौन पकड़ने की इच्छा करता है ?

(१)

भगवान् आदिनाथ की स्तुति करते हुए आचार्य मानतुग कहते हैं—जिनकी स्तुति इन्द्र ने ऐसे मनोहर स्तोत्र द्वारा की है कि जिस पर तीनो लोको के जीव मुग्ध हो जावे, उन भगवान् की स्तुति मै भी करूँगा। उन भगवान् के चरणों पर इद्र ने अपना मुकुट नमाया है और उसके मुकुट की मणियां भगवान् के चरणो के प्रकाश से प्रकाशित हो उठी है।

प्रश्न हो सकता है—इन जड़ वस्तुओ को तो सूर्य भी प्रकाशित कर सकता है। सूर्य के सामने मणि चमक भी उठती है। ऐमी स्थिति मे भगवान् के चरणों की प्रभा से अगर मणि प्रकाशित हो उठी तो इसमें कौन-मी बड़ी बात हो गई!

स्तुति में इस प्रश्न का समाधान कर दिया गया है। आचार्य कहते है—भगवान् के चरण 'दलितपापतमोवितानम्' है। अर्थात् भय एव अज्ञान आदि रूपी मोह-अधकार भी भगवान् के चरणों के प्रकाश से नष्ट हो जाता है। जो भव्य पुरुष भावपूर्वक भगवान् के चरणों मे प्रणाम करता है, उसके अन्तःकरण मे मोह का अधकार नही ठहर सकता।

चारित्र, आचरण, संयम और सदाचार—इन चारो को

'चरण' कहते हैं। भगवान् का चारित्र, आचरण, संयम और सदाचार इतना वीतरागतापूर्ण है कि उनके चरणों में झुकते ही संसार के जीवों को अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है और उनके भीतर छाया हुआ मोह का अंधकार तत्काल नष्ट हो जाता है। यह भगवान् के चरणों की विशेषता है।

इसके अतिरिक्त भगवान् के चरण 'आलम्बनं भवजले पतताम् जनानाम्' हैं। अर्थात् भव रूपी समुद्र में गिरते हुए मनुष्यों के लिए आलम्बन हैं। जिस प्रकार ऊपर चढ़ता हुआ मनुष्य अगर नीचे गिरने लगे और उसे रस्सी का सहारा मिल जाय तो वह गिरने से बच जाता है, उसी प्रकार इस भव-समुद्र में गिरते हुए जीवों को बचाने के लिए भगवान् के चरण अवलम्बन हैं। इतना ही नहीं, बल्कि जैसे कोई पुरुष कुए में गिर पड़ा हो और वह रस्सी का सहारा लेकर बाहर आ जाता है, उसी प्रकार इस भव-समुद्र में पड़े हुए को बाहर निकालने के लिए भी भगवान् के चरण अवलम्बन हैं। कुए में पड़ा मनुष्य बिना सहारे के नहीं निकल सकता, उसी प्रकार इस भवकूप में पड़ा हुआ मनुष्य भी बिना सहारा पाये नहीं निकल सकता। अर्थात् उसका उद्धार नहीं हो सकता। आचार्य कहते हैं—भगवान् ऋषभदेव के चरण इस भव रूप कूप से निकालने के लिए अवलम्बन हैं। यह भी भगवान् के चरण की विशिष्टता है। इन विशेषताओं के कारण भगवान् के चरण सूर्य से भी विशिष्ट हैं। सूर्य द्रव्य प्रकाश तो देता है

मगर भावप्रकाश नहीं दे सकता। भगवान् के चरण भाव-प्रकाश देते हैं और उस प्रकाश की लोकोत्तर आभा में आन्तरिक तम-मोह विलीन हो जाता है। प्रभु के पदयुगल संसार-सागर से पार उतारने वाली नौका हैं।

यहां एक प्रश्न और हो सकता है। भगवान के चरण भव-कूप से निकलने के लिए आलम्बन हैं। भगवान् त्रिलोकीनाथ हैं, वीतराग हैं और सभी भगवान को मानते हैं। वीतराग होने के कारण उन्हें किसी से प्रार्थना, अनुनय या आजीज़ी कराने की भी आवश्यकता नहीं है। उनका सर्वत्र समभाव है। फिर भी भगवान् की चरण-नौका सब जीवों का उद्धार क्यो नहीं करती ? संसार के जीवों को दुःख में पड़ा देखकर तो यही जान पड़ता है कि इन दुखिया प्राणियों को तारने वाला कोई नहीं है ! अगर कोई तारने वाला होता तो यह बेचारे नाना प्रकार के कष्टों से क्यों पीड़ित होते ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है। मान लीजिए, एक मनुष्य कूप में गिर पड़ा है। उसमे रस्सी लटकी हुई है। उसे आवाज दी जा रही है कि-इस रस्सी को पकड़ ले तो हम तुझे बाहर खींच लेंगे। इतना होते हुए भी अगर गिरा हुआ मनुष्य लटकती हुई रस्सी को न पकड़े तो किसका दोष समझा जाय ?

'गिरे हुए का ही !'

मधु-बिन्दु के लोभ का उदाहरण प्रसिद्ध है। मधु के बूंदों के लोभ मे फँसे हुए एक मनुष्य को विमान में बैठने के लिए

बुलाया जाय। उससे कहा जाय-'भाई, आ जा। तेरा जीवन चारों ओर से खतरे में है। तू शीघ्र ही नीचे गिरने वाला है और नीचे गिरते ही भयानक विषधर तुझे डँस लेगा। इसलिए तू इस विमान में बैठ जा। विमान में बैठकर तू सकुशल अपने स्थान पर पहुँच जायगा।' मगर वह मधु का लोभी मधु के बूँदों पर इतना अधिक मोहित हो गया है कि अपने भविष्य की चिन्ता नही करता। बूँदों का लोभ नही छोड़ सकता। ऐसी दशा मे तारक क्या करे ? विमान का अवलम्बन देने के लिए जो तैयार है, उसका क्या अपराध है ?

यही बात भगवान् के विषय मे है। भगवान् वीतराग हैं। सब के तारनहार हैं। सब पर समभाव होने से किसी की प्रार्थना की भी अपेक्षा नही रखते। परन्तु जब तिरने वाले की इच्छा ही न हो तो वे तारें कैसे ? वीतराग होने के कारण भगवान् का न किसी पर राग है, न द्वेष है। उनके चरण-कमल सब के लिए समान हैं। विना किसी भेदभाव के प्राणी मात्र प्रभु के चरणों का सहारा ले सकते हैं। जो सहारा लेता है वह तर जाता है और जो सहारा लेगा, तर जायगा। मगर मोह की प्रबलता के कारण जो मनुष्य सहारा ही नही लेता, बल्कि लेना ही नही चाहता, वह कैसे तरेगा ? ऐसी हालत में अगर वह तर नही सकता और दुःखों का पात्र बना ही रहता है तो अपराध उन चरणों का नही है। भगवान् के चरणों का आश्रय लेकर तो असंख्य मनुष्य तरे है। बड़े-बड़े पापियों

को भी भगवान् की चरण-नौका ने तार दिया है।

प्रश्न हो सकता है—जिस समय भगवान् सशरीर विद्यमान थे उस समय उनके चरणों का दर्शन हो सकता था और चरण पकड़े भी जा सकते थे। मगर आज क्या किया जाय ? आज भगवान् मौजूद नहीं है और उनके चरण पकड़े विना संसार-सागर से तर नहीं सकते। तो क्या अब अनन्त भवसागर में ही गोते लगाते रहना पड़ेगा ?

इस प्रश्न के संबंध में पहले ही कहा जा चुका है कि सम्यग्ज्ञान के साथ पालन किया जाने वाला सम्यक् चारित्र ही असल में चरण है। दया रूप मोक्षमार्ग ही भगवान् का चरण है। और उस मोक्षमार्ग को ग्रहण करना ही भगवान् के चरण ग्रहण करना है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को ग्रहण न किया जाय तो भगवान् के साक्षात् मिल जाने पर भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रयोजन की सिद्धि तो इस रत्नमय की प्राप्ति से ही हो सकती है। जो मनुष्य संसार-सागर से तिरने की इच्छा रक्खेगा वह कभी नहीं कहेगा कि भगवान् नहीं हैं या उनके चरण नहीं हैं। जब भगवान् के बतलाये सम्यग्ज्ञान, चारित्र मौजूद है तो समझना चाहिए कि भगवान् के चरण ही मौजूद हैं।

जो जीव भगवान् के चरणों का आश्रय लेना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे आरभ और परिग्रह की लहरों से बचकर भगवान् के चरणों का आश्रय लें। जिन्होने प्रभु के परम

पावन पद-पंकज का आश्रय लिया है, संसार की कोई भी शक्ति उन्हें दुखी नहीं कर सकी ।

हाँ, एक बात ध्यान में रखनी होगी। एक साथ दो घोड़ों पर सवार होने की चेष्टा करने से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा करने वाला सफलता नहीं पा सकता। इसी प्रकार धन का भी अवलम्बन चाहने से और भगवान् का भी अवलम्बन चाहने से काम नहीं चलेगा। जो भगवान् के चरणों का आधार चाहता है उसे धन का आधार त्यागना पड़ेगा। जो धन के आधार पर निर्भर है उसे भगवान् के चरणों का आधार नहीं मिलेगा। ठाणांगसूत्र में कहा है—

दुवे ठाणे आया केवलीपण्णत्तं धम्मं नो लभेज्जा सवणियाए।

अर्थात् दो बातों को बुरी समझे बिना और उनके प्रति राग का त्याग किये बिना सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म का श्रवण प्राप्त नहीं होता। वे दो बातें हैं—आरम्भ और परिग्रह। जब तक इन दोनों की ओर से आत्मा विमुख न हो जाय तब तक अरिहन्त भगवान के शरण में नहीं पहुँचता।

प्रश्न किया जा सकता है—क्या धर्म और ईश्वर का दायरा इतना संकीर्ण है? केवलि द्वारा प्ररूपित धर्म को अगर आरंभ और परिग्रह का त्याग किये बिना कोई सुन भी नहीं सकता तो उसका आचरण कैसे कर सकेगा? ऐसी दशा में केवली का धर्म सिर्फ साधुओं के लिए ही है, गृहस्थों के लिए नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि केवलि-कथित

धर्म उसी को प्यारा लगेगा जिससे आरंभ-परिग्रह का त्याग होगा, यह कथन सत्य ही है। मगर यह आवश्यक नहीं कि सभी लोग एकदम ही सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह त्याग दें। जैसे किसी ऊँचे महल पर चढ़ने के लिए सीढियाँ होती हैं और सर्वसाधारण क्रमशः सीढ़ियों पर चढ़ते हैं, उसी प्रकार आरंभ-परिग्रह त्यागता चलता है वही केवलि-कथित धर्म की ओर उतना ही अग्रसर होता जाता है और उतने ही अंशों में भगवान् के चरणों पर निर्भर बनता जाता है।

महाराजा उदायी सोलह देशों पर राज्य करते थे, फिर भी वह श्रावक थे। श्रावक भी वह सिर्फ धर्म का श्रवण करने वाले नहीं वरन् आराधन करने वाले थे। उदायी के सिवाय और भी अनेक राजा-महाराजा हुए हैं जिन्होंने परमात्मा की शरण ली है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि पूर्णतः आरम्भ-परिग्रह का त्याग किये बिना परमात्मा नहीं मिल सकता ?

आनन्द श्रावक के पास बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ थीं। चार करोड़ पृथ्वी में गड़ी थीं, चार करोड़ की ऊपरी सम्पत्ति थी और चार करोड़ व्यापार में लगी थीं। यह सम्पत्ति आनन्द श्रावक के पास, भगवान् महावीर के समक्ष व्रत धारण करने से पहले से ही थी। व्रत धारण कर लेने पर उसने सम्पत्ति बढ़ाने का त्याग कर दिया था। अब आपको केवलि-कथित धर्म का श्रवण करने पर धन सम्बन्धी ममता

घटाना चाहिए या बढ़ाना चाहिए ?

आनन्द श्रावक चार करोड़ स्वर्ण-मोहरों की पूँजी से व्यापार करता था, मगर सम्पत्ति बढ़ाने का उसने त्याग कर दिया था। इतना विशाल व्यापार करते हुए भी वह सम्पत्ति नही बढ़ने देता था। अब आप विचार कीजिए कि आनन्द ने किस उद्देश्य से और किस प्रकार व्यापार किया होगा ? गहराई से विचार करो तो आपको विदित होगा कि आनन्द का व्यापार कैसा था और आज का व्यापार कैसा चल रहा है! आज व्यापार के नाम पर गरीबों का किस प्रकार गला घोंटा जारहा है, यह बात उसकी समझ में आ सकती है, जिसके दिल मे दया का वास हो। आज के व्यापारियों ने व्यापार को व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का साधन समझ रक्खा है, जब कि वह सामाजिक लाभ का द्वार होना चाहिए। व्यापार भी वही आदर्श समझा जा सकता है, जिसकी छाप दुनिया पर उत्तम पड़े और जिससे न्याय-नीति का प्रकाश हो। आज लोभ में पड़ी दुनिया व्यापार करती है, परन्तु दूसरे का गला घोंटने के लिए ही। कदाचित् कही ऐसी दुकान हो जहाँ नफा न लिया जाता हो और जो गरीबों का विश्रान्तिस्थल हो तो कितनी अच्छी बात हो!

कहा जा सकता है कि व्यापार में नफा लेकर धर्म कर देने—दान दे देने मे क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि पहले कीचड़ से हाथ भरे जाएँ और फिर धोए जाएँ। ऐसा

करने से क्या लाभ है ? पहले ही नफा न लेकर व टी जाए तो कितना सुन्दर आदर्श हो ! नीतिकार भी कह हैं—

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।

अर्थात्—पहले कीचड़ लगाकर फिर धोने की अपेक्षा तो कीचड़ से दूर रहना ही भला है।

आज मुनाफा न लेने वाली या मर्यादित मुनाफा लेने वाली दुकान कहीं हो तो उससे जनता को बड़ी जबर्दस्त शिक्षा मिल सकती है।

कहा जा सकता है कि आज इस प्रकार का व्यापार करने से दिवाला निकल जाने में क्या देर लगेगी ? आज इतनी तेजी-मंदी चलती है कि न पूछिए बात।

यह ठीक है, मगर आज का व्यापार, व्यापार नहीं, कानून द्वारा सम्मत लूट है। अमेरिका की किसी राजनैतिक घटना का प्रभाव भारत के व्यापार पर पड़े और वह भी अचानक बिजली की तरह पड़े, भला यह भी कोई व्यापार है? इसके अतिरिक्त आज सट्टे के व्यापार की ही सर्वत्र प्रधानता देखी जाती है। सट्टा देश का दिवाला निकालने का साधन है।

प्रतापगढ़ में पन्नालालजी मोगरा नामक एक सज्जन थे। वह श्री राजमलजी महाराज के बड़े भक्त थे। एक दिन उन्होंने मुनिजी से कहा—महाराज, आजकल व्यापार नहीं चलता, इसलिए धर्मकार्य करने मे भी मन नही लगता। मुनिजी ने उत्तर दिया—तुम श्रावक होकर दुःख मानते हो, यह आश्चर्य की बात है। लोभ में पड़कर दुगने-ड्योढ़े करना चाहते हो,

इसी कारण तुम्हे लगता है कि व्यापार नही चलता ! पन्ना-लालजी के मन में मुनिजी की बात बैठ गई। उसी समय उन्होंने एक आना प्रति रुपया से अधिक नफा न लेने की मर्यादा कर ली। वह कपड़े की दुकान करते थे। उन्होंने सब कपड़ों पर अंक चढ़ा कर कीमत निश्चित कर दी। आरंभ में तो उन्हें कुछ असुविधाओं का सामना करना पड़ा परन्तु कुछ दिनों बाद ऐसा विश्वास जमा कि लोग उन्हीं की दुकान से खरीद करने लगे। भील भी उन्ही के ग्राहक बन गये। पन्नालालजी की ऐसी प्रतिष्ठा जमी कि लाखों रुपया खर्च करने पर भी वैसी न जमती। इस प्रकार उनका व्यापार भी खूब चमक उठा और प्रतिष्ठा भी चमक उठी। लोगों में यह बात फैल गई कि पन्ना-लालजी झूठ नही बोलते !

आनन्द श्रावक की सम्पत्ति मर्यादित थी। व्रत ग्रहण करने के पश्चात् उसने अपना धन नहीं बढ़ाया। इसके अतिरिक्त आनन्द का धन उसी के भोग-विलास के लिए नहीं था, वरन् दूसरे को आपत्ति के समय सहायता पहुँचाने के लिए था। एक व्यक्ति वह है जो अपने दीपक से दूसरों के दीपक को प्रज्वलित करता है और दूसरा वह है जो दूसरों के दीपकों का तेल अपने दीपक में उंडेल लेता है। इन दोनों व्यक्तियों में जो अन्तर है वही प्रायः आनन्द के और आधुनिक व्यापारियों के व्यापार में अन्तर है।

कहने का आशय यह है कि आरंभ और परिग्रह का त्याग

किये विना केवलि द्वारा प्ररूपित धर्म नहीं सुहाता। यह पीली और सफेद मिट्टी (अर्थात् सोना और चांदी) ही धर्म का आचरण करने में बाधक नहीं है वरन् लोगों की बढ़ी हुई तृष्णा भी बाधक है। ज्ञानी जन कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान् के कथित धर्म का श्रवण करने से यह लालसा शान्त हो जाती है। जिसने धर्म को सुनकर उस पर मनन किया होगा वह अपनी सम्पत्ति को अपने भोग-विलास के लिए नहीं समझेगा किन्तु संसार के लाभ के लिए समझेगा। और ऐसा समझने वाला ही भगवान् का सच्चा भक्त हो सकता है। इसलिए मैंने कहा है कि एक साथ धन की और भगवान् की सहायता नहीं मिल सकती।

सेवा करने वाला सेवक कहलाता है। जो भगवान् की सेवा करना चाहता है वह जड़ पदार्थों की सेवा नहीं कर सकता। एक प्रश्न आप अपने अन्तःकरण से पूछिए—तू धन का सेवक है या स्वामी है? अगर आप धन के सेवक नहीं हैं तो भगवान् की सेवा कर सकते हैं और यदि धन के सेवक हैं तो फिर भगवान् के सेवक नहीं बन सकते। जो धन का गुलाम है उसे अन्याय और न्याय नहीं सूझता। उसे पैसा ही पैसा सूझता है। और जिसे पैसा ही पैसा सूझता है उसे भगवान् कैसे सूझेगा? वह भगवान् की सेवा नहीं कर सकता। उसके लिए पैसा ही परमेश्वर बन जाता है।

काम कराने के लिए नौकर रक्खा जाता है। अगर नौकर

की ही सेवा करनी पड़े या उसकी सेवा का उत्तरदायित्व आपके ऊपर आ पड़े तो आप यही कहेंगे कि यह नौकर क्या रक्खा हम स्वयं इसके नौकर बन गये ! आप ऐसे नौकर को रखना पसंद नहीं करेंगे और अलहदा कर देंगे। यही बात धन के संबंध में है। धन के द्वारा आपने अपनी आत्मा की कुछ भलाई कर ली तब तो आप उसके स्वामी हैं। अगर धन की बदौलत नरक में पहुँचाने वाले काम हुए—धन ने आपको नरक का पात्र बना दिया तो आप धन के स्वामी कैसे कहलाए ? चार आने के लिए झूठ बोलना, कम तौलना, कम नापना, अच्छी चीज में बुरी मिलाकर बेचना और झूठे दस्तावेज़ बनाना धन की गुलामी करना नहीं है तो क्या है? ऐसा धन धनी को भोगता है, धनी उसको नहीं भोगता।

धन के आगे धर्म प्यारा न लगना धन की गुलामी का अर्थ है। धर्म की परवाह न करके जो अनीति और छलकपट से धन एकत्रित करने मे लगा रहता है, वह वीतराग का मार्ग नहीं पा सकता। जिसे वीतराग का मार्ग पाना है उसे धन के लिए अन्याय-अनाचार करने का परित्याग करना चाहिए। जो पुरुष ऐसा करने के लिए संकल्प करके तैयार हो जायगा और तात्कालिक कठिनाइयों की परवाह न करके अपने संकल्प पर दृढ़ रहेगा, वही भगवान् के चरणों का आश्रय पा सकेगा।

भगवान् के चरण भव-कूप मे डूबते को अवलम्बन हैं।

आचार्य ने कहा है कि मै भी उन चरणों की स्तुति करूँगा।

प्रश्न हो सकता है—तीन ज्ञान के धनी देवराज इन्द्र ने भगवान् की प्रभावशाली स्तोत्रों द्वारा स्तुति की है। क्या आप उससे भी अधिक प्रभावशाली स्तुति कर सकते हैं ? अगर नहीं कर सकते तो फिर क्यों व्यर्थ चेष्टा करते हैं ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं—

> बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपादपीठ !
> स्तोतु समुद्यतमतिर्विंगतत्रपोऽहम् ।
> बाल विहाय जलसस्थितमिन्दुबिम्बम्–
> अन्य' क इच्छति जन सहसा गृहीतुम् ।।

आचार्य कहते है—हे प्रभो ! मै बुद्धिहीन हूँ। इन्द्र से मै बुद्धि में ऊँचा नही हूँ कि उससे भी बढ़कर स्तुति कर सकूँगा। फिर भी मेरी बाल-लीला नहीं रुकती। हे इन्द्र द्वारा पूजित सिंहासन वाले ! जहाँ आपके चरण पड़ते हैं उस पाट को भी इन्द्र नमस्कार करता है। मुझमे ऐसी बुद्धि नही है कि आपके गुणों का कीर्तन कर सकूँ। फिर भी आपके गुणकीर्तन की अभिलाषा ऐसी प्रबल हो उठी है कि वह रोके नहीं रुकती। विद्वत्ता मुझमें से निकल गई है और मै बालभाव में आ गया हूँ। अतएव मुझे यह शर्म नहीं रही कि मुझसे स्तुति बनेगी या नहीं बनेगी ! बालक नहीं सोचता कि मुझसे यह काम हो सकेगा या नही, फिर भी वह काम में जुट जाता है। ऐसी ही अवस्था मेरी है। मेरी यह स्तुति, नही, बालचेष्टा है। जैसे स्तुति

बालक जल में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को पकड़ने की चेष्टा करता है—सफलता और असफलता का विचार नहीं करता, उसी प्रकार मैं भी स्तुति-चन्द्र को पकड़ना चाहता हूँ। वह स्तुति-चन्द्र भले ही पकड़ में न आवे, परन्तु इस चेष्टा से मेरा मन अवश्य ही प्रसन्न होगा।

स्तुति के इस कथन का अभिप्राय हमें समझना चाहिए। इसमें गहरा मतलब भरा है। वे कहते हैं-मुझे पंडित बनना नहीं आता तो क्या हुआ, बालक बनना तो आता ही है। भगवान् की स्तुति करने के लिए स्तोता को बालक बन जाना चाहिए।

लोग बालक को बुद्धिहीन और मूर्ख समझ कर उसकी उपेक्षा करते हैं। परन्तु बालक जैसे निरहंकार होते हैं, वैसे अगर आप बन जाएँ तो आपका बेड़ा पार हो जाए। बुद्धिमत्ता का ढोंग छोड़कर अगर आप अपने अन्तःकरण में बालसुलभ सरलता उत्पन्न कर लें तो कल्याण आपके सामने उपस्थित हो जाय। बालक का हृदय कितना सरल होता है, यह बात एक दृष्टान्त से समझिए।

एक मुहल्ले में आमने-सामने दो घर थे। उन दोनों घरों में देवकी और यशोदा नाम की दो लड़कियाँ थीं। देवकी और यशोदा नहीं जानती थीं कि हम देवकी और यशोदा हैं, पर उनके माता-पिता ने उन्हें यही नाम दे दिये थे। फागुन का महीना था। दोनों बालिकाओं के माँ-बापों ने उन्हें अच्छे-

अच्छे कपड़े पहनाये थे। बच्चों को स्वभावतः घर प्यारा नहीं लगता। वे बाहर घूमना-फिरना और खेलना बहुत पसंद करते हैं। शायद अपने शरीर का निर्माण करने के लिए उन्हें प्रकृति से यह अव्यक्त प्रेरणा मिलती है। अगर बालकों की तरह आप भी घर से उतना प्रेम न रक्खें तो आपको पता चलेगा कि इसका परिणाम कितना अच्छा होता है।

देवकी और यशोदा कपड़े पहनकर अपने--अपने घर से बाहर निकलीं। वर्षा होकर बन्द हो चुकी थी किन्तु पानी गलियों में अब भी बह रहा था। देवकी और यशोदा उसी बहते पानी में खेलने लगीं। दोनों ने पानी में अपने-अपने पैर छपछपाये। पैरों के छपछपाने से कीचड़भरा पानी उछला और कपड़ों पर धब्बे पड़ गये। दोनों के कपड़ों पर धब्बे पड़ गए हैं, यह देखकर दोनों एक दूसरी को आपस में उलहना देने लगीं। उलहना देती हुई वह अपने-अपने घर लौटीं। कीचड़ से भरे कपड़े देखकर और बालिकाओं का आपस में उलहना देना सुनकर दोनों घर वाले झगड़ने लगे।

यद्यपि झगड़े का कोई ठोस आधार नहीं था, और अगर दोष समझा जाय तो दोनों बालिकाओं का दोष बराबर ही था, परन्तु दोनों के माँ-बापों के दिल मे पहले की कोई ऐसी बात थी कि उन्हें लड़ने का बहाना मिल गया। दोनों ओर से वाग्युद्ध हो रहा था कि इतने में एक बूढ़ा वहाँ आ पहुँची। उसने दोनों घर वालों से हाथ जोड़कर कहा—आज होली का

त्यौहार है। आनन्द मनाने का दिन है। प्रसन्न होने का अवसर है। फिर आप लोग आपस में एक-दूसरे की होली क्यों कर रहे हैं? आप दोनों पड़ौसी हैं। एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता। दोनों लड़कियां खेल रही थीं। एक के कूदने से दूसरी के कपड़े गंदे हो गये तो कौन बड़ी बात हो गई? इन नादान बच्चों के पीछे आप बड़े-बड़े क्यों झगड़ते हैं? इससे आपकी ही हँसी होती है।

वृद्धा के बहुत समझाने पर भी वे न माने। लड़ाई का जोश इतना तीव्र था कि बुढ़िया की बात सुनने की किसी ने परवाह न की। खूब तपे हुए तवे पर पानी के कुछ बूंद कोई असर नहीं करते। इसी प्रकार तीव्र क्रोध के उत्पन्न होने पर शांति की बात व्यर्थ हो जाती है।

इधर दोनों घर वाले झगड़ रहे थे, उधर मौका देखकर दोनों लड़कियाँ फिर घर से बाहर निकल पड़ीं। वे वहाँ पहुँचीं जहाँ पानी बह रहा था। बहते पानी को रोकने के लिए दोनों ने मिलकर रेत का बाँध बनाया। पानी रुक गया। रुके पानी में दोनों लड़कियों ने घास का तिनका या लकड़ी का टुकड़ा डाला। उसे पानी में गिरते देखकर दोनों उछलने लगीं। एक ने कहा—देख, देख, मेरी नाव तैर रही है! दूसरी ने कहा—और मेरी भी तैर रही है। देख ले न!

संयोगवश वह वृद्धा उधर से ही निकल पड़ी। उसने देखा—इन लड़कियों को लेकर उधर झगड़ा मच रहा है,

सिरफुटौवल की नौबत आ पहुँची है, और इधर ये मस्त होकर खेल रही हैं। उसने झगड़ने वालों के पास जाकर कहा—अरे झगड़ना बन्द करके एक तमाशा देख लो! पड़ौसी हो, चाहोगे तभी झगड़ लोगे, मगर वह तमाशा चाहे तब नहीं देख पाओगे। आओ, मेरे साथ चलो।

तमाशे की बात प्यारी लगती ही है। फिर बुढ़िया के कहने का ढंग भी कुछ आकर्षक था। अत: झगड़ने वाले बुढ़िया के पीछे हो लिये और वहाँ पहुँचे जहाँ दोनों बालिकाएँ अपनी-अपनी नाव तिरा रही थीं। दोनों घर वालों को दिखाते हुए बुढ़िया ने कहा—यह तमाशा देखो, पानी में लकड़ियों के टुकड़े तैर रहे हैं। दर असल यह नाव हैं!

एक झगड़ने वाले ने कहा—यह कौन-सा तमाशा हुआ! तैराई होगी, किसी ने! वृद्धा—और किसी ने नहीं, यशोदा और देवकी ने तैराई हैं। इतना कहकर उसने उन लड़कियों से पूछा इनमें कौन किसी की नाव है बेटियो! जरा बताओ तो सही।

दोनों ने साथ-साथ उत्तर दिया-यह मेरी है, यह मेरी है!

तब मुस्किराती हुई वृद्धा ने कहा—देखो, दोनों लकड़ियां इकट्ठी हो गई हैं और जिनको लेकर तुम लड़ रहे हो वह लड़कियाँ भी मिल गई हैं। अब तुम कब मिलोगे? यह तो नादान बालक होकर भी मिल गई और तुम समझदार हो कर भी झगड़ते रहोगे? वृद्धा की समयोचित शिक्षा से दोनों

घर वाले शर्मिन्दा हो गये। उनकी लड़ाई समाप्त हो गई और मेल-मिलाप से रहने लगे।

मित्रो! बालक लड़-झगड़ कर एक हो जाते हैं, इसी प्रकार अगर आप लोग भी आपस में एकता पूर्वक रहें तो कैसा आनन्द हो? एकता आपको इतनी शक्ति प्रदान करेगी कि आप अपने को अपूर्व शक्तिशाली समझने लगेंगे। मगर बड़े लोगों की लड़ाई भी बड़ी होती है। वे लड़कर आपस में मिलते तक नहीं हैं। यहाँ तक कि धर्मस्थान में अगर पास-पास बैठना पड़ जाय तो भी एक दूसरे को देखकर गाल फुलाने लगते हैं! यह कहाँ तक उचित है? ऐसे करने वाले बड़े अच्छे या ऐसा न करने वाले नादान बालक अच्छे? बालक वास्तव में ही सरलहृदय होते हैं।

इसी कारण आचार्य कहते हैं—जब मैं बालक हुआ तभी मुझसे स्तुति बनी। बड़ा बना बैठा रहता तो स्तुति बनती ही नहीं। इस प्रकार अपनी बुद्धिमत्ता का ढोंग छोड़ कर जो बालक के समान सरल बन जाता है, उसके क्लेशों का अंत आ जाता है। जब आप सच्चे अन्तःकरण से अपने अपराध के लिए क्षमा याचना करेंगे और उदारता के साथ अपने अपराधी को क्षमादान देंगे तो आपके हृदय का शल्य निकल जायगा और आप ऐसी शांति पाएँगे, जो अनुभव करने की चीज़ है। आपस में वैर-भाव रखना और अदालत की शरण लेना धर्मप्रिय लोगों के लिए उचित नहीं है। अदालत का शरण लेने से

अदावत का अन्त नही होता। ऐसा करने में लाखों-हजारों रुपयों का पानी हो जाता है और अन्त में अदावत कई गुनी बढ़ जाती है। अगर दूसरा धर्म छोड़ता है तो उसका अनुकरण मत करो। तुम अपना धर्म मत छोड़ो। बालक माता के पेट में से कुचालें सीखकर नही आते, यहाँ माँ-बाप से ही सीखते हैं। इसलिए उनके सामने शांति और प्रेम का आदर्श उपस्थित करो।

धर्म और सदाचरण ही प्रभु के चरण हैं। उनकी शरण गहो और उन्हें अपने हृदय मे स्थापित करो। बालस्वभाव धारण करके सरलता, शांति और स्नेह की भावनाएँ बढ़ाओ। वैर-विरोध को पास मत फटकने दो। इससे आपका अन्तःकरण हल्का होगा और अन्त.करण हल्का होगा तो आत्मा मे गुरुता आएगी।

बीकानेर,
११-७-३०

(२)

वक्तु गुणान् गुणसमुद्र ! शशाङ्ककान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या ॥
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रम्,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥

अर्थ—हे गुणों के सागर ! तेरे चन्द्रमा के समान निर्मल गुणों का बखान करने में, बुद्धि से बृहस्पति के समान होकर भी कौन समर्थ हो सकता है ? प्रलय काल के पवन से मगर मच्छ जिसमें उछल रहे हों, उस समुद्र को अपनी भुजाओं से कौन पार कर सकता है ?

× × × ×

स्तुति करने वाले के अन्तःकरण में यह विचार होना आवश्यक है कि वह किसकी स्तुति करता है और स्तुति करने का उसका ध्येय क्या है ? इन बातों पर समुचित विचार करने के बाद की गई, स्तुति कल्याणकारक होती है। देखा-देखी की जाने वाली स्तुति से भी कल्याण तो होता है, मगर मोक्ष नहीं प्राप्त होता।

आचार्य मानतुंग कहते हैं-प्रभो ! बुद्धि में साक्षात् देवगुरु बृहस्पति के समान होने पर भी तुम्हारे गुणों का कथन करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। आपके गुण चन्द्रमा की कांति

के समान निर्मल अवश्य है, मगर आप गुणों के सागर हैं और उनका जो बखान करना चाहेगा वह बृहस्पति के समान बुद्धिशाली होने पर भी परिमित बुद्धि वाला ही होगा ! ऐसी अवस्था में समस्त गुणों का वर्णन कर सकना किसी के लिए कैसे संभव है ? आपके गुणों का वर्णन करना इसी प्रकार असंभव है जैसे—

कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ।

समुद्र में जब प्रलयकाल का तूफान चलता है तब उसमें के जीवजंतुओं में उथलपुथल मच जाती है। जब ऐसा तूफान आया हो तब किसकी शक्ति है कि वह अपनी भुजाओं के बल से समुद्र को पार कर जाय ? ऐसा करना असंभव है। इसी प्रकार आपके गुणसमुद्र को कथन द्वारा पार करना मानव की शक्ति से परे है।

प्रश्न किया जा सकता है जब भगवान् की स्तुति करना इतना असंभव कार्य है तो फिर उसे आरंभ ही क्यों करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं—स्तुति के इस असंभव कार्य को क्यों आरंभ किया है, यह बात मेरा ही दिल जानता है। दूसरा कोई इसका मर्म नहीं समझ सकता। अगर कोई मनुष्य प्रलयकाल के तूफान से क्षुब्ध समुद्र में पड़ गया हो तो उसे उसी में पड़े-पड़े मर जाना चाहिए या किनारे लगने का प्रयत्न करना चाहिए ? समुद्र को पार करने का प्रयत्न

करने वाला अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। जो कर्त्तव्य का पालन न करके समुद्र मे ही पड़ा-पड़ा मर जाता है, निकलने की चेष्टा ही नही करता, वह मूर्ख गिना जाता है।

यह संसार-समुद्र भी प्रलयकाल के तूफान से क्षुब्ध समुद्र के समान है। संसारसमुद्र में कर्म रूपी प्रलयकालीन पवन से तूफान उठ रहा है और कुटुम्ब-परिवार रूपी मच्छ-कच्छ जीव है। इस संसार-समुद्र को भी अपनी भुजाओं से पार करना कठिन है, फिर भी कोशिश करना मेरा कर्त्तव्य है।

मित्रो! इस प्रकार हिम्मत करने वाले ही कठिन-कठिन कार्यों मे भी सफलता पाते है। जो कायर पुरुष, पहले से ही हिम्मत हारकर बैठा रहता है और कहता है कि भई, यह काम तो मुझसे नही हो सकेगा, वह साध्य कार्य में भी सफलता नहीं पा सकता।

एक बौद्ध सम्प्रदाय के ग्रन्थ में महाजातक की कथा पढी थी। उसका सार यह है—

किसी सेठ का एक लड़का जहाज की मुसाफिरी के लिए तैयार हुआ। उसके पिता ने उसे बहुत समझाया। कहा—बेटा! अपने घर में बहुत धन है। जहाज़ में मुसाफिरी करना खतरनाक है। तू क्यों व्यर्थ कष्ट सहन करता है? मगर लड़का बड़ा उद्योगशील था। उसने पिता को उत्तर दिया—पिताजी, आपका कथन सत्य है, किन्तु इस धन को उपार्जन करने में आपने भी तो कष्ट सहन किये होंगे? फिर क्या मेरे लिए यह

उचित होगा कि मैं स्वयं परिश्रम किये बिना ही इसका भोग करूँ ? अगर मैं इस धन को, बिना परिश्रम किये ही खाने लगा और गुलछर्रे उड़ाने लगा तो किसी दिन आप ही मुझे कपूत कहने लगेंगे। कदाचित् पितृप्रेम के कारण आप न कहेंगे तो भी दुनिया का मुँह कौन बन्द करेगा ? फिर इस धन का उपार्जन करके आपने जो ख्याति प्राप्त की है, वह ख्याति मैं कभी नही पा सकूँगा। बिना कमाये खाने से मैं मिट्टी के पुतले के समान बन जाऊँगा। जब मैं उद्योग कर सकता हूँ तो फिर बिना कमाये खाना-पहनना मुझे उचित नही मालूम होता। अत आप कृपा करके आज्ञा दीजिए और आशीर्वाद दीजिए।

अपने पुत्र की कार्यनिष्ठा और साहस देखकर पिता को संतोष हुआ। उसने कहा—ठीक है। सुपुत्र का यही कर्त्तव्य है कि वह अपने पिता के यश और वैभव मे वृद्धि करे। उद्योगशील होना मनुष्य का कर्त्तव्य है। तुम्हारी प्रबल इच्छा है तो मैं रोकना नही चाहता।

साहूकार के लड़के ने जहाज तैयार करवाया। समुद्र मे जहाज किस प्रकार तूफान से घिर जाता है और उस समय किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, इसका विचार करके उसने सब आवश्यक वस्तुएँ जहाज मे रख लीं और यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते जहाज़ बीच समुद्र मे पहुँचा तो अचानक तूफान घिर आया। जहाज के

डूब जाने की स्थिति आ पहुँची। मल्लाहों ने तन तोड़ परिश्रम किया मगर जहाज की रक्षा करने में सफल नहीं हो सके। अन्त में वे भी हार गये। उन्होंने कह दिया—अब हमारा वश नहीं चलता। जहाज थोड़ी देर में डूब जायगा। जिसे बचने का जो उपाय करना हो करे।

ऐसे विकट प्रसंग पर कायर पुरुष को रोने के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। कायर नहीं सोचता कि रोना व्यर्थ है। रोने से कोई लाभ न होगा। अगर बचाव का कोई रास्ता निकल सकता है तो सिर्फ उद्योग करने से ही।

मल्लाहों का उत्तर सुनकर साहूकार का लड़का पहले शौचादि से निवृत्त हुआ। उसने अपना पेट साफ़ किया। फिर उसने ऐसे पदार्थ खाये जो वजन में हल्के किन्तु शक्ति अधिक समय तक देने वाले थे। इसके बाद उसने अपने सारे शरीर में तेल की मालिश की, जिससे समुद्र के खारे पानी का चमड़ी पर असर न पड़े। फिर उसने शरीर से सटा हुआ चमड़े का वस्त्र पहना जिससे मच्छ-कच्छ हानि न पहुँचा सकें। इतना करने के बाद वह एक तख्ता लेकर समुद्र में कूद पड़ा। उस तख्ते के सहारे वह किनारे लगने के उद्देश्य से तैरने लगा।

साहूकार के लड़के ने सोचा—ऐसे समय में जहाज बड़ा नहीं, आत्मा बड़ा है। इसलिए जहाज को छोड़ देना ही ठीक है। जहाज छोड़ देने पर भी मृत्यु का भय तो है ही, लेकिन

उद्योग करना आवश्यक है।

मनुष्य के जीवन में कई बार ऐसे विकट संकटमय अवसर आ जाते है, जब उसकी बुद्धि थक जाती है। किसी प्रकार का निर्णय करना कठिन हो जाता है। एक ओर कुआ और दूसरी ओर खाई दिखाई देती है। ऐसे प्रसंग कर अपनी बुद्धि को ठिकाने रखना ही बुद्धिमत्ता है। 'परिच्छेदो हि पांडित्यम्' अर्थात् जो दो मार्गो मे से एक मार्ग अपने लिए चुन लेता है, क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है, यह निर्णय कर लेता है, वही वास्तव में पण्डित पुरुष है। जो विपत्ति के समय अपनी बुद्धि खो बैठेगा और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय न कर सकेगा, वह विपत्ति को और अधिक बढ़ा लेगा और बुरी तरह चक्कर में पड़ जायगा।

यह बात केवल लोकव्यवहार के लिए ही नहीं है, वरन् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी पुरुषार्थों के विषय मे लागू होती है। 'संशयात्मा विनश्यति।' संदेह मे पड़े रहना और निर्णय न करना अपना नाश करना है। निर्णय किये बिना सिद्धि प्राप्ति नही होती।

साहूकार के लड़के के सामने इस समय दो बाते उपस्थित थीं। एक तो जहाज को बचाने की और दूसरी अपने आपको बचाने की। जब जहाज का बचना संभव न रहा तो उसने बिना किसी दुविधा के आत्मरक्षा करने का निर्णय कर लिया। उसने विचार किया—जब जहाज में रहने पर भी मै मर जाऊँगा तो

कायरों की तरह क्यों मरूँ ? मरना ही होगा तो मर्दानगी के साथ मरूँगा। यद्यपि इस विशाल समुद्र से तैर कर पार होना अशक्य है, लेकिन प्राण छूटने तक हाथ-पैर हिलाते हुए मरूँगा। कायर की मौत मरना उचित नहीं। सफलता मिले या न मिले, मैं अपना उद्योग नहीं छोड़ूँगा।

कार्य में जो सफलता की ही आशा रखता है, बल्कि सफलता की खातिरी करके ही जो कार्य करना चाहता है, वह कार्य नहीं कर सकता। भूल चूक से कार्य को आरंभ कर देता है और जब सफलता नहीं पाता तो उसके पश्चात्ताप का पार नहीं रहता। वह निराशा के गहरे कूप में गिर पड़ता है। इसीलिए कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

अर्थात्-तुझे कार्य करने का अधिकार है, फल की लालसा करने का अधिकार नहीं है। तू निष्कामभाव से अपना कर्त्तव्य पाल। फल तुझे खोजता फिरेगा। तू फल की आशा की भारी गठरी सिर पर लाद कर चलेगा तो चार कदम भी नहीं चल सकेगा।

साहूकार का लड़का पटिया के सहारे हाथ-पैर मारता हुआ समुद्र में बह रहा था। उस समय समुद्र का देव उसके उद्योग को देखकर सोचने लगा-इससे पूछना तो चाहिए कि जब मौत सामने मुँह फाड़े खड़ी है, तब यह समुद्र को पार करने की निष्फल चेष्टा क्यों कर रहा है? देव ने आकर पूछा—

ओ पुरुष ! निरर्थक श्रम करने वाला मूर्ख होता है । समुद्र को तैर कर पार करना संभव नहीं है और फिर तूफान के समय की तो बात ही क्या है । मृत्यु के समय अनावश्यक परिश्रम क्यों कर रहा है ? अब हाथ-पैर हिलाना छोड़ दे और इच्छा हो तो भगवान् का नाम जप ।

महाजातक हाथ-पैर हिला रहा था । देव की सलाह सुनकर भी वह निराश नहीं हुआ । उसने देव से पूछा-आप कौन हैं ? देव ने कहा—मैं समुद्र का देव हूँ ।

महाजातक—आप देव होकर भी क्या हम मनुष्यों से गये-बीते हैं ? आपका काम तो उद्योग करने के लिए उपदेश देने का है, लेकिन आप तो उद्योग छोड़कर डूब मरने का उपदेश देते हैं ! आप अपना काम करिये और किसी का भला हो सकता हो तो वह कीजिये । मुझे भुलावे में मत डालिये । मैं अपने उद्योग में लगा हूँ । रही भगवान् का नाम जपने की बात । सो मौत से बचने के लिए भगवान् का नाम जपना मैं कायरता समझता हूँ । यों अपने कल्याण के लिए और मृत्यु से दुःख न पहुँचने देने के लिए मैं परमात्मा का स्मरण अवश्य करूँगा ।

महाजातक ने देव से दूसरों का भला करने के लिए तो कहा, मगर अपने लिए सहायता न माँगी ।

महाजातक का उत्तर प्रभावित करने वाला था । उसने सोचा-यह मनुष्य ऐसे विकट समय में भी उद्योगशील और

मृत्यु की ओर से निर्भय है ! इसके विचार कितने उच्च हैं !

देव ने फिर कहा-भाई, उद्योग करना तो अच्छा है, मगर उसके फल का भी तो विचार कर लेना चाहिए। फल की प्राप्ति की सभावना न हो तो उद्योग करना वृथा है।

महाजातक—मैं फल देखकर ही उद्योग कर रहा हूँ। उद्योग का पहला फल तो यही है कि मुझे जो शक्ति मिली है, उसका उपयोग कर रहा हूँ। दूसरा फल आपका मिलना है। अगर मैं जहाज के साथ ही डूब मरता तो आपके दर्शन कैसे होते ? मैंने साहस किया, उद्योग किया तो आप मिले। ऐसी दशा मे मेरा श्रम क्या वृथा है ?

महाजातक का उत्तर सुनकर देव बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा-तुमने मुझसे बचा लेने की प्रार्थना क्यों नही की?

महाजातक-मैं जानता हूँ कि देवता कभी प्रार्थना करवाने की गरज़ नही रखते। उद्योग मे लगे रहने से मेरा मन प्रसन्न है और यही देवता की प्रार्थना है। जिसका मन प्रसन्न और निर्विकार होगा उस पर देवता स्वयं प्रसन्न होंगे। इसके अतिरिक्त मेरे प्रार्थना करने पर अगर आप मुझे बचाएँगे तो आपके कर्त्तव्य का गौरव कम हो जायगा। बिना प्रार्थना के आप मेरा उपकार करेंगे तो उस उपकार का मूल्य बढ़ जायगा। मै आपके कर्त्तव्य की महत्ता को कम नहीं करना चाहता और न यही चाहता हूँ कि आपके उपकार का मूल्य कम हो जाय।

लोग कहते हैं—देवता को फूल चढ़ाओ तो वह प्रसन्न होंगे। लेकिन फूल का दूसरा नाम 'सुमन' है। 'सुमन' का अर्थ है—अच्छा मन-प्रशस्त विचार। तात्पर्य यह है कि मन को पवित्र रखने से देव प्रसन्न होते है।

महाजातक की बात से देव अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने जहाज के साथ उसे किनारे लगा दिया। फिर महाजातक पर पुष्पवर्षा करके देव ने कहा—तुम्हारा सरीखा धीर और गभीर दूसरा पुरुष तो क्या देव भी कही नहीं देखा। वास्तव में हम देवताओं की अपेक्षा मनुष्यों की शक्ति बड़ी है। देव, मनुष्य की उद्योग शक्ति के दास हैं।

श्री मानतुंगाचार्य कहते है—परमात्मा का गुणगान करना भुजाओ से समुद्र को पार करने के समान कठिन है। फिर कोई पूछे कि इस कठिन कार्य मे उन्होंने क्यों हाथ डाला, तो मैं यही कहूँगा कि इस प्रश्न का उत्तर महाजातक से पूछो। स्तुतिकार कहते है—जैसे सेठ के लड़के (महाजातक) ने उत्तर दिया था कि चाहे पार होऊँ, या न होऊँ, उद्योग करना मेरा काम है। उद्योग से उपरत हो जाना कायरों को शोभा देता है। इसी प्रकार मै सोचता हूँ कि शब्द चाहे जैसे हों, लगाना चाहिए उन्हें परमात्मा की स्तुति मे ही परमात्मा के गुण-सागर के पार पहुँचना चाहे असंभव हो, फिर भी पहुँचने का उद्योग करना तो असंभव नहीं है। अतएव जिस प्रकार महाजातक पटिया लेकर कूद पड़ा था, उसी प्रकार मै

भी कूद पड़ा हूँ। पार होना या न होना दूसरी बात है, लेकिन मेरा कर्त्तव्य यही है। मुझे यही उद्योग करना चाहिए।

लोग संसार-समुद्र में पड़े चक्कर लगा रहे हैं। कायरतापूर्वक रोते रोने से इस चक्कर से छुटकारा नहीं होगा। चक्कर से बाहर निकलने का उपाय उद्योग करना ही है और वह उद्योग योग्य दिशा में विवेकपूर्वक करना चाहिए। जैसे तूफान के समय समुद्र को पार करने के लिए अधिक हाथ-पैर हिलाये जाते हैं, उसी प्रकार संकट के समय पुरुषार्थ न खोकर परमात्मा में चित्त को अधिक लगा देने से संकट से पार हो सकते हो। पुरुषार्थ करने से तो कुछ न कुछ फल निकल सकता है, मगर रोना तो अपने आपको डुबाना ही है।

अधिकांश लोग परमात्मा का नाम इसलिए लेते है कि उन्हें उद्योग किये बिना ही धन मिल जाय। आलस्य में पड़े रहने पर भी धन मिल जाय तो वे समझते हैं कि भगवान् बड़े दयालु हैं! लेकिन जब उद्योग करना पड़ता है तो भगवान् को भूल जाते हैं। मगर याद रक्खो, भगवान कायरों का साथ नहीं देते। उद्योगी ही उनकी सहायता से सिद्धि प्राप्त करते है। शास्त्र में कहा है कि श्रावक लोग देवताओं की भी सहायता नहीं लेते और कहते हैं—हम क्या देवों से कम हैं ? जिनका जहाज समुद्र में डूबा जा रहा था, वे भी नहीं घबराये तो आपको घबराने की क्या आवश्य-

कता है ?

बहुतेरे ईर्षालु लोग है, जो दूसरों की ऋद्धि देखकर जलते है और सोचते हैं कि ऐसी ऋद्धि मेरे यहाँ क्यों नही है ? क्या ऋद्धिमान् के प्रति ईर्षा करने से आप ऋद्धिशाली हो जाएँगे ? अथवा वह ऋद्धिशाली, ऋद्धिहीन हो जायगा ? अगर आपकी ईर्षा इन दोनो में से कोई भी परिवर्त्तन नही कर सकती तो फिर उससे लाभ कहा है ? ईर्षा करने से लाभ तो कुछ भी नही होता, उलटी हानि होती है। ईर्षालु पुरुष अपने आपको व्यर्थ जलाता है और अपने विवेक का विनाश करता है। वास्तव मे ऋद्धि का बीज पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ करने वाले ही ऋद्धि के पात्र बनते है।

लोग सोचते है कि स्वर्ग के देवों को कुछ भी पुरुषार्थ नही करना पड़ता और फिर भी उन्हें सब प्रकार के सुख प्राप्त होते है। क्या देवलोक में आलसियो का समूह इकट्ठा हुआ है? नही। उन्होंने पहले ही बहुत उद्योग किया है और उसी उद्योग की बदौलत वे सुख भोग रहे हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे युवावस्था में कमाई करने के बाद कोई वृद्धावस्था में उसका फल भोगता है। कहा भी है—

देवलोक में अप्सरा रे,
प्रत्यच जोडे हाथ।
क्या करणी किस काम से रे,
हुआ हमारा नाथ ?

तू मान कह्यो रे,
मत कर मगरूरी झूठी जिंदगी ॥
आचारज की महर से रे,
हुआ तुम्हारा नाथ।
प्रथम स्वर्ग हम जाय के रे,
तुम चलो हमारे साथ।
तू मान कह्यो रे,
मत कर मगरूरी झूठी जिंदगी ॥

तात्पर्य यह है कि देव जब देवलोक में उत्पन्न होता है, उसी समय देवांगनाएँ हाथ जोड़कर उससे प्रश्न करती हैं—'महानुभाव ! आपने कौन-सा पुरुषार्थ किया था, जिससे आप हमारे नाथ हुए हैं ?' इस प्रश्न से यही नतीजा निकलता है कि देवत्व की प्राप्ति पुरुषार्थ का ही फल है।

सच्चा पुरुषार्थी कभी हार नहीं मानता। वह अगर असफल भी होता है तो उसकी असफलता ही उसे सफलता प्राप्त करने की प्रेरणा करती है। इसी प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य न तो अपनी असमर्थता का रोना रोता है और न कार्य की असंभवनीयता का ही विचार करता है। वह अपनी थोड़ी सी शक्ति को भी समग्रता के साथ प्रयुक्त करता है और कार्य की सिद्धि कर लेता है। यह ठीक है कि भगवान् के गुण अनन्त हैं और उनकी पूरी तरह स्तुति नहीं की जा सकती। परन्तु इसी कारण अपनी शक्ति के अनुसार स्तुति न करना उचित नहीं कहा

जा सकता। सम्पूर्ण आकाश को लांघना किसी के लिए संभव नहीं है, फिर भी लोग आवश्यकता पर यथाशक्ति लांघते ही हैं। मुक्ति का मार्ग लम्बा है और कठिन भी है, यह सोचकर उस ओर पैर ही न बढ़ाना एक प्रकार की कायरता है। मार्ग कितना ही लम्बा क्यों न हो, अगर धीरे धीरे भी उसी दिशा में चला जायगा तो एक दिन वह तय हो ही जायगा, क्योंकि काल भी अनन्त है और आत्मा की शक्ति भी अनन्त है। इस दृढ़ श्रद्धा के साथ जो भगवान् के मार्ग पर चलेगा और निराश न होकर चलता ही जाएगा, उसे अवश्य ही अक्षय कल्याण की प्राप्ति होगी।

बीकानेर,
७-८-३०

(५)

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगी (गो) मृगेन्द्रम्,
नाभ्येति किं निजशिशोः, परिपालनार्थम् ॥ ५ ॥

अर्थ—हे मुनियों में श्रेष्ठ ! मैं आपकी भक्ति के वश होकर अशक्त होने पर भी आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त हुआ हूँ। क्या मृगी (मृग) अपनी शक्ति का विचार न करके, अपने बच्चे की रक्षा करने के निमित्त सिंह का सामना नहीं करती ?

जिस प्रकार समुद्र को तैर कर पार करना और जल में पड़ते हुए चन्द्रमा के प्रतिविम्ब को पकड़ना अशक्य है, इसी प्रकार प्रभो ! तेरे गुणों का वर्णन करना मेरे लिए अशक्य कार्य है। मै अपनी इस कमज़ोरी को जानता हूँ। फिर भी तेरा गुणगान करने के लिए मैं तैयार हुआ हूँ। इसका कारण यह है कि तेरी भक्ति मुझे विवश कर रही है। भक्तिभाव की तीव्रता के कारण मुझमें यह विचार ही नही रह गया है कि

मैं अपना योग्यता-अयोग्यता अथवा शक्ति-अशक्ति का ख़याल करूँ। बस, इसी हेतु मैं आपका स्तोत्र करने में प्रवृत्त हो गया हूँ और अपने हृदय के उद्गार प्रकट कर रहा हूँ।

प्रश्न हो सकता है-क्या भक्ति के वश होने पर मनुष्य को अपनी शक्ति-अशक्ति का भी विचार नहीं रहता? क्या वह अपनी अयोग्यता को भी भूल जाता है? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा की भक्ति का तो कहना ही क्या है, सन्तान प्रेम से भी मनुष्य ऐसा विवश हो जाता है कि जिस काम को करने की उसमें शक्ति नहीं होती, उस काम को भी करने में प्रवृत्त हो जाता है! तात्पर्य यह है कि मनुष्य के हृदय में जब तक किसी भावना की प्रबलता नहीं होती तब तक तो उसमें संकल्प-विकल्प बना रहता है, मगर जब एक भावना उत्कट रूप धारण कर लेती है तो उसके संबंध में सब प्रकार के संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं। और न केवल मनुष्यों में ही, वरन् पशु-पक्षियों में भी भावना की यह उत्कटता पाई जाती है। पशु-पक्षी भी संतान प्रेम की उत्कटता के वश में होकर अपनी शक्ति-अशक्ति का और कार्य की शक्यता-अशक्यता का ख़याल भूल जाते हैं और जिस कार्य के लिए वे समर्थ नहीं हैं, उसी मे जुट पड़ते हैं। जिस समय सिंह हिरन के बच्चे पर हमला करने के लिए उद्यत होता है, उस समय उसके माता-पिता मे यह शक्ति नहीं होती कि वे सिंह का सामना करके अपने बच्चे की रक्षा कर सकें, फिर भी संतान-

प्रेम की प्रबलता हिरण-हिरणी को अपनी असमर्थता का विचार करके चुपचाप नहीं बैठने देती। वे अपनी शक्ति का विचार न करके सिंह का समाना करते हैं और अपने बच्चे की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं।

आचार्य कहते हैं—पशु भी संतानप्रेम में मतवाला होकर अपने बल अबल का ध्यान भूल जाता है, तो परमात्मा की भक्ति का लोकोत्तर प्रेम मुझे बल-अबल का ध्यान कैसे रहने देगा? अतएव परमात्मा के गुण-समुद्र को पार करने की शक्ति न होने पर भी मैं उसकी स्तुति करने को उसी प्रकार ललचाया हूँ, जिस प्रकार मृग अपने बालक की सिंह से रक्षा करने के लिए ललचाता है। वास्तव में मैं स्तुति करने में असमर्थ हूँ किन्तु केवल भक्ति से विवश होकर प्रवृत्त हुआ हूँ।

आचार्य का यह कथन मर्म से भरा हुआ है। इसके मर्म को समझने का हमें प्रयत्न करना चाहिए। आचार्य विद्वान् थे। वे स्तुति-कार्य को करने की बहुत कुछ शक्ति रखते थे। फिर भी अपने आपको अशक्त बताकर उन्होंने कहा कि मैं गुणगान के कार्य में प्रवृत्त होता हूँ। आचार्य का यह कथन उनके लिये है या हमारे और आपके लिए? उनके इस कथन से स्पष्ट है कि जिसमें भक्ति है उसमें शक्ति आये बिना नहीं रहेगी। जिसमें वास्तविक भक्ति होगी वह कार्य में लगेगा ही। जो कार्य में नहीं लगता, समझना चाहिए कि उसमें भक्ति ही नहीं है। मृगी अगर अपने बच्चे को बचाने के लिए सिंह का

सामना न करे तो यही समझा जायगा कि उसमें पुत्रप्रेम ही नहीं है। चिड़िया अपने बच्चे की रक्षा करने के लिए बाज का सामना करती है। मतलब यह है कि शक्ति अल्प होने पर भी संतानप्रेम से प्रेरित होकर पशु-पक्षी भी उस कार्य में जुट जाते हैं, जिसे करने में वे असमर्थ होते हैं। ऐसी दशा में अगर हमारे हृदय में भक्ति है तो क्या हम परमात्मा का गुणगान किये बिना रहेंगे? अतएव स्वयं अपने हृदय को टटोलो कि मुझमें भक्ति है या नहीं? मैं यह नहीं कहना चाहता कि आपमें भक्ति है ही नहीं। ऐसा होता तो आप मेरे पास आते ही क्यों और भक्ति संबंधी उपदेश सुनते ही क्यों? मगर अपनी त्रुटि को देखो। सोचो-हमारी भक्ति-भावना में कहाँ कमी है और क्या त्रुटि है? मैं भी अपने संबंध में विचार करता हूँ और आप भी विचार कीजिए। एक ही काम में सब तल्लीन हो जाएँगे तो अपूर्व रहस्य निकलेगा।

मैं अपने विषय में सोचता हूँ तो भीतर से उठने वाली अन्तर्ध्वनि मुझे सुन पड़ती है और वह मेरी अनेक त्रुटियाँ मुझे बतलाती है। मैं अपनी कमी का वर्णन कहाँ तक करूँ? मैं मन ही मन सोचता हूँ—हे आत्मन्! तूने संयम ग्रहण किया है। गृहस्थ तो कदाचित् छुटकारा पा सकते हैं लेकिन तू क्या कहकर अपना बचाव कर सकता है? तिस पर भी तेरे ऊपर आचार्य पद का उत्तरदायित्व है। अगर तू भक्ति में लग जाय और उसी में तल्लीन रहे तो कोई भी त्रुटि शेष न

रहे। जब तुझे किसी पर क्रोध न आवे, जब तू दूसरे के कहे हुए कटुक वचनों को अमृत मानने लगे, ऐसी अद्भुत जागृति तेरी अन्तरात्मा में आ जाय, तभी समझना चाहिए कि तुझ पर भक्ति का रस चढ़ा है। जहाँ प्रभुभक्ति है वहाँ क्रोध नहीं हो सकता। भक्त पर अगर कोई जुल्म करता है तो भक्त कहीं फरियाद करने नहीं जाता। परमात्मा ही भक्त का न्यायाधीश है और परमात्मा का दरबार ही उसका न्यायालय है। भक्त अगर किसी दूसरे के पास फरियाद करने जाता है तो समझना चाहिए कि उसने अभी तक परमात्मा को पहिचाना ही नहीं है। जैसे सांभर झील मे पड़ी हुई सब वस्तुएँ नमक बन जाती हैं, उसी प्रकार भक्त के कानों में पड़ा हुआ प्रत्येक शब्द अमृत बन जाता है, चाहे दूसरों को वह बाण सरीखा तीखा या विष के समान कटुक भले प्रतीत हो। भक्त गाली सुनकर सोचता है कि गाली देने वाला मेरी सहनशीलता की परीक्षा कर रहा है। मुझे इस परीक्षा मे उत्तीर्ण होना चाहिए।

शास्त्र में क्षमा को मुनि का प्रधान लक्षण बतलाया गया है। भक्ति जितनी गाढ़ी होगी, क्षमाभावना उतनी ही प्रबल होगी। भक्त को क्रोध नहीं आ सकता। और बिना क्षमा के भक्ति नही होती।

वर्षा ऋतु मे जब वर्षा होती और कीचड़ की अधिकता के कारण आना-जाना रुक जाता—कोई खास काम न रहता,

तब मेरे संसारावस्था के मामाजी दुकान पर गेहूँ भेज देते। वे कहजाते—बैठे-बैठे क्या करोगे, गेहूँ बीनो। लेकिन बीनना क्या था—गेहूँ या कंकर ? गेहूँ तो अच्छे ही है, लेकिन कंकरों पर नज़र न रही तो गेहुओं में कंकर रह जाएँगे, पिस जाएँगे, पेट मे जाएँगे और फिर पथरी की बीमारी पैदा करेंगे। इसी प्रकार आत्मा के गुणों पर ध्यान न देकर दोषों पर ध्यान देना आवश्यक है। यह देखना चाहिए कि आत्मा कहाँ भूल करता है ? इस बात पर ध्यान रक्खा जाय और जैसे गेहुओं में से कंकर निकाल दिये जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा के दोषों को, त्रुटियों को, भूलों को निकाल दिया जाय तो आत्मा की शुद्धि हो सकती है।

जिन लोगों पर तुम्हारा वश नहीं चलता, उन पर क्रोध न करना तुम्हारी क्षमाशीलता की कसौटी नहीं है। जो तुम्हारे अधीन हैं, तुम्हारे मुखापेक्षी हैं, जिनको तुम बना-बिगाड़ सकते हो, उन पर भी क्रोध न आने दो। उनके कटुक वचन को भी अमृत समझ लो। यह तुम्हारी क्षमाशीलता की कसौटी है। जो इस कसौटी पर खरे उतरते हैं वे धन्य हैं।

बिच्छू का विष दूसरों को चढ़ता है, लेकिन मंत्रवादी कहता है कि मुझे नहीं चढ़ता। अब अगर मंत्रवादी को भी ज़हर चढ़ गया तो वह मंत्रवादी ही क्या रहा ? साँप-बिच्छू का ज़हर उतर जाना उतना कठिन नहीं है, जितना क्रोध भरे कटुक शब्द रूपी बाणों का ज़हर उतरना कठिन होता है।

मगर भक्त वह है जो इस ज़हर को चढ़ने ही नही देता। वास्तव मे जिसके हृदय मे दुर्वचन सुनकर भी क्रोध नही होता और जिसके मन मे विकार नहीं आता, वह महापुरुष कोटि-कोटि धन्यवाद का पात्र होता है।

भक्ति के विषय में मीरा बाई कहती है—

अब तो मेरो राम नाम दूसरो न कोई।
मात छोडे तात छोडे छोडे सगे साई ॥
सतन सग बैठ बैठ लोक लाज खोई।
अन्त मे से तन्तु काढ पीछे रही सोई ॥
राणा मेल्या विषना प्याला।
पी के मस्त होई ॥ अब तो० ॥

मीरां कहती है'—इस संसार मे परमात्मा के सिवाय मेरा कोई नहीं है।' इसे कहते हैं भक्ति। जब मृगी अपने बच्चे की रक्षा के लिए सिंह के सामने जाती है तब उसे संसार में बच्चे के सिवाय और कुछ नहीं दीखता। उस समय वह अपने प्राणों को भी तुच्छ समझती है। इसी प्रकार हृदय मे अगर परमात्मा की सच्ची भक्ति हो तो दूसरी बात याद ही नही आनी चाहिए। अगर दूसरी बात याद आई तो समझ लो कि भक्ति में कमी है।

मीरां कहती है-संसार मे परमात्मा के सिवाय और कोई नही है। संसार, शरीर और शरीर से संबंध रखने वाली सब वस्तुएँ

अनित्य हैं, केवल आत्मा नित्य है। इस संसार रूपी छाछ में से मैंने अविनाशी रूपी मक्खन निकाल लिया है। अब मुझे इस छाछ की चिन्ता नहीं रही। अनित्य में से नित्य को पाकर मैं निश्चिन्त हो गई।

राणा ने मीरां के पास विष का प्याला भेजा। कहला भेजा—तुम साधुओं और भिखारियों के पास बैठ-बैठ कर मुझे लज्जित करती हो। तुम्हारी भक्ति मुझे पसंद नहीं है। इसलिए संसार में रहना है तो राजकुल की मर्यादा के अनुसार नियम पूर्वक राजघराने में रहो अन्यथा विष का यह प्याला पीकर ससार से विदा लो। राणा ने स्पष्ट कहला दिया था कि यह विष का प्याला है। फिर भी मीरा ने कहा—मेरे लिए यह विष नहीं, अमृत है। पहले तो इसे मेरे उन प्राणनाथ ने भेजा है, जिन्हें भक्ति में होती हुई भी मैं नहीं भूली हूँ। इसके अतिरिक्त उनसे भी बड़े पति—परमात्मा की भक्ति के लिए यह ज़हर पीना पड़ रहा है। अगर चोरी या अन्याय के अपराध के दंड में जहर पीना पड़ता तो दुःख की बात थी, मगर भक्ति के लिए और वह भी परमात्मा की भक्ति के पुरस्कार में विष का पान करना क्या बुरा है? कहा है—

जिसका पर्दा दुई का दूर हुआ।
फिर उसमें खुदा मे फरक ही नहीं॥
न तो आवे हवा न आतिश था।
कोई मेरे सिवा तो बशर ही नहीं॥

आप भी कहते हैं—

तू सो प्रभु प्रभु सो तू है।
द्वैत—कल्पना मेंटो ॥

जहाँ यह भेद मिटा और पुद्गल का भाव गया, वहाँ चिदानन्द और परमात्मा मे कोई अन्तर नहीं रह जाता। फिर जहाँ देखो, परमात्मा ही परमात्मा है।

कभी ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाय कि आपको मक्खन और छाछ मे से एक चीज़ को छोड़ना आवश्यक हो जाय और आप यह जानते हैं कि मक्खन सारभूत पदार्थ है, छाछ निस्सार है, तो आप किसे लेना पसंद करेंगे और किसे छोड़ना चाहेंगे ?

'छाछ छोड़ना चाहेंगे।'

लेकिन समय आने पर आप छाछ के लालच में पड़कर मक्खन को छोड़ देते है। अर्थात् पुद्गल के लोभ में फँसकर आत्मा की उपेक्षा कर देते हैं। इसका अर्थ यह है कि आप भक्ति की बात कहते-सुनते तो है मगर अभी उससे दूर है। जिस समय आप भक्ति के निकट पहुँच जाएँगे, उस दिन ऐसी भूल कदापि नहीं करेंगे।

मीरां कहती है—'मैंने अनित्य मे से नित्य को अलग कर लिया है। अब यह अनित्य रहे या न रहे, मुझे इसकी पर-वाह नहीं है।'

मित्रो ! आपको भी एक ज़हर पीने का अभ्यास करना चाहिए। मै उस ज़हर को पीने के लिए नहीं कहता, जो मीरां

ने पिया था। मीरा को भी उसे पीने की आवश्यकता नहीं थी। वह तो मौका आ जाने के कारण पीना पड़ा था। मैं कटुक शब्द रूपी विष को पीने के लिए कहता हूँ। जब आपके कान रूपी प्याले मे कटुक शब्द रूपी विष पड़े, तब आप उसे अमृत समझ कर पी जाएँ। अगर आप में इतनी शक्ति आ जाय तो समझ लीजिए कि आपके हृदय मे भक्ति आगई है। धीर वीर और गंभीर पुरुष ही इस विष का पान कर सकते हैं और फिर सब ऋद्धियाँ उनकी दासी बन जाती हैं।

तात्पर्य यह है कि भक्ति की आन्तरिक प्रेरणा शक्ति से परे का भी कार्य करने को विवश कर देती है। जब एक मृग जैसा पशु भी अपनी संतति के प्रेम के वश होकर अपने प्राणों की ममता छोड़कर, अपनी शक्ति का विचार न करके सिंह के मुख से अपने बालक को छुड़ाने के लिए तैयार हो जाता है तो जिस मनुष्य मे परमात्मा के प्रति प्रकृष्ट प्रेम है, जिसके चित्त में भगवान् की भक्ति की लहरें उठती हैं वह क्यों विवश न होगा?

सुबुकुनगीन बादशाह का वृत्तान्त इतिहास मे आया है। वह अफगानिस्तान का बादशाह था। वह एक गुलाम खान-दान में पैदा हुआ था और सिपाही था। एक बार वह ईरान से अफगानिस्तान की ओर घोड़े पर सवार होकर आ रहा था। मार्ग की थकावट से या किसी अन्य कारण से उसका घोड़ा मर गया। जो समान उससे उठ सका वह तो उसने उठा लिया और शेष वहीं छोड़ दिया। मगर उसे भूख इतनी

तेज़ लगी कि व्याकुल होने लगा। इसी समय सामने की ओर से हिरनों का एक झुण्ड आ निकला। उसने झपट कर उस झुण्ड में से एक बच्चे की टांग पकड़ ली। झुण्ड के और हिरन तो भाग गये मगर उस बच्चे की माँ वहीं ठिठक गई और अपने बच्चे को दूसरे के हाथ में पड़ा देख कर आँसू बहाने लगी। अपने बालक के लिए उसका दिल फटने लगा।

बच्चे को लेकर सुबुक्तगीन एक पेड़ के नीचे पहुँचा और उसे भून कर खाने का विचार करने लगा। उसने रूमाल से बच्चे की टांगें बांध दीं ताकि वह भाग न जाय। इसके बाद वह कुछ दूर एक पत्थर के पास जाकर अपनी छुरी पैनी करने लगा। इतने में मृगी अपने बच्चे के पास आ पहुँची और वात्सल्य के वश होकर बच्चे को चाटने लगी, रोने लगी और अपना स्तन उसके मुँह की ओर करने लगी। बच्चा बेचारा बँधा हुआ तड़फ रहा था। वह अपनी माता से मिलने और उसका दूध पीने के लिए कितना उत्सुक था, यह कौन जान सकता है? मगर विवश था। टांगें बँधी होने के कारण वह खड़ा भी नहीं हो सकता था। अपने बच्चे की यह दशा देखकर मृगी की क्या हालत हुई होगी, यह कल्पना करना भी कठिन है। माता का भावुक हृदय ही मृगी की अवस्था का अनुमान कर सकता है। मगर वह भी लाचार थी। वह आँसू बहा रही थी और इधर-उधर देखती जाती थी कि कोई किसी ओर से आकर मेरे बालक को बचा ले!

इसी समय छुरी पैनी करके सुबुकतगीन लौट आया। बच्चे की मा हिरनी यहा भी उसके पास आ पहुँची है, यह देखकर उस को आश्चर्य हुआ। हर्ष और विषाद की अनुभूति हृदय में होती है मगर चेहरे पर उस अनुभूति का असर पड़े बिना नही रहता। उसने हिरनी के चेहरे पर गहरे विषाद की परछाई देखी और नेत्रों में आंसू देखे। यह देखकर उसका हृदय भी भर आया। वह सोचने लगा—मै इन मृगो को नाचीज समझता था, बेजान मानता था और सोचता था कि यह मनुष्य के खाने के लिए ही खुदा ने बनाये है। मगर आज मालूम हुआ कि मै भारी भ्रम में था। कौन कह सकता है कि इस हिरनी मे जान नहीं है? जो इसे बेजान कहते है, समझना चाहिए कि वह खुद ही बेजान है। अगर हिरनी में जान नहीं है तो इसान में भी जान नही है। अगर इन्सान मे जान है तो फिर हिरनी मे भी जान है। अगर हिरनी को मनुष्य की भाषा प्राप्त होती और मै इससे पूछता तो यह तीन लोक के राज्य से भी अपने बच्चे को बड़ा बतलाती। मेरे लिए यह बच्चा दाल-रोटी के बराबर है, मगर जिसके हृदय मे इसके प्रति गहरा प्रेम है, उसका हृदय इस समय कितना तड़फता होगा? अपना खाना-पीना छोड़कर और प्राणों की परवाह न करके हिरनी यहाँ तक भागी आई है। इस बच्चे के प्रति इसके हृदय मे कितना प्रेम होगा? धिक्कार है मेरे खाने को! जिससे दूसरे को घोर व्यथा पहुँचती हो, वह

भलेमानुस का खाना नहीं हो सकता। अगर मैं अपना पेट भरने के लिए इस बच्चे की जान ले लूँगा तो इसकी इस स्नेहमयी माता को कितनी व्यथा होगी! अब चाहे मैं भूख का मारा मर जाऊँ, मगर इस अपनी माता के दुलारे को नहीं खाऊँगा।

आखिर उसने बच्चे को छोड़ दिया। बच्चा अपनी माता से और माता अपने बच्चे से मिलकर उछलने लगे। यह स्वर्गीय दृश्य देखकर सुबुकुतगीन की प्रसन्नता का पार न रहा। इस प्रसन्नता मे वह खाना-पीना भूल गया। आज ही उसकी समझ में आया कि प्राणी पर दया करने से कितना आनन्द होता है।

जंगली पशुओं के डर से सुबुकुतगीन रात के समय पेड़ पर चढ़ कर सोया करता था। उस दिन भी वह पेड़ पर ही सोया था। स्वप्न में उसके पैगम्बर ने उससे कहा—'तूने बच्चे पर दया करके बहुत अच्छा काम किया है। तू अफगानस्तान का बादशाह होगा।' उसके पैगम्बर की भविष्यवाणी सच्ची हुई। कुछ दिनों बाद वह सचमुच ही अफगानस्तान का बादशाह बन गया।

अब आप विचार कीजिए कि बच्चे से उत्कट प्रेम होने के कारण हिरनी ने प्राण की परवाह नहीं की तो परमात्मा से प्रेम होने पर मनुष्य को कैसा होना चाहिए? जिसके हृदय में परमात्मा के प्रति सच्ची भक्ति होगी वह धन-दौलत को बड़ी

चीज नहीं समझेगा। उसकी बुद्धि झूठ-कपट आदि बुरे कामों की ओर कभी नहीं जाएगी। भक्त हृदय भलीभांति समझता है कि यह सब कुत्सित काम भक्ति का विनाश करने वाले हैं। जो ऐसी भक्ति तक पहुँच जाता है, उसका कल्याण ही कल्याण होता है।

पात्र के भेद से भक्ति अनेक प्रकार की है। मगर इतना विवेचन करने का समय नहीं है। साहित्यशास्त्र में अनेक रसों मे से भक्तिरस भी अलग माना गया है। भक्तिरस में अपूर्व मिठास है। भक्तिरस की मधुरता हृदय में अद्भुत आह्लाद उत्पन्न करती है। जिसके अन्तःकरण में भगवद्भक्ति का अखण्ड स्रोत बहता है वह पुरुष बड़ा भाग्यशाली है। उसके लिए तीन लोक की संपदा-निखिल विश्व का राज्य भी तुच्छ है। प्रह्लाद ने, ध्रुव ने और कामदेव ने भक्तिरस के महत्त्व को समझा था और इसीलिए उन्होंने बड़े से बड़े संकट को भी तुच्छ माना था। दूसरे रस क्षणिक आनन्द देने वाले हैं मगर भक्तिरस शाश्वत सुख उत्पन्न करता है। जैसे मामूली वस्तु भी नदी के प्रवाह में बहती हुई समुद्र में मिल जाती है, उसी प्रकार भक्ति के प्रवाह मे बहने वाला मनुष्य ईश्वर मे मिल जाता है अर्थात् स्वयं परमात्मा बन जाता है। भक्ति वह अलौकिक रसायन है जिसके द्वारा नर नारायण हो जाता है भक्ति से हृदय मे अपूर्व शांति और असाधारण सुख प्राप्त होता है। भक्ति का मार्ग सरल और सुगम है। सभी मुमुक्षु इसका अवलम्बन ले सकते हैं।

जो भक्तिमार्ग का अवलम्बन लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं, वे अनायास ही ऐसा कर सकते है। मेरी कामना है कि आप विवेक के साथ भक्तिरस का पान करें और अपना कल्याण-साधना करें। तथाऽस्तु।

बीकानेर,
१०-८-३०

(४)

अल्पश्रुत श्रुतवता परिहासधाम ।
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ॥
यत्कोकिल किल मधौ मधुर विरौति ।
तच्चारुचूतकालिकानिकरैकहेतु ॥ ६ ॥

अर्थ—मैं अल्पज्ञ हूँ। शास्त्रवेत्ताओ के उपहास का पात्र हूँ, लेकिन आपकी भक्ति ही मुझे स्तुति करने के लिए जबर्दस्ती प्रेरणा करती है। वसन्त ऋतु मे कोयल जो मधुर शब्द करती है सो उसका कारण सुन्दर आम की मजरियो का समूह ही है।

प्राचीन काल के आचार्य अपनी लघुता प्रकट करने मे गुरुता समझते थे, लेकिन आज के अधिकाश लोग अपनी लघुता बताने मे लघुता समझते हैं। इन दोनों भावनाओं में बड़ा अन्तर है। जो परमात्मा नहीं बन गया है वह अपूर्ण है और जो अपूर्ण है उसमें लघुता अवश्य रहती है। जो अपनी लघुता को समझता है और उसे बिना संकोच प्रकट कर देता है, समझना चाहिए कि वह अपनी लघुता को त्यागना चाहता है और पूर्णता प्राप्त करने का अभिलाषी है। उसके परिणामों में इतनी सरलता होती है कि वह जैसा है वैसा ही अपने

को प्रकट करता है वह ढोंग नही करना चाहता। इस कारण वह निरन्तर अपनी लघुता को कम करता रहता है, गुरुता प्राप्त करता रहता है और एक दिन वह पूर्णता भी प्राप्त कर लेगा।

मगर जो वास्तव में लघु है किन्तु अपनी लघुता को समझना ही नही चाहता अथवा समझ कर भी छिपाना चाहता है, अपमान के भय से प्रकट नहीं करना चाहता, बल्कि अपनी गुरुता प्रकट करता है, उसका हृदय सरल नही है। उसके हृदय मे कपट है। वह अपने ढोंग के कारण ऊपर नहीं चढ़ेगा। उसका पतन अवश्यभावी है। उसे समझना चाहिए कि अपूर्णता होना अनोखी बात नही है। वह तो मनुष्यमात्र मे होती है। लेकिन जो मनुष्य अपनी अपूर्णता को सरल हृदय से स्वीकार करता है और उसे दूर करने की निरन्तर चेष्टा करता रहता है, वह अवश्य ही उसे दूर कर देता है।

आचार्य मानतुंग ने भक्तामरस्तोत्र की रचना करते हुए अपनी जो लघुता प्रकट की है, उससे क्या उनके गौरव को क्षति पहुँची है? नहीं। इससे उनका गौरव घटा नही, बढ़ा ही है। उनके लघुताप्रकाशन से उनकी सरलता, निरभिमानता और महत्ता ही प्रकट होती है और ऐसे महानुभाव जनता के आदर के पात्र बन जाते हैं।

आदिनाथ ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य कहते हैं—मैं बहुत कम जानता हूँ। इतना कम जानता हूँ कि

विद्वान् पंडित मेरे शब्दों का उपहास करेंगे। अर्थात् विद्वानों के सामने मैं हँसी का पात्र बनूँगा। वे कहेंगे कि मानतुंग कुछ न जानता हुआ भी स्तुति करने को तैयार हो गया! लेकिन उन विद्वान् पंडितों की हँसी से मेरी कुछ भी हानि नहीं है, बल्कि लाभ ही होगा। हँसने वालों को भी लाभ होगा। वे मुझे हँसी का बनाकर अगर प्रसन्न हो लेंगे तो क्या हानि है? अगर मैं किसी को रिझाने के लिए स्तुति करने का उद्यम करता होता तो कदाचित् मेरे लिए लज्जा की बात होती। मगर मेरी यह स्तुति न किसी को रिझाने के लिए है और न किसी को बताने के लिए है। मेरे हृदय में परमात्मा के प्रति जो प्रबल प्रेरणा का उदय हुआ है, उसी का यह फल है कि मैं स्तुति कर रहा हूँ।

आचार्य कहते हैं—प्रभो! मेरी यह स्तुति किसी वासना या तृष्णा की पूर्ति के लिए नहीं है। आपकी भक्ति की प्रेरणा मेरा मुँह बन्द नहीं रहने देती। उस प्रेरणा ने मुझे वाचाल बना दिया है। अब मुझसे बिना बोले नहीं रहा जाता। इस पर अगर कोई हँसता है तो हँस ले। लेकिन भक्ति तो हो ही जायगी।

संसार में सर्वत्र स्वार्थ का साम्राज्य है। जो बोलता है सो या तो किसी के दबाव में आकर या किसी आशा से ही बोलता है। क्या कोई उदाहरण ऐसा मिल सकता है कि कोई बिना खुशामद की भावना के सिर्फ निष्काम भक्ति से ही

बोलता हो ?

मित्रो! जब ऋतुराज वसन्त का आगमन होता है तब आम्र के बगीचे फूल उठते हैं। आमों में मंजरियाँ आ जाती हैं। प्रकृति अनोखे सौन्दर्य से सज जाती है। उसकी रचना ही कुछ अलबेली हो जाती है। उस समय प्रकृति के सौन्दर्य के उपासक आम्रवृक्षों पर आकर किलोल करते हैं। उनमें कोयल नामक एक पक्षी भी होता है। जब आम की मंजरियों का सौरभ वायुमंडल को सुवासित करता है, तब वह कोयल अपने सुमधुर कंठ से पंचम स्वर में आलापती है।

शास्त्र में पंचम स्वर का बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है और भगवान् के शब्दों की उपमा पंचम स्वर से दी गई है।

कोयल के उस मधुर आलाप में क्या रस है और कितनी मिठास है, यह तो कोई अनुभवी ही जान सकता है या कोई वैज्ञानिक समझ सकता है। दूसरों को उसका पता चलना कठिन है। वैज्ञानिक कहते हैं कि कोयल के स्वर का मुकाबिला अन्य स्वर नहीं कर सकते। मगर देखना यह है कि कोयल उस समय जो राग आलापती है सो क्या किसी की खुशामद के लिए? कोई उसके राग को सुने या न सुने, चाहे कोई धनिक सुने या गरीब सुने, कोई निन्दा करे या प्रशंसा करे, कोई गाने को कहे या बंद करने को कहे, कोयल अपनी इच्छा के अनुसार गाती है और अपनी इच्छा के अनुसार ही गाना बंद करती है। वह किसी के कहने सुनने की या

निन्दा प्रशंसा की परवाह नहीं करती। उसके राग आलापने का और कोई हेतु नहीं है। आम्रवृक्ष के फूलने पर उसके हृदय मे अनुराग उत्पन्न होता है और अनुराग में मस्त होकर वह गाने लगती है। अनुराग की वह मस्ती रोके नही रुकती।

कोयल जब गाती है तो कौवे उसे मारने दौड़ते है? विचारने की बात यह है कि कोयल ने कौवों का क्या बिगाड़ा है जो वे उसे मारने दौड़ते हैं? संभव है, अपने राग की कर्कशता के विचार से उन्हें कोयल के प्रति ईर्षा होती हो। लेकिन उन्हें यह भी सोचना चाहिए कि कहाँ तो गदगी खाने वाले वे और कहाँ आम की मंजरियों का रस चूसने वाली कोयल! ऐसी अवस्था मे अगर कौवा और कोयल के स्वर में अन्तर हो तो आश्चर्य ही क्या है?

कौवे जब कोयल को सताने लगते है, तब भी कोयल 'कुहू-कुहू' करती हुई आम की एक शाखा से दूसरी शाखा पर जा बैठती है और वहाँ फिर अपना राग आलापने लगती है। मतलब यह है कि जब वह गाना चाहती है तो किसी के मारने से भी नहीं रुकती और जब नहीं गाना चाहती तो किसी के मारने पर भी नहीं गाती। वह आम की मंजरियों की सुगन्ध से प्रेरित होकर गाती है और उसी समय गाती है जब आम में मंजरियां होती है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि कोयल आम की मंजरियों के प्रेम के

कारण ही गाती है। उसके गाने का और कोई अभिप्राय नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि यह स्तुति किसी की प्रेरणा से नहीं की जा रही है और न किसी की खुशामद के लिए ही की जा रही है। प्रभु-भक्ति की प्रेरणा मेरे अन्त करण को स्तुति करने के लिए विवश कर रही है।

मित्रो ! एक भक्ति करने वाले महात्मा ने भगवान् की स्तुति का जो प्रयोजन प्रकट किया है, वह सभी के लिए मार्गदर्शक होना चाहिए। उन्होंने बतला दिया है कि भक्ति, चाहे उसे सेवा कहो, आराधना कहो, उपासना कहो, कैसी होनी चाहिए?

भक्तामरस्तोत्र की स्तुति भक्तिमार्ग को दिखलाने का साधन है। जैसे रत्न की परीक्षा जौहरी ही कर सकता है, उसी प्रकार इस स्तुति का तत्त्व ठण्डे दिमाग से विचार करने वाले को ही मालूम हो सकता है। इसके तत्त्व का वर्णन करना मेरे लिए शक्य नहीं है। फिर भी यथाशक्ति अपने भावों को प्रकट करता हूँ।

आचार्य भी भक्ति कर रहे हैं और आप लोग भी भक्ति करने के लिए उत्सुक हैं, मगर भक्ति करने से पहले यह समझ-लेना आवश्यक है कि भक्ति किस प्रकार होती है? किसी का यह विचार हो कि विद्वान् लोग ही भक्ति कर सकते

हैं, तो आचार्य ने यह कह कर कि मै अल्पज्ञ हूँ—मै कुछ नही जानता, यह स्पष्ट कर दिया है कि भक्ति के लिए पंडिताई की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। विद्वान् और अज्ञ सभी समान रूप से भक्ति रस के अमृत का पान कर सकते हैं। जब अविद्वान् भी भक्ति कर सकता है तो विद्वान् का तो कहना ही क्या है? बिना दांत वाला भी जिस वस्तु को खा सकता है, उसे खाने में दांत वाले को क्या कठिनाई हो सकती है? अतएव सर्वसाधारण को यह भ्रम दूर कर देना चाहिए कि विद्वान् न होने के कारण भक्ति नही हो सकती।

दूसरा भ्रम 'भक्ति के उद्देश्य के सम्बन्ध में दूर होने की आवश्यकता है। यद्यपि इस बात पर पहले प्रकाश डाल दिया गया है, फिर भी स्पष्ट कर देना अनुचित नहीं है कि तुम जो भक्ति करो, अपनी अन्तःप्रेरणा से करो। दूसरे के दबाव से या दूसरे को खुश करने के उद्देश्य से भक्ति मत करो। ऐसा करने में परमात्मा की भक्ति से वंचित रह जाना पड़ता है।

बहुत-से लोग चक्रवर्त्ती की महिमा, प्रतिष्ठा और विभूति देखकर, उसे प्राप्त करने की आशा से अभव्य होते हुए भी साधु बन जाते है। वे मास-खमण आदि तपस्या भी खूब करते हैं। वे ऐसी अच्छी क्रिया करते है कि वही क्रिया अगर शुद्ध मन से की जाय तो मोक्ष पहुँचा दे! मगर उनकी क्रिया उन्हें मोक्ष नही पहुँचाती। इसका कारण यही है उस क्रिया को वे स्वतंत्रभाव से, निरीह वृत्ति से नही करते हैं; महिमा

प्रतिष्ठा आदि के लोभ से करते हैं। इस प्रकार की अशुद्ध भावना से की हुई क्रिया मनुष्य को स्वर्ग में भले ही पहुँचा दे, मगर उससे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

यह आवश्यक नहीं कि भक्ति या स्तुति के शब्द उच्च श्रेणी के हों, भाषा की दृष्टि से सुन्दर हों। ऐसा हो तो भी कोई हानि नहीं है। शब्द भले ही टूटेफूटे हों, लेकिन निन्दा-प्रशंसा की परवाह न करके स्वाधीन और निस्पृह भाव से भक्ति की जानी चाहिए।

भक्ति करना ही भक्त का एक मात्र उद्देश्य होना चाहिए। भक्ति के लौकिक फल की ओर अगर उसकी भावना दौड़ गई तो समझ लीजिए कि भक्ति अशुद्ध हो गई। इह लोक के सुख, परलोक के चक्रवर्त्ती-इन्द्र आदि के सुख, कामभोग, जीवन-मरण, इत्यादि में से किसी भी बात की इच्छा न रहे; पूर्ण निष्काम भाव से भक्ति की जाय तो महान् फल की प्राप्ति होती है। जैसे कोयल अपने गान के बदले में कुछ नहीं चाहती, उसी प्रकार आप भी भक्ति के बदले मे कुछ न चाहें।

लोग कहते हैं—कलकत्ता की गौहरजान नामक वेश्या का राग बहुत ऊँचा है। उसके गाने की फीस भी बहुत है। उसका गाना सुनने के लिए लोगों की भीड़ टूट पड़ती है। कई एक रईस तो उसके पीछे अपना घर बर्बाद कर चुके हैं।

मित्रो! यह कितना अज्ञान है! कैसी भ्रष्टता है! पैसे की लोभिनी हो और विषयों की कीड़ी हो, फिर वह कोई भी क्यों

न हो, उसका राग अच्छा कैसे हो सकता है ? उसके राग में कल्याण का मधुर रस और निर्मलता की मिठास किस प्रकार संभव हो सकती है ? मैं कहता हूँ—उसके राग में हजारों विषयविकार के विषैले कीड़े भरे हैं ! राग तो कोयल का है जो अपने गाने के बदले कुछ भी नहीं चाहती ! न मानप्रतिष्ठा चाहती है, न धन-दौलत चाहती है, न किसी को रिझाना चाहती है, न लूटना चाहती है, न किसी के द्वारा निन्दा करने पर दुःख मानती है।

मतलब यह है कि आत्मा को निस्पृह, निष्काम, निरीह बनाये बिना सच्ची भक्ति नहीं होती। साधु का वेष धारण कर लेना सरल है, लेकिन हृदय के विकारों पर विजय प्राप्त कर लेना सरल नहीं है। भक्त कहता है—

माधव ! मोह पाश किम टूटे,
बाहर कोटि उपाय करत हौं।
अभ्यन्तर गांठ न छूटे ॥माधव०॥

इस भजन को सुनकर आप शायद सोचते होंगे कि मैं ऋषभदेव की स्तुति करना छोड़कर अन्यत्र चला गया। मगर ऐसी बात नहीं है। मैं भगवान् ऋषभ की ही स्तुति कर रहा हूँ। संस्कृत भाषा में 'मा' शब्द का अर्थ लक्ष्मी होता है और 'धव' पति को कहते हैं। इस प्रकार माधव का अर्थ—लक्ष्मीपति। आप कह सकते हैं कि हम लक्ष्मीपति को मानते ही कब हैं ? लेकिन आप यह देखें कि इस प्रार्थना में क्या बात

कही गई है ? इसमे माधव से मोहपाश तोड़ने के लिए कहा गया है। इसलिए जिसने अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान अनन्त चारित्र और अनन्त सुख पा लिए है वही वास्तव में माधव है। जो स्वयं स्त्री का स्वामी होगा वही मोहपाश का नाश कैसे कर सकता है ? जिसने अपने मोह के समस्त पाशों को छिन्नभिन्न करके हटा दिया है, जो पूर्वोक्त अनन्त चतुष्टय रूपी अलौकिक लक्ष्मी का स्वामी बन गया है, वही सच्चा माधव है।

इस भजन मे कहा गया है कि बाहर के करोड़ों उपाय करने पर भी मोह की गांठ नही खुली है। यथाप्रवृत्तिकरण उस गांठ के पास अनन्त बार जा आया, फिर भी गांठ न न खुली। और उस गांठ के खुले बिना मोक्ष मिलना तो दूर रहा, मिथ्यात्व भी नहीं हटता।

कोई साधु हो गया है, इसका यह अर्थ नही कि उसने मोह की ग्रंथि तोड़ डाली है। मोह ग्रंथि के टूट जाने की पहिचान है—अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न न होना और निन्दा सुनकर दुखी न होना। इस कसौटी पर सभी जिज्ञासु अपनी-अपनी अन्तरात्मा को कस सकते हैं। आत्मा जब कोयल की भाँति निरपेक्ष बन जाय, बिना किसी आशा-अभिलाषा के परमात्मा के स्वरूप में तल्लीन रहने लगे और मान-सन्मान की कामना न करे, तभी समझना चाहिए कि मोह की गाँठ टूट गई है। अगर आप समाज में प्रतिष्ठा पाने के उद्देश्य से सामायिक करते हैं, कीर्ति के लिए उपवास करते

है और सन्मान पाने के लिए भक्ति करते हैं तो समझ लीजिए कि अभी मोह की ग्रंथि नहीं खुली है। अगर आप निष्काम भक्ति करेंगे तो आपके शल्य नष्ट हो जाएँगे और देवता भी आपकी पूजा करेंगे। इसलिए मित्रो! मै बार-बार दोहराता हूँ कि कामना का परित्याग कर दो और निष्काम भाव से भक्ति करो। कामना करने से ही क्रिया का फल तो मिल नही सकता, और क्रिया का फल कामना न करने पर भी मिलता है। फिर कामना करके फल को क्यों तुच्छ बनाते हैं? हृदय में शल्य क्यों पैदा करते हैं?

मान लीजिए, एक आदमी इष्ट देव की पूजा के लिए सजी हुई थाली मे पूजा की सामग्री सजाकर, स्नान आदि करके पूजा करने चला। बीच मे उसे एक भंगी मिला। वह कहने लगा—पूजा की यह सामग्री मेरे टोकरे में भी डाल दीजिए। तो क्या कोई पुजारी डाल देगा?

'नही!'

कदाचित् दूसरे को उठाने के लिए तो दे भी सकता है, मगर भंगी के टोकरे में क्यों नही डालता? इसीलिए कि टोकरे मे मलीन चीज़ भरी है और देवता को चढ़ने वाली पवित्र चीज का स्पर्श उससे कैसे होने दिया जाय?

मित्रो! और लोग तो अपने देव को फूल-पत्ती, इत्र आदि से प्रसन्न करते हैं, मगर आपके भगवान् तो वीतराग हैं। वे इन चीजों से भी प्रसन्न नहीं हो सकते। उन्हे प्रसन्न करने के

लिए शुद्ध अन्तःकरण की आवश्यकता है। उस अन्तःकरण में दान, शील, तप और भावना की सामग्री भरी हो मगर हो वह पवित्र ही। इन्हे अपवित्र कर देने पर परमात्मा से भेंट नहीं हो सकती। कल्पना कीजिए कि आपने दान किया। लेकिन दान के साथ अगर अभिमान आ गया तो समझ लीजिए कि आपकी पवित्र वस्तु को चाण्डाल का स्पर्श हो गया! फिर वह अपवित्र वस्तु भगवान को चढ़ाने योग्य नही रही। इसी प्रकार अगर स्तुति के बदले कल्दार की कामना की तो वह भी अपवित्र हो गई। वह भगवान् को अर्पण करने योग्य नहीं रही।

लोग मनुष्य के शरीर को अछूत मानकर उससे परहेज करते हैं। मगर हृदय की अपवित्र वासनाओं से उतना परहेज़ नहीं करते। वास्तव में अपावन वासनाएँ ही मनुष्य को गिराती हैं और उसकी छूत से अत्यधिक बचने की आवश्यकता है।

कामना करने से वस्तु नहीं मिलती। निष्काम भावना से क्रिया करने पर ही अभीष्ट की प्राप्ति होती है। सुसराल में जाकर अगर कोई पकवान माँगे तो कदाचित् एक बार मिल जाएँगे, लेकिन न माँगने पर जैसे बार-बार और आदर के साथ मिलते हैं वैसे माँगने पर नहीं मिलते। धैर्य के साथ परमात्मा में अपने मन को लीन कर दो। फिर स्वयं ही अपूर्व आनन्द का झरना बहने लगेगा। उस समय आपको अनिर्व-

चनीय तृप्ति और शांति का अनुभव होगा। कामना की आग में जलते रहने से कुछ भी लाभ नहीं होता। अतएव एक मात्र भगवद्भक्ति के प्रयोजन से परमात्मा की स्तुति करो तो आप का कल्याण अवश्य होगा।

बीकानेर,
११-८-३०

(५)
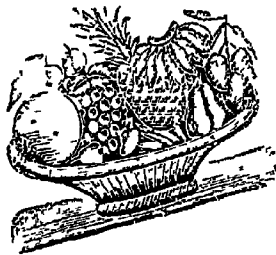
त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धम् ।
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ॥
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु ।
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥७॥

भवभवान्तर में बँधे हुए प्राणियों के पाप आपकी स्तुति से इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार संसार मे फैला हुआ, भौंरे के समान काला-काला अंधकार सूर्य की किरणों से तत्काल नष्ट हो जाता है ।

स्तुतिकार आचार्य मानतुंग कहते हैं—हे नाथ ! मैं भव भव मे उत्पन्न किये हुए पापों के समूह को अपने आत्मा के साथ बांधे हुए हूँ । एक भव के पापों का ही पार नहीं होता तो भव-भव के पापों का पार कैसे हो सकता है ? वह अपार पाप मेरी आत्मा को सता रहा है । मगर जैसे चिरकाल के रोगी को महान् कुशल वैद्य के मिल जाने पर आनन्द होता है और वह मान लेता है कि अब मेरा रोग नष्ट हो जायगा, उसी प्रकार भव-भव में कष्ट सहने के बाद अब आपका संयोग मिला है । मैं अपने पापों की गुरुता को देखकर निराश हो

आता था और विपुलता को देखकर डरता था कि इनसे किस प्रकार छुटकारा पा सकूँगा ! मगर आपकी और आपके स्तोत्र की शक्ति को देखकर मुझे बहुत आश्वासन मिला है। अब पापों से छुटकारा पाने की आशा बँध गई है। इसलिए मै बहुत प्रसन्न हूँ। मैंने सुना है कि आपके गुणों मे तन्मय हो जाने वाले देहधारी के अनेक भवों के पाप क्षण भर मे नष्ट हो जाते हैं। अब मुझे उन पापों से डर नही लगता

कहा जा सकता है कि परमात्मा के गुणों मे तन्मय हो जाने वाले के पाप एक क्षण में किस प्रकार नष्ट हो जाते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

संसार भर को जिसने व्याप्त कर लिया है, वह रात भर का इकट्ठा हुआ अंधकार और उपायों से अगर नष्ट हुआ भी तो थोड़े-से भाग का नष्ट होता है, सारे संसार का अंधकार नष्ट नहीं होता। एक शक्ति को छोड़ कर और कोई शक्ति नही है जो संसार भर के अंधकार का नाश कर सकती हो। हाँ, एक शक्ति ऐसी है जो देखते-देखते उस अंधकार को समाप्त कर देती है। सूर्य की किरणों के फैलते ही अंधकार कहाँ विलीन हो जाता है, पता नही चलता। प्रकृति की यह घटना प्रत्यक्ष देखकर मुझे विश्वास हो गया है कि जब एक सूर्य संसार भर के अंधकार को नष्ट कर डालता है तो जिसके सामने अनन्त सूर्य भी तुच्छ हैं, ऐसे परमात्मा की स्तुति में जब मै तल्लीन हो जाऊँगा, परमात्मा के साथ आत्मा को मिला

ढूँगा, तब पाप-तिमिर किस प्रकार ठहर सकेगा ?

आचार्य ने यह बात किस भावना से कही है, यह तो कोई पूर्ण पुरुष ही जान सकता है। लेकिन जब पंख मिले हैं तो उड़ने का अधिकार भी मिला है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति इस विषय पर विचार कर सकता है। यहाँ विचारणीय यह है कि सूर्य से अंधकार के नाश होने की बात अनुभव से सिद्ध है। हम नित्य ऐसा देखते है। मगर परमात्मा की स्तुति की है लेकिन पापों का नाश अब तक भी नहीं हुआ। अगर भगवान् अनन्त प्रकाश के अनुपम पुंज है और उनके लोकोत्तर प्रकाश के सामने पाप नही ठहर सकते तो फिर संसार का सब पाप नष्ट क्यों नहीं हो गया ? इस प्रकार भगवान् की स्तुति से ही पापों का नाश हो जाता है तो साधु बनना, श्रावक के व्रत धारण करना, तपस्या करके शरीर को सुखाना, ध्यान-मौन आदि का आचरण करना वृथा है। काम, क्रोध, मोह आदि को जीतने के लिए कठोर साधना करने की आवश्यकता ही क्या है ? बस, भगवान् की स्तुति की और पाप समाप्त हो जाने चाहिए। अगर पापों का नाश नहीं होता तो फिर स्तुति के विषय मे यह कहना कैसे ठीक होगा ?

इस प्रकार संदेह करने वालों मे कुछ लोग वे हैं जिन्हें परमात्मा पर भरोसा नहीं है। बहुतों को परमात्मा सम्बन्धी और आत्मा संबंधी आस्था ही नही है। वे नास्तिक हैं। कुछ आस्तिक लोग भी हैं जो ऐसा सन्देह करते हैं। जिन्हे परमात्मा

पर ही आस्था नहीं है, उन्हें परमात्मा की महिमा समझाना कठिन है। अलबत्ता जो जिज्ञासुभाव से शंका प्रकट करते हैं वे समझ सकते हैं।

उक्त संदेह के विषय में पहली बात यह है कि सूर्य कैसे ही प्रकाशवान क्यों न हो, जिसने अपने द्वारों के किवाड़ बन्द कर रक्खे हैं, सूर्य की किरणें जहाँ प्रवेश नहीं पा सकतीं, जहाँ सूर्य की किरणों का विरोध किया जाता है वहाँ का अंधकार अगर नष्ट नहीं होता तो किसका दोष समझा जाय?

दूसरी बात भी है। कई जीव सूर्य से विरुद्ध प्रकृति वाले भी हैं। सूर्य सबको प्रकाश देता है लेकिन उल्लू चमगीदड़ आदि कई ऐसे जीव हैं जो अंधकारमयी रात्रि को ही प्रकाश मानते हैं और सूर्य के निकलने पर उनके लिए अंधकार हो जाता है। अब अगर वे कहने लगें कि सूर्य किस प्रकार प्रकाश देता है, यह हमें दिखलाओ तो कैसे दिखलाया जाय? जब तक उनकी आंखों की रोशनी न बदले तब तक उन्हें सूर्य या उस का प्रकाश कैसे दीख सकता है?

तीसरे, सूर्य का प्रकाश फैला होने पर भी जिसने आंखें मूंद रक्खी हैं, उसे आंख खोले बिना प्रकाश दिखाई दे सकता है?

जिसे सूर्य के प्रकाश को देखना है, समझना है और उसके महत्त्व को जानना है उसे अपने द्वार खुले रखने होंगे, अपने नेत्र खुले रखने होंगे और अपनी विरोधी प्रकृति का

परित्याग करना होगा। इस विषय मे शास्त्रकारों का कथन है कि अगर किसी को परमात्मा का प्रकाश लेना है तो उसे अपना मन तैयार करना चाहिए। मन का डावाडोल होना प्रकृति का उलटा कर लेना है अथवा आंख या द्वार बंद कर लेने के समान है। जैसे आंखे और किवाड़ बंद कर लेने पर या प्रकृति विपरीत होने पर सूर्य नज़र नही आता, इसी प्रकार जब तक तुम्हारा मन अस्थिर है तब तक तुम्हें परमात्मा का प्रकाश नहीं मिल सकता। मतलब यह है कि तुमने अपने ज्ञानचक्षुओं पर पर्दा डाल रक्खा है और चर्मचक्षुओं से, जिनसे सिर्फ स्थूल भौतिक पदार्थ ही दीख सकते हैं, परमात्मा को देखना चाहते हो। यह कैसे हो सकता है? जिन आंखो से जो वस्तु देखी जा सकती है, उनसे वही वस्तु देखने का प्रयत्न करना चाहिए। आध्यात्मिक वस्तु ज्ञान-चक्षु से ही दिख सकती है, चर्मचक्षु से नही। उस ज्ञानचक्षु पर तुमने पर्दा डाल रक्खा है। तब परमात्मा का प्रकाश तुम्हे कैसे मिल सकता है। शब्द की उपलब्धि आंख से नही हो सकती, रस का ज्ञान नाक से नही हो सकता, स्पर्श का ज्ञान कान से नहीं होता। यद्यपि इन सब इन्द्रियों में एक आत्मा की शक्ति ही काम करती है, फिर भी इन्द्रियां अपने योग्य विषय को ही जानती हैं। परमात्मा रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित है, इसलिए वह किसी भी इंद्रिय का विषय नही है। उसे जानने-पहचानने के लिए ज्ञानचक्षु चाहिए। उस पर

जब तक पर्दा डाल रक्खा है तब तक परमात्मा का ज्ञान नहीं होगा।

प्रश्न हो सकता है—ज्ञानचक्षु पर पर्दा कैसे डाल रक्खा है? इस प्रश्न का समाधान विचार करने पर आप ही आप हो सकता है। क्या पर्दा पड़ा है, यह बात तो स्पष्ट है, परन्तु लोगों ने अपनी उलटी समझ के कारण उसे उलटा समझ रक्खा है। स्वाभाविक जीवन जीना स्वाभाविक बात है। भगवान् ऋषभदेव ने स्वाभाविक जीवन का पता लगाकर प्रजा को समझाया है और बतलाया है कि मेरी प्रजा को किस प्रकार रहना चाहिए?

भोगभूमि कहो या अकर्मण्यभूमि कहो या अकर्मभूमि कहो, उसका अर्थ यह है कि खाना, पीना और मौज तो करना मगर खाने, पीने और मौज करने के लिए पैदा कुछ भी न करना। युगलियों को सब वस्तुओं की आवश्यकता होती है लेकिन वह सब कल्पवृक्षों से उन्हें मिल जाती है। उनके लिए उन्हें उद्यम नहीं करना पड़ता। ऐसी स्थिति में युगलियों को उद्योगी कैसे कहा जा सकता है? वे अकर्मण्य ही कहलाते हैं। वे कल्पवृक्षों से भीख माग-माग कर ही अपनी जिन्दगी व्यतीत करते हैं।

इस अकर्मण्य दशा में उन्हें मोक्ष प्राप्त हो सकता है? नहीं! हां, प्रकृतिजन्य कर्म के विकार उनमें नहीं हैं, क्योंकि उन्हें किसी चीज की कमी नहीं पड़ती। कल्पवृक्षों से सब की

सब आवश्यकताएँ अनायास ही पूरी हो जाती है। इस कारण वे चोरी आदि कुकर्मों से बचे रहते हैं और इसी कारण वे नरक एवं तिर्यंच गति से भी बचे रहते हैं। फिर भी उन्हे मोक्ष नहीं मिलता। अनन्त बार जुगलियों के भोग भोग लेने पर भी आत्मा का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ।

जुगलियों की इस अवस्था मे भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। उनके जन्म लेते ही संसार पलट गया। कल्पवृक्षों ने फल देना बन्द कर दिया जैसे पहले मांगने से सब कुछ मिल जाता था, अब मिलना बन्द हो गया।

कोई कह सकता है कि भगवान् के जन्म से पहले आनद था, शांति थी, मगर भगवान् के जन्म लेते ही हाय-हाय मच गई! ऐसी हालत में भगवान् का जन्म अशान्तिकारक हो गया! लेकिन गीता मे कहा है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहं ॥

जैनधर्म के अनुसार इस श्लोक का अर्थ दूसरे प्रकार से ही हो सकता है। यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का प्रसार बढ़ जाता है तो कोई महापुरुष जन्म लेता ही है।

कहा जा सकता है कि भगवान् ऋषभदेव से पहले धर्म की कौन-सी ग्लानि हुई थी कि उनका जन्म हुआ? विना आरंभ समारंभ किये सीधी तरह खाने-पीने को मिल जाता था, सब

लोग मजे में रहते थे और मौज करते थे। धर्म की इसमें क्या ग्लानि हुई? तीर्थंकर जैसे परमोत्कृष्ट पुण्यशाली पुरुष का जन्म होने पर तो कल्पवृक्षों की शक्ति अधिक बढ़नी चाहिए थी, मगर उन्होंने तो, जो पहले देते थे, वही देना बन्द कर दिया। इसका क्या कारण है?

मित्रो! लोग ऐसे ही चक्कर में पड़े हैं। आत्मा जिस सुख के लिए ललचा रहा है, जिस सुख को भोगने की इसे टेव पड़ गई है, उसमें कमी होते ही यह चिल्लाने लगता है, हाय-हाय करने लगता है। पहले कल्पवृक्ष वस्तुएँ देते थे और फिर उन्होंने देना बद कर दिया। ऐसी दशा में हाय-हाय होना स्वाभाविक है। और उस हाय-हाय को मिटाने के लिए महा-पुरुष का जन्म होना भी स्वाभाविक है।

तीर्थंकर अनेक लब्धियाँ लेकर जन्मते हैं। उनमे आश्चर्य--जनक शक्तियाँ मौजूद रहती हैं। फिर भी उन्होंने संसार की हाय-हाय मिटाने का उपाय कृत्रिम बतलाया है या अकृत्रिम बतलाया है? महापुरुष का जन्म और कर्म कितना दिव्य होता है, यह बात पूरी तरह तो दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर ही जानी जा सकती है। शास्त्रों मे वह दिव्यता प्रकट की गई है लेकिन सर्वसाधारण की समझ निराली होती है। भगवान् ऋषभदेव दिव्य ज्ञानी थे। वे ऐसे पोले उपाय नहीं बतला सकते थे कि अमुक मंत्र जप लो और तुम्हारी मनचाही चीज़ तुम्हें मिल जायगी। भगवान् का जन्म अकर्मण्यभूमि मिटाकर कर्मभूमि

बनाने के लिए हुआ था। यह बात प्राचीन है और समझ की कमी के कारण उसे समझना कठिन हो रहा है। स्तुति में कहते हैं—

श्री आदीश्वर स्वामी हो,
प्रणमूं सिर नामी तुम भणी।
आदि धरमप्रभु अन्तर्यामी आप कीधी हो,
भरत खेतर सर्पिणि काल मे॥
कोंई जुगल्याधर्म निवार,
पेला नरवर मुनिवर हो॥
तीर्थंकर जिन हुआ केवली,
प्रभु थाप्या तीरथ चार॥श्री०॥

कुछ लोग कहेंगे कि भगवान् ने 'जुगल्याधर्म' मिटाकर कौन-सा अच्छा काम किया? मजे में बिना हाथ पैर हिलाये सीधा, खाना-पीना मिलता था। फिर कर्मभूमि चलाने से क्या लाभ हुआ? कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव ने आरंभ-समारंभ करना ही सिखलाया है। घर बनाना, खेती करना, पत्तन और कपड़े बनना आदि काम बतलाकर निरारंभी जीवन में बाधा डाल दी है।

वास्तव में संकीर्ण विचार वाले लोग धर्म के तत्त्व को नहीं समझ सकते। पहले कहा जा चुका है कि नैतिक जीवन के अभाव में धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन नहीं बन सकता। मगर लोग नैतिक जीवन के महत्त्व को नहीं सम-

भाते। पर भगवान ने सब से पहले नैतिक जीवन की ओर ही दृष्टिपात किया। उन्होंने सोचा कि यह लोग अगर आलसी बने रहेंगे तो इनकी आत्मा ऊँची नहीं चढ़ सकेगी। अतएव सर्वप्रथम इनका आलस्य मिटाकर इनके जीवन को नीतिमय बनाना आवश्यक है। जब मनुष्य में सामर्थ्य है तो उसका उपयोग होना चाहिये।

भगवान ने उस समय की प्रजा से कहा—अरे मनुष्यो! तुम्हारे हाथ-पैर हैं, नाक-कान हैं, तुम्हारे भीतर शक्ति भरी हुई है, फिर आलस्य में क्यों पड़े रहना चाहते हो? क्यों किसी की भीख के सहारे जीना चाहते हो? अपनी शक्ति को पहचानो और अपनी शक्ति के सहारे रहो। ऐसा करने से प्रकृति तुम्हारा साथ देगी। तुम हाथ में हल पकड़ोगे तो बैल भी तुम्हारी मदद करेंगे। अगर तुम हाथ-पैर ही न हिलाओगे तो प्रकृति कैसे मदद करेगी? इसलिए आलस्य छोड़ो, फितूर मत बढ़ाओ, सादगी से रहो और अपना भार दूसरों पर मत डालो। अपने लिए आप ही उद्योग कर लो। जब जीवन में इतनी नैतिकता आ जाएगी तो जीवन आध्यात्मिकता की ओर भी अग्रसर हो सकेगा।

भगवान की यह बात युगलियों ने स्वीकार की मगर—

महाजनो येन गतः स पन्था।

इस कहावत के अनुसार भगवान् को सब काम अपने हाथ से करके बतलाने पड़े। बहुत से काम आँखों से देखकर

ही सीखे जाते हैं, तदनुसार भगवान ने सब काम असली तौर पर उस समय की प्रजा को सिखलाए।

भगवान् ने आरंभ-समारंभ करना क्यों सिखलाया ? इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि जीवन सर्वथा निरारम्भ न हुआ है, न है और न होगा। आरंभ के अभाव में जीवन टिक ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में आरंभ की तरतमता का विचार करना पड़ता है और जो कार्य कम आरंभ का हो उसे अपनाना पड़ता है। आत्मघात करने वाला धर्मात्मा नहीं हो सकता।' अतएव जीवन निभाने के लिए किये जाने वाले अनिवार्य आरंभ का विरोध करना बुद्धिमत्ता नहीं है।

भगवान् ऋषभदेव पर यह आरोप लगाना कि उन्होंने पाप करना सिखलाया है, निरी मूर्खता है। कल्पवृक्षों से जीवनोपयोगी वस्तुएँ मिलना बंद हो गया था, ऐसी दशा में भगवान् लोगों को अगर आर्यकलाओं के द्वारा जीवन धारण करने की शिक्षा न देते तो लोग अनार्य कलाओं की ओर झुकते, उनमें प्रवृत्त होते और फिर उनके जीवन का पतन कहाँ जाकर रुकता ? उस समय की जरा कल्पना कीजिए कि कल्पवृक्षों ने देना बन्द कर दिया और प्रजा को कलाओं का ज्ञान नहीं था ! उस समय की प्रजा पर यह कितना घोर संकट था ! उन पर जो बीती होगी उसे कौन अनुभव कर सकता है ! उस समय भी अगर भगवान् कलाएँ न सिखलाते तो

संसार मे घोर पाप छा जाता। यहाँ तक कि आत्मघात की नौबत आ जाती या मनुष्य, मनुष्य को खाने लगता। क्या ऐसा करना घोरतर पाप न होता ? शास्त्र मे कहा है कि अन्न-पानी के बिना जो बिलबिलाहट करता हुआ मरता है वह अकाम-मरण मरता है और अनन्त संसार बढ़ाता है।

एक ओर उस समय की प्रजा के भूखों मरने का प्रश्न था और दूसरी ओर महारंभ होने की संभावना थी। तब भगवान् ने विचार किया कि महारंभ से बचकर जीवन नीतिमय और धर्ममय किस प्रकार बन सकता है और फिर आध्यात्मिक प्रगति कैसे हो सकती है ? जीवन धारण करने का अल्पारंभ के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं था और न आज है। अतः अल्पारंभ का मार्ग सिखाकर भगवान् ने प्रजा को महारंभ के महापाप से बचाने का उपाय किया।

'अन्नं वै प्राणाः' अर्थात् अन्न प्राण है। शरीर के लिए अन्न की अनिवार्य आवश्यकता है और खेती के बिना अन्न प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए भगवान् ने अन्न उत्पन्न करने की कला बतलाई। खेती के कार्य मे आरंभ तो है ही, लेकिन भगवान् कहते हैं कि शरीर निभाने के लिए खेती करने वाला अल्पारंभी है। अलबत्ता जो धनवान् बनने के उद्देश्य से खेती करता है वह अवश्य महारंभी है। इसी प्रकार अपना तन ढँकने तथा गर्मी-सर्दी और वर्षा से बचने के लिए वस्त्र

बनाने वाले को अल्पारंभी और धन के लिए मिल चलाने वाले को महारंभी कहा है। मतलब यह है कि जीवन की रक्षा के लिए जो कार्य आवश्यक हैं और जिनके बिना जीवन की रक्षा नहीं हो सकती, उन कार्यों मे होने वाले आरंभ को भगवानने अल्पारंभ कहा है और भोग-विलास आदि की अभिलाषा से किये जाने वाले अनावश्यक सावद्य व्यापार को महारंभ कहा है।

महारम्भ से बचाने के लिए ही भगवान् ने पुरुषों को बहत्तर कलाएँ और स्त्रियों को चौसठ कलाएँ सिखलाई, जिससे कि सुखपूर्वक नैतिक जीवन व्यतीत हो सके और आध्यात्मिक जीवन मे प्रगति हो सके। जब आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश हो चुके तब इन इन्हीं कामों को भगवान् ने त्याज्य बतलाया है। आध्यात्मिक जीवन की साधना के पथ पर आरूढ़ होने के पश्चात् शरीर पर भी ममता न रखने का विधान किया गया हैं। भगवान् ने कहा है कि पूरी तरह ममता का त्याग कर दो और आत्मा पर ही ध्यान रक्खो और सोचो कि मै अविनाशी हूँ।

इस रीति से भगवान् ने आध्यात्मिक विचार फैलाया, जिससे बहुत से लोगों ने अपनी आत्मा को ऊँचा चढ़ाया, अपना कल्याण किया।

सारांश यह है कि आप यह तो कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव के स्तोत्र से पापों का नाश होता है तो फिर हमारे पापों का नाश क्यों नहीं हुआ; परन्तु स्तोत्र के अनुसार आप

कार्य नहीं करते। आप भगवान् ऋषभदेव के कथन के विरुद्ध जीवन यापन करते हैं। आप प्रत्येक वस्तु को भोग की तराजू पर तोलते है, कमाते नहीं है। जब शरीर को वस्तु की आवश्यकता है तब बिना पैदा किये उस वस्तु का भोग कैसे होगा ? जब तक यह बात आप भलीभांति नहीं समझ लेंगे तब तक आध्यात्मिक जीवन को कैसे समझेंगे ? और जब तक आध्यात्मिक जीवन को नहीं समझेंगे तब तक स्तोत्र बोल लेने मात्र से पापों का नाश कैसे हो सकता है ? जिसने पक्षपात और स्वार्थ की दृष्टि का त्याग कर दिया है, उसके पाप भगवान् के स्तोत्र से अवश्य ही नष्ट हो जाते है।

एक आदमी दूसरे गरीब के कंधे पर चढ़ा है और कंधे को इस तरह दबाता है कि जिधर चाहे उधर ही उसे ले जाता है। तिस पर भी सवार कहता है कि मै इस गरीब पर दया करता हूँ। मै न होऊँ तो इसकी न जाने क्या दशा हो! मगर कंधे पर चढने वाले से पूछा जाय कि जब तुझे कंधे पर बिठाने वाला नहीं मिलेगा तो तेरी क्या दशा होगी ? आज करीब-करीब यही दशा हो रही है। अमीर लोग गरीबों पर सवार हैं, उनके धन का शोषण कर रहे हैं, तिस पर ऐहसान करते है कि हम गरीबो पर दया कर रहे है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने उपकारी का उपकार करने का ही विचार करता है। किसी से उधार लेकर न देना सम्यग्दृष्टि का काम नहीं है। लेकिन अपने ऐश-आराम के लिए गरीबों के प्रति

अन्याय करना और फिर उस अन्याय को गरीबों पर दया करना कहना आत्मा और परमात्मा के बीच दीवाल खड़ी करना है। जब तक यह दीवाल नहीं हटेगी और हृदय साफ नहीं होगा तब तक परमात्मा का दर्शन किस प्रकार हो सकेगा? आरम्भ-परिग्रह का त्याग न कर सको तो कम से कम उपकारी के उपकार को तो स्वीकार करो।

आज समय बदल रहा है तो लोग रोते हैं, जैसे युगलिया रोते थे। यह रोना और हाय-हाय केवल भोग के लिए है। ऐश-आराम में कमी हो जाने के डर से ही यह रोना है। मगर मित्रो! भोग के लिए क्यों रोते हो? जरा भगवान् ऋषभदेव को याद करो।

धनिक लोग सोचते है कि हमने पुण्य किया है। उसका फल भोग रहे है। अब उद्योग करने की आवश्यकता ही क्या है? उनके कथन का आशय यह है कि जो परिश्रम न करे वह धर्मात्मा है और जो परिश्रम करके खाता है वह पापी है। यह समझ की बड़ी भूल है। अब समय पलट रहा है। समय की प्रगति को देखो और अपने धर्म का भी विचार करो। आपको सही रास्ता मिल जायगा। अगर आपका बिगड़ा हुआ नैतिक जीवन सुधर जाएगा और आरम्भ-परिग्रह के प्रति आपकी उग्र ममता छूट जाएगी तो परमात्मा की स्तुति आपके पापों का नाश कर देगी और आप निष्पाप बन जाएँगे। आपका कल्याण होगा।

बीकानेर,
१४-८-३०

---

(६)

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद—
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥८॥

हे नाथ, ऐसा मानकर अल्पबुद्धि वाला भी मैं आपके प्रभाव से स्तुति आरंभ करता हूँ। यह स्तुति (आपके प्रभाव से) सत्पुरुषों के चित्त को हरण करेगी। जल का बूँद कमलिनी के पत्ते पर मोती की कान्ति प्राप्त करता है !

श्रीमानतुंगाचार्य कहते हैं—हे नाथ ! मैं आपके प्रताप से-आपके बल पर ही स्तुति बनाना प्रारंभ करता हूँ, अपने बुद्धि-बल के सहारे नहीं। मैं अपने बुद्धिबल के संबन्ध में तो पहले ही कह चुका हूँ कि मुझमें अल्पबुद्धि है। ऐसी स्थिति में मैं आपके सहारे ही स्तुति करने को उद्यत हो रहा हूँ। मेरे द्वारा की गई आपकी स्तुति अवश्य ही सज्जनों के चित्त को हरण करने वाली होगी। इसका कारण यह नहीं है कि मैं अपने बुद्धिकौशल से सुन्दर रचना करूँगा, बल्कि यह स्तुति आपकी है। आपकी स्तुति, जो परमात्मिक भाव से होती है,

सज्जनों के मन को हरण करने वाली होनी ही चाहिए। जल का बूँद जब कमलिनी के पत्ते पर ठहरा होता है तब मोती की तरह चमकने लगता है, यह बात छिपी नहीं है। यह बड़ाई उस पानी की नहीं है किन्तु उस स्थान की है, जिसे पाकर वह चमकने लगता है। मेरे शब्द भी पानी के समान है किन्तु आपका आधार पाकर अर्थात् आपकी स्तुति के काम में आकर वे मोती के समान हो गये हैं।

मित्रो! मानतुगाचार्य के काव्य की उत्तमता को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि वे विद्वान् नहीं थे या उनका काव्य साधारण कोटि का है। उनकी कविता से प्रकट है कि वे असाधारण विद्वान् थे। ऐसा होते हुए भी उन्होंने जो नम्रता प्रकट की है, वह हम लोगों को मार्ग दिखाने के लिए है। आचार्य दिग्गज विद्वान् और भक्त कवि थे। ऐसी सुन्दर रचना करना साधारण कवि का काम नहीं है। इसमें भाषा की सुन्दरता के साथ भावों की जो विशिष्ट सुन्दरता है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि इसके रचयिता असामान्य भक्त विद्वान थे। फिर भी उन्होंने जो नम्रता प्रकट की है उससे हम लोगों को यह सूचना मिलती है कि अपनी शक्ति का अहंकार तज दो। शब्द चाहे जैसे हों, परमात्मा को समर्पित कर दो। मुझ अल्पबुद्धि वाले के शब्द भी प्रभु की स्तुति में लगने के कारण सज्जनों का मन हरण करेंगे, यह कहकर आचार्य प्रकट करते हैं कि—मनुष्य को देखना चाहिए कि उसके शब्द

किधर जाते हैं ! शब्द भले ही टूटे-फूटे हों फिर भी यदि वे परमात्मा के प्रति समर्पित होंगे तो उत्तम ही है और सज्जन पुरुषों को मनोहर प्रतीत होंगे।

बहुत-से लोग देवता को फूल फल पत्ता चढाते हैं और कई अनार्य पुरुष बकरा तथा भैंसा जैसे त्रसजीवों की बलि देते हैं। यह सब आडम्बर है। देवता सज्जन हैं। उन्हें प्रसन्न करना है तो परमात्मा को अपनी वाणी चढ़ाओ। ऐसा करने से देवता स्वतः प्रसन्न हो जाएँगे; क्योंकि वे भी परमात्मा के भक्त और दास हैं। महामहिम परमात्मा की स्तुति करने से देवताओं का प्रसन्न हो जाना स्वाभाविक है।

आधार- आधेय का विचार करके देखना चाहिए कि वस्तु कहाँ जाती है ? विद्वानों ने वस्तु की गति तीन प्रकार की बतलाई है। एक ही वस्तु उत्तम स्थान पर जाने से उत्तम हो जाती है, मध्यम स्थान पर जाने से मध्यम हो जाती है और नीच स्थान पर जाने से नीच बन जाती है। भर्तृहरि ने जल के सम्बन्ध में कहा है—

> सतप्तायसि स्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते,
> मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थि राजते।
> स्वात्या सागरशुक्तिमध्यपतित तन्मौ जायते,
> प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणा संसर्गतो देहिनाम् ॥

यों पानी के बिन्दु की कोई कीमत नहीं करता। लेकिन वही पानी का बिन्दु जब स्वाति नक्षत्र से सीप के मुख में

गिरता है तो मोती बन जाता है। तब वह आदर पाता है और उसे धारण करने के लिए राजा अपना कान छिदवाता है और रानी अपनी नाक छिदवाती है। वह मोती है उसी पानी का प्रताप, मगर पानी जब सीप से मिला तभी उसे यह प्रतिष्ठा मिली। उत्तम पात्र को पाकर पानी भी उत्तम हो गया।

जल के बूंद की दूसरी गति है कमल के पत्ते पर गिरना। कमल के पत्ते पर गिरने वाला पानी मोती तो नहीं बनता, लेकिन मोती सरीखा दिखाई देता है। उसकी कीमत तो नहीं आ सकती फिर भी देखने से चित्त को वह प्रसन्न अवश्य करता है।

जो जल-विन्दु सीप में पड़कर मोती बन जाता है, कमल के पत्ते पर पड़कर मोती सरीखा दिखाई देने लगता है, वही अगर गरम तवे पर पड़ जाय तो तत्काल भस्म हो जाता है। यह उसकी तीसरी गति हुई।

जल-विन्दु की यह तीन बड़ी गतियाँ बतलाई गई हैं। उसकी अवान्तर दशाएँ तो बहुत-सी हैं। जैसे-वह अन्न मे पड़कर अन्न-सा हो जाता है, इक्षु में पहुँचकर मधुर हो जाता है, नीम में पहुँचकर कटुक बन जाता है और साँप के मुँह में पड़कर ज़हर बन जाता है। इस प्रकार की अनेक अवस्थाएँ उसकी होती हैं। मगर तीन अवस्थाएँ उसकी ध्यान आकर्षित करने वाली हैं। इन तीन अवस्थाओं में से स्तुतिकर्त्ता ने यहाँ मध्यम अवस्था पकड़ी है। मध्यम के सहारे आदि और अन्त

की अवस्था भी पकड़ी जा सकती है। आचार्य कहते हैं—मेरे शब्द भले ही कौड़ी के बराबर हों लेकिन भगवान् की स्तुति में लग जाने से मोती बन गये हैं।

हम लोगों को पुण्य के उदय से मन, वचन और काय की प्राप्ति हुई है। वह पुण्य तीव्र था, इस कारण आर्य क्षेत्र मिला, मनुष्यगति मिली और दूसरी सब उत्तम सामग्री मिली। वैसे देखा जाय तो इन सब की कोई कीमत नही है, फिर भी यह महान दुर्लभ वस्तुएँ हैं।

लोगों का दृष्टिकोण इतना अर्थप्रधान बन गया है कि अर्थ के सामने किसी दूसरी चीज़ की कोई कीमत ही नहीं है! महत्त्व उसी का समझा जाता है जिसके बदले में पैसा चुकाना पड़ता है। यह एकदम भौतिक दृष्टिकोण अपने आप को भुलावे मे डालने वाला है। धनवान् की कोई कीमत नही, जो कुछ है धन की ही कीमत है! धन के सामने जीवन तुच्छ है, आत्मा नाचीज है! यह दृष्टिकोण इतना व्यापक हो गया है और इसका असर लोगों पर इतना अधिक हो चुका है कि इससे भिन्न दूसरी बात सोचना भी उनके लिए कठिन हो गया है। मगर मनुष्य अपनी मनुष्यता को भूल जाय, यह कितने संताप की बात है! आर्थिक मूल्य न चुकाने पर भी देखना चाहिए कि वस्तु का महत्त्व कितना है? इस दृष्टि से अपने वचन और काय की कीमत समझनी चाहिए। इनके लिए हमे पैसा नही देना पड़ा है, यह सही है, मगर

यह मुफ्त में भी नहीं मिले हैं। इनके लिए पहले से संचित पुण्य की एक बड़ी राशि खर्च करनी पड़ी है और पुण्य की पूंजी पैसे की पूंजी से हल्की नहीं वरन् बहुत ज्यादा कीमती है। कहना चाहिए कि पुण्य की पूंजी से ही पैसे की पूंजी प्राप्त होती है। जब पुण्य समाप्त हो जाता है तब ज़मीन खोदकर गाड़ा हुआ धन भी कोयला हो जाता है. मोतियों की माला भी सांप बन जाती है। इस प्रकार पुण्य ही सब प्रकार की सम्पत्ति का आद्य स्रोत है। जिस वस्तु के लिए पुण्य को व्यय करना पड़ता है वह बड़ी कीमती वस्तु है। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि गंगा. यमुना और सरस्वती के संगम की अपेक्षा भी मन, वचन और काय का संगम होना कठिन है।

गंगा यमुना और सरस्वती के एक ही जगह मिलने से उस स्थान को त्रिवेणी कहते हैं और लोग उसे तीर्थ मानते हैं। इसी प्रकार मन, वचन और काय का जहाँ संगम है, वह क्या तीर्थ से कम है? यह तीर्थ सच्चा तीर्थ है, जिसके द्वारा भव-सागर तिरा जा सकता है। मगर इन तीनों के लिए आपको इस समय पैसा नहीं देना पड़ा है, इसीलिए आप इनकी कद्र नहीं करते! फिर भी विचार करने पर मालूम होगा कि यह कितनी उत्तम वस्तुएँ हैं। आपके मन, वचन और तन की आर्थिक दृष्टि से कितनी कीमत है? कितना धन लेकर आप अपना मन बेच सकते हैं? कितने रुपये पाकर

आप वचन वेच देंगे और गूंगा होना स्वीकार कर लेंगे? और आपकी काया की कीमत क्या है? कितना मूल्य लेकर आप अपनी काया त्याग सकते है? इन प्रश्नों पर विचार करो तो असली बात समझ मे आयगी। जब इनका महत्व इतना अधिक है और यह उत्तम वस्तुएं है तो इन्हें उत्तम काम मे ही लगाना चाहिए या नीच काम मे लगाना चाहिए? किसी पागल को राज्य देने लगो तो उसके किस काम का? अर्थात् मन राज्य से भी मूल्यवान् है। वाणी की महिमा किसी गूंगे से पूछो। उसे वाणी और मोतियों की माला मे से एक चीज़ देना चाहो तो वह माला पसन्द नही करेगा वाणी ही लेना चाहेगा। और काया के सहारे तो यह सब खेल ही है! यह तीनों चीजें आपको मिली हैं और वे भी दुरुस्त हालत में मिली हैं, यह कितने आनन्द और संतोष की बात है! जिन्हें यह प्राप्त नही हैं उनके साथ अपनी तुलना करके देखो तो ज्ञात हो कि यह अपूर्व और अमूल्य वस्तुएँ हैं। किन्तु बादाम-पाक खाते-खाते जिसे अजीर्ण हो गया है वह रोटी की कीमत नहीं समझता, उसी प्रकार आप भी इस अपूर्व सम्पत्ति की कीमत नहीं समझते।

मन वचन और काय अत्यन्त तीव्र पुण्य के उदय से मिले हैं और धर्म रूपी सीप हमारे सामने मुँह फाड़े खड़ा है, तो हम इन्हें पानी के बूँद की तरह धर्म-सीप के ही मुँह मे क्यों न डाल दें? धर्म और परमेश्वर एक ही हैं, दो नहीं। उसे

धर्म भी कह सकते हो और परमेश्वर भी कह सकते हो। 'सच्च भगवओ' (सत्य भगवान्) भी कह सकते हो। इस सत्य की सीप में अपने मन, वचन, काय को डाल दोगे तो ये मोती बन जाएँगे। ये ऐसे मोती बनेंगे जो राजा-महाराजाओं के आदर के ही पात्र नहीं बनेंगे वरन् देवता भी इनकी पूजा करेंगे।

देवा वि त नमसंति जस्स धम्मे सया मणो।

अर्थात् जिसके मन मे सदैव धर्म का वास होता है उसे देव भी नमस्कार करते है।

इस प्रकार कांक्षाहीन होकर अगर आप भगवान् की भक्ति करेंगे तो देवता भी आपको नमस्कार करेंगे। विनयचन्द्रजी कहते है—

आगम-साख सुणी छे एहवी,
जो जिनसेवक थाय हो सुभागी।
तेहनी आशा पूरे देवता,
चौंसठ इन्द्रादिक साय हो सुभागी॥
श्रीशान्ति जिनेश्वर सायब सोलवा,
शान्तिदायक तुम नाम हो सुभागी।
तन मन वचन हो शुध कर ध्यावतां,
पूरे सगली हाम हो सुभागी॥श्री०॥

यह आगम की साक्षी है कि जो तन, मन और धन का अहंकार त्याग कर उन्हें परमात्मा को समर्पित कर देता है और फिर भी निष्काम बना रहता है, उसकी आशा देवता

पूर्ण करते हैं। आप देवताओं से आशा रखते हैं, इसी कारण वे आपकी आशा पूरी नही करते। अगर आप तन, मन, धन परमात्म-समर्पण कर दे तो देवता आपकी आशा पूरी करेंगे और इन्द्र दास हो जाएंगे।

मन रात-दिन घोड़े की तरह दौड़ लगाता रहता है। लेकिन यह देखना आवश्यक है कि परमात्मा की ओर कितना दौड़ता है और नीच कामों की ओर कितना दौड़ता है? यह अपूर्व चीज आपको मिली है। क्षण भर के लिए भी इसका दुरुपयोग मत होने दो। सोते-बैठते सब समय परमात्मा में ही मन संलग्न रहना चाहिए।

सुत्ता मुणिहया

जितात्मा संयमी मुनि जब सोते हैं तब भी उनके योग उसी प्रकार काम करते रहते है, जैसे कि जागृत अवस्था में करते हैं। कुम्भार का चाक वेग के साथ घुमाकर छोड़ दिया जाता है तो थोड़ी देर तक बिना घुमाये घूमता रहता है। इसी प्रकार जिसने जागते समय मन को परमात्मा में सम्पूर्णता के साथ लगाया है, उसका मन सोते समय भी वहाँ लगा रहेगा। जो निरन्तर परमात्मा की भावना से हृदय को भावित करता रहेगा, उसका मन सुषुप्ति दशा मे अन्यत्र जा ही नहीं सकता।

आज अधिकांश लोग ऊपरी दिखावे के लिए परमात्मा के भक्त बनते हैं। जैसे कोई अच्छा मकान बनाने वाला समझता

है कि फर्नीचर के विना इस मकान की इज्जत नहीं होगी और यह सोचकर वह दिखावे के लिए फर्नीचर बसा लेता है, इसी तरह लोग सोचते है—दुनियादारी के सब काम-काज करते है, अगर धर्म न करेंगे तो अच्छा नहीं लगेगा। करीब-करीब ऐसे ही विचारों से लोग धर्मक्रिया करते हैं। मगर जो धर्मात्मा है, जिसने धर्म का मर्म समझ लिया है, उसके विचार निराले होते हैं। वह सोचता है—संसार-व्यवहार के काम माथे आ पड़े है तो मकान मे फर्नीचर बसाने की तरह करने पड़ते है, लेकिन धर्म तो मकान ही है। फर्नीचर के चक्कर मे फँसकर मकान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मकान ही न होगा तो फर्नीचर किसमें बसाएँगे?

जल मे रहने वाली मछली खाती तो है, मगर उसके भीतर ही, बाहर नही। वह देखती भी है, मगर जल के भीतर ही। जल के बाहर तो उसके लिए घोर अधकार है। वह चलती-फिरती भी है, मगर जल के बाहर नहीं। इसी प्रकार जिसमे सच्ची धर्मभावना होगी वह धर्मभावना से बाहर कभी नही निकलेगा। उसे धर्मभावना से बाहर निकलना उसी प्रकार अरुचिकर होगा, जिस प्रकार जल से बाहर निकलना मछली के लिए अरुचिकर होता है। ऐसी प्रगाढ धर्मभावना की प्रशंसा इन्द्र भी करते है।

इन्द्र पौषधशाला में बैठे हुए की प्रशंसा करे तब तो कोई बात ही नहीं, मगर इन्द्र जहाज में बैठे हुए धर्मात्मा की,

जहाँ आरंभ ही आरंभ है, प्रशंसा क्यों करता है? इसका कारण यही है कि जहाज में बैठे हुए भी धर्मात्मा की भावना परमात्मा मे ही लगी है। धर्मभावना वाला पुरुष चाहे जहाज मे बैठा हो, चाहे पौषधशाला मे बैठा हो, मन उसका परमात्मा मे ही लगा रहता है। इसी कारण वह इन्द्र द्वारा प्रशंसनीय हो जाता है।

आप यह न समझें कि धर्म केवल पौषधशाला मे ही है, अन्यत्र पाप ही पाप है। इस प्रकार की भावना से पाप की अधिक वृद्धि होती है। आपका विचार यह होना चाहिए कि मै धर्मी हूँ और धर्म की आजीविका करता हूँ। पौषधशाला तो धर्म की शिक्षा शाला है। उस शिक्षा का उपयोग तो बाहर ही होता है अगर आपने पाठशाला मे पाँच और पाँच दस गिने और पाठशाला से बाहर निकलते ही ग्यारह गिनने लगे, तो आपका सीखना निरर्थक हुआ। इसी प्रकार अगर पौषधशाला मे धर्म की शिक्षा ली और बाहर जाकर उसे भूल गये और अधर्म मे प्रवृत्त हो गये, कपट करने लगे, झूठ बोलने लगे, तो आपकी वह शिक्षा व्यर्थ हुई। धर्म का संस्कार धर्मस्थान मे ऐसा ग्रहण करो कि वह जीवन व्यवहार मे काम आवे। कदाचित् आप सोचते हो कि व्यवहार में धर्म का अनुसरण करने से काम नहीं चलेगा, व्यवहार चौपट हो जायगा, तो आप अपने हृदय से यह भ्रम दूर कर दीजिए। धर्म का व्यावहारिक अनुसरण करने वाले कभी

भूखों नहीं मरते।

बहुत लोग धर्म के सम्बन्ध में एक भ्रम मे पड़े है। उनका यह अभिप्राय है कि धर्म व्यवहार की वस्तु नहीं है? अगर धर्म व्यवहार मे लाने की वस्तु न होती तो उसका इतना माहात्म्य ही न होता। प्राचीन काल के अनेक चरित हमारे सामने हैं जिनसे भलीभाँति समझा जा सकता है कि लोकव्यवहार मे धर्म का आचरण करने वालों का व्यवहार कभी नहीं रुका है। धर्म न दिखावे की वस्तु है और न कीर्ति उपार्जन का साधन है। यह बात दूसरी है कि धर्मात्मा की कीर्त्ति स्वतः संसार में फैल जाती है, पर धर्म का उद्देश्य कीर्त्ति उपार्जन करना नही है। धर्म तो आचरण की वस्तु है। धर्म-स्थान का जीवन और दुकान का जीवन अलग-अलग नही है। वह एक है, अविभक्त है। अतएव धर्मस्थान और दुकान के जीवन-व्यवहार मे भी एकरूपता होनी चाहिए।

जीवन मे एकरूपता लाने के लिए सदा सर्वदा परमात्मा की भक्ति में लीन रहना चाहिए व्यावहारिक कार्य करते समय भी परमात्मा अन्तःकरण मे मौजूद रहना चाहिए। परमात्मा को भुलानेवाला अर्थात् परमात्मा के आदेशों के विरुद्ध व्यवहारकरने वाला भक्ति के मर्म को नही समझा है। जो भक्ति के मर्म को और प्रभाव को समझ जायगा वह क्षण भर के लिए भी परमात्मा को विस्मरण नही करेगा। वही कल्याण का पात्र बनेगा।

बीकानेर,
१२-८-३०

(९)

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं,
त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरिता निहन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकाशभाञ्जि ॥ ९ ॥

अर्थ—

सूर्य की बात तो जाने दीजिए, उसकी प्रभा से ही सरोवरों में कमल खिल जाते हैं। इसी प्रकार समस्त दोषों से रहित आपकी स्तुति की तो बात ही क्या, आपका नाम लेने से ही जीवों के पापों का नाश हो जाता है।

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य मानतुंग कहते हैं कि साधारण वस्तु भी जब किसी विशिष्ट वस्तु का आश्रय लेती है तो उसकी साधारणता मिट जाती है और उसमें असाधारणता आ जाती है। आश्रय की विशेषता वस्तु में विशेषता उत्पन्न कर देती है। इसी प्रकार अच्छी वस्तु अगर बुरी वस्तु का आश्रय लेती है तो वह भी बुरी बन जाती है। मुझे जो सामान्य वस्तु मिली है, उसे अगर परमात्मा का

आश्रय प्राप्त हो जाय, अगर वह प्रभु के प्रति समर्पित हो जाय तो वह असाधारण बन जायगी।

परमात्मा का यह आह्वान है कि तू जैसा है वैसा ही मेरे पास आ। यह मत विचार कि मेरे पास ऋद्धि, सम्पदा या विद्वत्ता नहीं है तो मैं परमात्मा के पंथ पर कैसे पाँव रख सकूँगा! इस विचार को छोड़ दे और जैसा है वैसा ही परमात्मा की शरण में जा। जैसे कमल के पत्ते का संयोग पाकर जल का साधारण बूँद भी मोती की कान्ति पा जाता है, उसी प्रकार तू परमात्मा का संयोग पाकर असाधारण बन जायगा।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अगर किसी में स्तोत्र बनाकर गाने की शक्ति न हो तो उसे क्या करना चाहिए। स्तोत्र छन्दबद्ध होने के कारण बड़ों का अर्थात् विद्वानों का मन चाहे हर ले, लेकिन छोटों का इससे क्या लाभ होगा? लेकिन स्तोत्र से अगर विद्वानो का ही मनोरंजन होता हो और छोटो को उससे लाभ न पहुँचे तो वह स्तोत्र ही क्या? जवार मोतियों से कम कीमती होने पर भी अधिक कीमती होती है, क्योंकि उससे गरीब और अमीर-सब का काम चलता है। मोती तो सिर्फ अमीरो के ही काम आते हैं। इसी प्रकार वही स्तोत्र मूल्यवान् है जिससे सब लोग लाभ उठा सकते हो। मगर जो लोग छन्दबद्ध स्तोत्र से लाभ नहीं उठा सकते वे अपने मन, वचन और काया परमात्मा को किस प्रकार अर्पित कर सकते है?

इस संबंध में आचार्य कहते हैं कि जिसके प्रभाव से सब पाप धुल जाते हैं, उस प्रभु की प्रसंगकथा भी सब पापों का नाश कर सकती है, यहाँ तक कि उसका नामकीर्तन भी पापों को नष्ट कर देता है। जिस प्रभु का नामकीर्तन और प्रसंगकथा भी पापमोचिनी है उसके स्तोत्र के प्रभाव का कहना ही क्या है !

प्रभु के स्तोत्र में वह शक्ति है कि अन्तःकरण की बलवती प्रेरणा से स्तोत्र बनाने वाला स्वयं इन्द्र की स्तुति का पात्र बन जाता है। जिनके स्तोत्र बनते हैं उनकी कथा भी महान् होती है। इसी कारण स्तोत्र भी महान् बनते हैं।

इतिहास वह है जिसमें बीती बातों का वर्णन हो। इतिहास के लिखने में तो थोड़ी ही देर लगती है और परिश्रम भी कम करना पड़ता है, लेकिन इतिहास में वर्णित कार्यों को करने में कितना परिश्रम हुआ होगा? कितना समय लगा होगा? किसी व्यक्ति के चरित को ही लीजिए। चरित की रचना तो सहज ही की जा सकती है मगर चरित में लिखित बातों का अमल करने में चरितनायक को कितना परिश्रम करना पड़ा होगा? कल्पना कीजिए—किसी राजा ने एक सुन्दर और विशाल महल बनवाया। दूसरे आदमी ने उसका वर्णन लिखा कि इस महल में इतने कमरे, इतनी खिड़कियाँ और इतने द्वार हैं, आदि-आदि। बस, मकान की कथा तो इतने में ही समाप्त हो गई, मगर विचार कीजिए कि महल

बनाने मे कितना श्रम और समय लगा होगा ? इस प्रकार विचार करने पर आपको भगवान् की कथा की महिमा ज्ञात होगी। महापुरुषो की कथा पापों को हरण करने वाली होती है। और जिनकी कथा पापों को हरण करने वाली होती है, उन्हीं का स्तोत्र महान् कल्याणकारी होता है।

आचार्य कहते हैं—परमात्मा सम्बन्धी कथा भी पापों का विनाश करने वाली होती है। जैसे कमल को विकसित करने के लिए सूर्य तो दूर रहा, उसकी प्रभा ही पर्याप्त है, उसी प्रकार भगवान् की स्तुति का तो कहना ही क्या है, उनकी कथा भी पापों का नाश करने वाली है। जिसकी कथा भी पापों को हरण कर सकती है, उसका स्तोत्र पापो का क्यों विनाश करेगा ? तात्पर्य यह है कि स्तोत्र सूर्य के समान है और कथा प्रभा के समान। अतएव पापों को हरने के लिए कथा ही काफी है। गीता मे कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यं-मेव यो वेत्ति तत्त्वत ।
त्यक्त्वा देह पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

अर्थात्—जिस दिव्य दृष्टि से मेरा जन्म और कर्म जानने योग्य है, उस दिव्य दृष्टि से जो मेरे जन्म और कर्म को जान लेता है, वह देह त्याग कर पुनर्जन्म धारण नही करता।

जिनकी कथा से पाप-नाश होता है और फिर जन्म नही लेना पड़ता, उनकी कथा कैसी होती है, यह भी जान लेना आवश्यक है।

कोई भी लोकोत्तर शक्तिसम्पन्न महापुरुष, यकायक महा-पुरुष नहीं बन जाता। आत्मा नित्य है और वह एक भव के पश्चात् दूसरे भव को ग्रहण करता है। दूसरे भव में पहले भव का शरीर नही रहता मगर संस्कार अवश्य रहते हैं। इस प्रकार एक आत्मा अपने पूर्वभव के संस्कारों के साथ अगला भव ग्रहण करता है। और उस भव मे अपने पूर्व-कालीन संस्कारों में वृद्धि करता है, उन्हें अधिक उच्च और पवित्र बनाता है। इस प्रकार क्रमश: उच्च और पवित्र बनते हुए संस्कार जिस जन्म में बहुत विकसित हो जाते है, उसी भव में आत्मा महापुरुष की पदवी प्राप्त करता है। किसी भी महापुरुष की महत्ता उसके वर्त्तमान् जीवन की साधना का ही परिणाम नही है, किन्तु भवभवान्तर की चिर साधना का फल है।

चाहे भगवान् ऋषभदेव की कथा लो, चाहे किसी दूसरे महापुरुष की, उसे पूर्वजन्म की सहायता प्राप्त होती है। पूर्व-जन्म में उन्होंने महान् तप और धर्म का आचरण करके संसार के कल्याण में भाग लिया है। उस समय उनकी क्रिया जब उत्कृष्ट दशा को पहुँच गई, तब उन्होंने नवीन जन्म धारण किया। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव को पहचानने के लिए उनके तेरह भवों की कथा देखने की आवश्यकता है। उन्होंने ऋषभदेव के भव में जो महिमा और सिद्धि प्राप्त की है, उसके लिए पहले के बारह भवो में साधना की थी। तब कही तेरहवे

भव में वे ऋषभदेव हुए। जो भव्य पुरुष उन कथाओं के साथ अपने जीवन की तुलना करेगा, उसके आदर्श का अनुसरण करेगा, वह अवश्य ही संसार के जन्म-मरण रूप दुःखों से मुक्त होगा।

एक पूर्वभव मे भगवान् ऋषभदेव गाथापति थे। उस समय उनका जीवन ऐसा दिव्य था कि श्रीमन्त होते हुए भी वे गरीबों से भेदभाव नहीं रखते थे।

आज तो बढ़िया खाने और बढ़िया पहनने में ही श्रीमंताई समझी जाती है, लेकिन इस बढ़िया खाने-पहनने के कारण श्रीमन्तों और गरीबों के बीच एक जबर्दस्त दीवार खड़ी हो गई है। यही कारण है कि आज वर्गयुद्ध हो रहा है और समाज पंगु बन रहा है।

मित्रो! सत्य की खोज करो और सत्य को ही अपनाओ। कथा को सुनकर यह देखो कि मुझमें सत्य कितना है? कथा सुनने का यही प्रयोजन है।

मैं पूछता हूँ—जो पुरुष बढ़िया कपड़े पहनेगा, वह गरीबों के साथ रहेगा?

'नहीं!'

तो सोचिए कि उसकी श्रीमंताई गरीबों का साथ देने के लिए है या गरीबों से दूर भागने के लिए है? बढ़िया चटकीले कपड़े पहन लेने पर गरीबों की तो मानों छूत लगती है! मगर स्मरण रक्खो, सम्पत्ति होने पर जो गरीबों से दूर भागता है

उसकी सम्पत्ति पाप रूप हो जाती है। सम्पत्ति में प्रायः यह बात पाई जाती है, इसी कारण सम्पत्ति—परिग्रह—की गणना पाप में की गई है।

पाप सोना-चाँदी में नहीं बैठा है, किन्तु धन की ममता में फँसकर गरीबों से दूर रहने और गरीबों का रक्तशोषण करके धन बढ़ाने की तृष्णा में पाप है।

कल्पना कीजिए—एक सेठ बग्घी में बैठा जा रहा है और एक किसान अपनी बैलगाड़ी में बैठा जा रहा है। मार्ग में एक तीसरा गरीब और बेहाल थका हुआ पथिक मिला। वह अगर बग्घी और गाड़ी में अपने को बिठा लेने की प्रार्थना करे तो उसे कौन बैठा लेगा?

'किसान!'

बग्घी वाले को तो वह थका हुआ बटोही भूत-सा दिखाई देगा। लेकिन किसान के दिल में दया उपजेगी और वह अपनी गाड़ी में उसे बिठा लेगा। इन दोनों में से किसे पुण्यवान् समझना चाहिए? इसीलिए कहा है—

> दया धर्म पावे तो कोई पुण्यवंत पावे।
> जाने दया की बात सुहावे जी॥
> भारी कर्मा ने अनन्त संसारी,
> जारे दया दाय नहि आवें जी॥ दया०॥

गरीबों और अमीरों के बीच भेदभाव की दीवाल खड़ी हो गई है, जिससे अमीर लोग गरीबों से अलग रहते हैं। इस

दीवाल को गिराने के लिए ही संत महात्मा कहते हैं कि गरीबों के अनुकूल रहो, प्रतिकूल मत रहो। अनुकूल रहने वाला ही पुण्यवान है।

अमीरों को यह नहीं सोचना चाहिए कि हमें गरीबों की क्या परवाह है! उनके विना हमारा कौन-सा काम अटकता है? वास्तव में अमीर लोग गरीबों की सहायता के बिना एक दिन भी नहीं जी सकते। धर्म तो ऊँची चीज़ है। पर मैं नैतिक जीवन के लिए ही कहता हूँ। नैतिक जीवन में गरीबो की सहायता की पद-पद पर आवश्यकता रहती है। अमीरों की विशाल और सुन्दर हवेलियाँ गरीबों के परिश्रम ने ही तैयार की हैं, अमीरों का षड्रस भोजन गरीबों के पसीने से ही बना है। अमीरों के बारीक और मुलायम वस्त्र गरीबों की मिहनत के तारों से ही बने हैं। याद रक्खो, आध्यात्मिक जीवन का पाया नैतिक जीवन है। जिसकी सहायता के विना एक दिन भी काम नहीं चल सकता उसकी सहायता को भुला देना और यह कहना कि गरीबो के विना हमारा क्या काम अटकता है, घोर कृतघ्नता है। यह कृतघ्नता नैतिक पतन को सूचित करती है।

जैन शास्त्रों मे पृथ्वी पानी आदि की दया इसलिए भी बतलाई गई है कि उनकी सहायता से ही जीवन टिकता है। जिनकी सहायता पर जीवन निर्भर है, समय पर उनकी याद न करना कृतघ्नता है। विवाह के अवसर पर गरीबों का चाहे

चूरा हो जावे, लेकिन लोग अमीरों की ही सेवा करते हैं और उनके लिए ही थाल सजाते है। पर गरीबों के प्रति ध्यान नही देते। यह बड़ी कृतघ्नता है।

अमीर और गरीब के बीच की दीवाल गिराने के लिए ही शास्त्र की कथाएँ हैं। श्रीकृष्णजी ने गरीब बूढ़े की ईंटें उठवाई तो ऐसा करने से वह दीवाल मज़बूत हुई या टूटी ?

'टूटी !

घर का कोई आदमी बीमार हो जाय तो छैल-छबीले लोगों को वह भी प्यारा नही लगता। ऐसे समय मे गरीब ही सेवा करते हैं। छैल-छबीली बाई को बीमार सासू की सेवा कब अच्छी लगेगी ? बहुत हुआ तो वह किसी नौकरानी को रख देगी, मगर नौकरानी भी तो गरीबिनी ही है। तो फिर दया किस पर होनी चाहिए—गरीबों पर या अमीरों पर ? कौन अधिक दया का पात्र है ?

आप मैनचेस्टर का मलमल पहनने में अपना गौरव समझते हैं। और खादी पहनने में गौरवहीनता मानते है। तो आपके दिल में दया कहाँ रही ? जिस दिन आपके दिल में दया उपजेगी उस दिन आपके शरीर पर बारीक वस्त्र नहीं रहेंगे। भारत की बहुत-सी बहिनें, विदेशी वस्त्रों पर पिकेटिंग करने के कारण अपने कोमल शरीर पर लाठियाँ और बेत सहन करती हैं और आप मर्द होकर भी बेपरवाह है ? अगर आप पिकेटिंग नहीं कर सकते तो कम से कम स्वयं तो चर्बी

लगे विदेशी वस्त्रों के पहनने का परित्याग कर सकते हैं? विदेशी वस्त्रों के व्यवसाय का त्याग तो कर सकते हैं? मगर आपको तो पैसा चाहिए, देश रहे या डूबे, इस बात की चिन्ता ही क्या है? धरना देने वाली बहिनें जो बुरी तरह मार खा रही हैं उनकी उस मार-पीट का कारण कौन है? व्यापारी अगर विदेशी वस्त्र न बेचें और खरीददार न खरीदें तो उन्हें क्यों इतना कष्ट सहन करना पड़े? मगर लोग पैसे के लोभ में पड़कर दया भूल गये हैं, धर्म को विसर गये हैं। आप मर्द हैं और आपकी मां-बहिनें पापमय विदेशी वस्त्रों का व्यवहार बन्द कराने के लिए मार खा रही हैं। फिर भी आपको लज्जा नहीं आती? यहां तक कि आप उन वस्त्रों का त्याग नहीं कर सकते। अहंकार त्याग कर देश की भलाई के लिए मार खाने वाली बहिनों की तपस्या कम नहीं है। महारानी देवकी विना अपराध हथकड़ी-बेड़ी पहनकर कारागार में रही, चन्दनवाला विना अपराध हथकड़ी-बेड़ी में जकड़ी भौंयरे में बन्द रही, अंजना ने विना अपराध घोर अपमान सहन किया, तो क्या इन देवियों के नाम प्रातः-स्मरणीय नहीं हो गये? जिन देवियों ने घोर संकट सहकर भी सत्य को नहीं छोड़ा है, उनमें कैसी शक्ति रही होगी, इस बात पर विचार करो। थोड़े दिनों पहले किसी को खयाल ही न होगा कि बहिनें इस प्रकार लाठियों की मार खाएँगी, पर सत्य न मालूम कब किस रूप में प्रकट होता है!

बहिनो, अगर आपको अंजना, द्रौपदी आदि सतियों की बात याद हो तो आप अपने धर्म का विचार करो। अपने धर्म का विचार करने और उसे व्यवहार में लाने से ही चरित-कथा सुनने का लाभ मिलेगा।

आपको चन्दनबाला की कौन सी पोशाक महत्वपूर्ण मालूम होती है ? देवों द्वारा पहनाई हुई या हथकड़ी-बेड़ी के समय की ? चन्दनबाला के जीवन में एक समय वह था जब उसका सिर मुड़ा हुआ था और हाथ-पैर हथकड़ियों-बेड़ियों से उसके जकड़े हुए थे और वह भौंयरे में बँधी पड़ी थी। दूसरा समय वह था जब देवों ने उसे पोशाक पहनाकर सिंहासन पर विराजमान किया था। आपको इन दोनों अवस्थाओं में से कौन-सी अवस्था अच्छी लगती है ?

'हथकड़ी—बेड़ी वाली !'

भाइयो, तप दुर्लभ है। न मालूम उसका तप कितने महत्त्व का था कि उस अवस्था में भी उसे आनन्द का ही अनुभव हुआ। वह समझती थी कि धर्म की सजा भुगतने में तो आनन्द ही है ! पश्चात्ताप तो तब हो जब मैं पाप की सजा भुगतूँ !

यह भावना और दया आपमें कहाँ है ? इसीलिए तो अमीरों और गरीबों के बीच दीवाल खड़ी है। इसी कारण तो अमीर लोग गरीबों पर निर्भर होते हुए भी उनके सुख-दुख की परवाह नहीं करते !

परिग्रह में आदि से ही पाप है। इस पाप को मिटाने के लिए ही महापुरुषों ने परिग्रह के त्याग की कथा बनाई है। श्रीकृष्ण में ऐसी शक्ति थी कि वे गर्भ में रहे हुए कंस को मार सकते थे। फिर भी वे ग्वालों के साथ रहे, ग्वालों का काम करते रहे, ग्वालों के वस्त्र पहनते रहे। इसका उद्देश्य क्या था? सादगी का महत्त्व प्रकट करने के लिए ही उन्होंने ऐसा किया। उन्होंने समाज में बड़े समझे जाने वालों का सम्पर्क गरीबों के साथ कर दिया। गरीब-अमीर के बीच की दीवाल तोड़ दी और यह दिखा दिया कि सादगी में ही धर्म है। इसी लिए कवियों ने उनके स्तोत्र बनाये हैं। एक कवि कहता है—

मोर मुकुट सिर पर धरें, उर गुंजन की माल।
या छवि मेरे उर बसो, सदा बिहारीलाल ॥

कवि बिहारीलाल कहते हैं—मेरे हृदय मे वही वेष बसा रहे जिसमें सिर पर मोर-पंख का मुकुट है, गले में चिर्मियों की माला है और कमर में लंगोटा है।

कवि ने यहाँ उस रूप की कामना की है जिसके लिए धन की आवश्यकता नहीं होती। उसने धनिकों के वेष की कामना नहीं की। श्रीकृष्ण ने धनिकों और गरीबों के बीच की दीवाल तोड़ने के लिए ही यह चरित रचा था।

श्रीमंतों और गरीबों के बीच की दीवाल तोड़ने वाले महापुरुषों में भगवान् ऋषभदेव सब से प्रथम हैं। उन्होंने उस समय के निरुद्यम लोगों से कहा था कि कल्पवृक्ष की

आशा छोड़कर उद्योगी बनो। उन्होंने स्वयं कला और विज्ञान द्वारा लोगों को स्वावलम्बी बनना सिखलाया था। इसी से प्रजा स्वतंत्र जीवन का लाभ लेने वाली बन सकी। उन्होंने अपने लम्बे जीवन का एक बड़ा भाग प्रजा के नैतिक जीवन का सुधार करने मे लगाया। जब वे नैतिक जीवन की शिक्षा दे चुके तो बाद मे उन्होंने धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन का पाठ पढ़ाया। नैतिक जीवन के अभाव मे धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। इसी कारण भगवान् ने धार्मिक जीवन की शिक्षा देने से पहले जीवन को नीतिमय बनाने की शिक्षा दी थी। आध्यात्मिक जीवन ऊँचा अवश्य है पर उसका आधार तो नैतिक जीवन ही है!

धन्ना सेठ ने ढिंढोरा पिटवा दिया था कि जिसके पास कपड़ा, भोजन, पूंजी या सवारी न हो, वह मुझ से ले ले। मेरे साथ जो चलना चाहे, चल सकता है। परदेश मे जो खर्च होगा, मेरा होगा और जो आमदनी होगी, कमाने वाले की होगी। ऐसा करने से गरीब-अमीर के बीच की दीवाल टूटी या मज़बूत हुई?

इसलिए मानतुंगाचार्य कहते हैं—'प्रभो! आपकी कथा का रहस्य समझने वाले के भी पाप धुल जाते हैं।' अगर आप अपने पाप धोना चाहते हैं तो आप भी गरीबों की सुध लीजिए। एक गरीब आपके पास भूख का मारा तड़फड़ाता रहे और आप बादामपाक उड़ाता रहे, दूसरा कड़ाके की सर्दी में

सिकुड़ता और काँपता रहे और आपकी पेटियाँ कपड़ों से भरी पड़ी रहें, यह कितनी घोर निष्ठुरता है ? ऐसा निष्ठुर व्यक्ति कभी दयाधर्म पा सकता है ?

'नहीं !'

आश्चर्य की बात तो यह है कि आजकल के कतिपय धर्म-गुरु कहलाने वाले लोग भी यह शिक्षा देते हैं कि तुम तो मौज़ करो और दूसरे मरते हैं तो उन्हें मरने दो। उनका कथन है कि जो मोटर या बग्घी में बैठा है वह पुण्यवान है और जो थका हुआ पड़ा है वह पापी है। पापी अपने कर्म खपाता है। उसे सहायता देकर कर्म खपाने में बाधा क्यों पहुँचाते हो ? कैसी अनोखी शिक्षा है ? ऐसे पाखंडों को चलते भी देखोगे और डूबते भी देखोगे। वास्तविक बात तो यह है कि जिसका नैतिक जीवन पतित है उसका आध्यात्मिक जीवन ऊँचा हो ही नहीं सकता। अतएव जीवन को नीतिमय बनाओ। हृदय में दीन-दुखियों के प्रति प्रेम रक्खो, सत्य का आचरण करो, सादगी से रहो और परमात्मा की कथा का स्मरण करो।

अपने संघ को साथ लेकर जब धन्ना सेठ व्यापार के लिए जा रहे थे, तब एक मुनि ने कहा—इस जंगल को पार करने के लिए हम भी तुम्हारे साथ चलते हैं। धन्ना सेठ ने कहा—अवश्य चलिए। आपके साथ चलने से बढ़कर बात और क्या होगी। मेरा अहोभाग्य है कि आप साथ चल रहे हैं।

जंगल मे सेठ ने अपने सब साथियों की रक्षा की। सब को अपने खेमे मे रक्खा। सब की सार-सँभाल की। परन्तु मुनि गुफा मे बैठे थे, इस कारण धन्ना सेठ उनकी सँभाल नहीं कर सके। इस कारण रात भर उन्हे मुनि की चिन्ता लगी रही। प्रात काल होते ही सेठ, मुनि के पास पहुँचे और आँखों मे आँसु भर कर उनसे क्षमाप्रार्थना करने लगे। मुनि ने कहा—हम तेरी सहायता से बड़े मजे मे आये है। तू चिन्ता क्यों करता है ?

इन मुनि की सेवा के प्रभाव से धन्ना सेठ ने तीर्थंकर गोत्र की नींव डाल ली।

मित्रो ! उनकी यह कथा पाप को हरण करेगी या नही ? आप गरीबो की ओर ध्यान दो और ऐसा उपाय करो कि कोई भूखों न मरे। गरीबों में आज जो अशक्तता है वह आप लोगों में सादगी न होने के कारण है। आप सादगी को अपनाएँ तो गरीबो की दुर्दशा बहुत कुछ दूर हो सकती है। ऐसा करने पर ही परमात्मा की भक्ति सार्थक होगी। प्रभु की कथा का यही आदेश है। प्राणीमात्र के सुख के लिए यत्नशील होना और स्वार्थभावना का परित्याग कर देना ही परमात्मा की भक्ति करना है। ऐसा करने वाले निष्पाप और निस्ताप बनते हैं।

बीकानेर,
१२-८-३० }

नात्यद्भुत भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्त ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रित य इह नात्मसम करोति ॥१०॥

अर्थ—हे लोक के भूषण ! हे प्राणियों के नाथ ! आपके वास्तविक गुणों के द्वारा आपकी स्तुति करने वाले भक्त आपके ही समान हो जाते हैं, यह कोई अद्भुत बात नहीं है। आखिर उस स्वामी से लाभ ही क्या है जो अपने आश्रित जन को अपने समान वैभव वाला नहीं बना देता है !

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीय,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षु ।
पीत्वा पय शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धो.,
क्षार जल जलनिधेरसितुम् क इच्छेत् ॥११॥

अर्थ—प्रभो ! आप टकटकी लगाकर देखने योग्य हैं। आपको देख लेने के बाद भक्त के नेत्र किसी दूसरे को देखकर संतोष नहीं पाते। चन्द्रमा की किरणों के समान धवल क्षीरसागर का जल पी लेने के पश्चात् साधारण समुद्र का जल कौन पीना चाहेगा ?

(क)

हे भुवनभूषण ! हे भूतनाथ ! मुझे इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि आपके गुणों का अभ्यास करने वाला, आपके गुणों मे तल्लीन हो जाने वाला, और आपका स्मरण करने वाला आप सरीखा ही हो जाता है। ऐसा होना कोई अद्भुत बात नहीं है। संसार में भी देखा जाता है कि लक्ष्मीवान् की सेवा करने वाले को लक्ष्मीवान् अपना-सा बना लेता है। फिर जो तेरा भजन करके तेरी शरण मे आए, वह अगर तेरे ही समान बन जाए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

समुद्र में पड़े हुए को जब कोई आधार न मिल रहा हो, तब अचानक ही अगर नौका का आश्रय मिल जाय तो उसके आनन्द का पार नहीं रहता। वह नौका पाकर अत्यन्त प्रसन्न होता है। इसी प्रकार भवसागर में पड़े हुए प्राणियों के लिए परमात्मा परम आधार है और भक्त जन इस आधार को पाकर असीम और अनिर्वचनीय आनन्द अनुभव करते हैं!

किसी सेठ की सेवा करने पर सेठ सेवक पर प्रसन्न होकर उसके दारिद्र्य दूर कर देता है। सेठ की सच्ची सेठाई इसी में है कि वह अपने उपकारक या सहायक के उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे और उसे अपना-सा बना ले। जो सेठ अपने सेवक की सम्पूर्ण शक्तियों को अपने हित मे प्रयुक्त करता रहता है, उसके द्वारा धन-दौलत, यश, प्रतिष्ठा आदि

प्राप्त करता है, किन्तु उस सेवा का बदला अपनी ओर से उचित रूप में नहीं देता, उसे कृतज्ञ या कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं कहा जा सकता। सच्चा श्रीमान् ऐसा नहीं करेगा।

इसी प्रकार ग्रामस्वामी, देशस्वामी और चक्रवर्ती की सेवा से अधिक-अधिक लाभ होता है। चक्रवर्ती की सेवा करने पर चक्रवर्ती राजा का भी पद दे देता है। और चक्रवर्ती भी अपने राज्य की उन्नति की आशा से इन्द्र की सेवा करता है। अर्थात् चक्रवर्ती भी इन्द्र की आशा रखता है और हे प्रभो! इन्द्र भी तेरा दास है। ऐसी स्थिति में अगर मुझे आप मिलगये तो फिर क्या प्राप्त करना शेष रह गया?

गरीब लोग सेठ की सेवा करते हैं और सेठ ग्रामधनी की सेवा करता है। वह जानता है ग्रामधनी ग्राम का स्वामी है। मेरा वैभव उसी के अनुग्रह पर निर्भर है। वह चाहेगा तो रह सकूँगा, नहीं चाहेगा तो गाँव छोड़कर भागना पड़ेगा। ऐसा सोचकर सेठ, ग्रामधनी की सेवा करता है। और ग्राम-धनी, देशधनी की सेवा करता है। देशधनी चक्रवर्त्ती की आशा रखता है और सोचता है कि चक्रवर्त्ती की कृपा रहने पर ही मैं राजा रह सकता हूँ। मगर चक्रवर्त्ती भी देव की आशा रखता है। वह समझता है कि मेरा अखंड एकछत्र राज्य दैवी कृपा पर ही निर्भर है। दैवी कृपा से अनायास ही जो कार्य हो जाता है वह दैवी कृपा के अभाव में बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी नहीं हो सकता। इस कारण चक्रवर्त्ती,

इन्द्र की आशा रखता है। और चक्रवर्त्ती का आराध्य देव-राज इन्द्र भी तेरी आराधना में ही अपनी कृतार्थता समझता है। और सब तो भौतिक लालसा से एक-दूसरे की सेवा करते हैं, परन्तु इन्द्र को भगवान् से क्या लालसा पूरी करनी है? प्रभो! इन्द्र किस आशा से तेरी सेवा करता है?

इन्द्र भगवान् की सेवा करता है, इस बात पर विचार करने से विदित होता है कि इन्द्र बन जाने पर भी और इन्द्र की सेवा करने पर भी आत्मा सनाथ नहीं हो सकता। इन्द्र स्वर्ग का स्वामी है, देवगण का राजा है, लोकोत्तर शक्तियों का निधान है, अनुपम वैभव उसे प्राप्त है, फिर भी वह सनाथ नहीं है। जब इन्द्र की आयु पूर्ण हो जाती है और वह अपने पद से च्युत होता है तो उसे आधार देने वाला दूसरा कोई नहीं है। इन्द्राणी अपने स्वामी की रक्षा नहीं कर सकती। सामानिक देव, लोकपाल या आत्मरक्षक देव देखते रह जाते हैं, मगर इन्द्र को गिरने से नहीं बचा सकते। उस समय इन्द्र भी अनाथ हो जाता है। जो अपने कृपाकटाक्ष से एक दिन दूसरों को निहाल कर देता था, काल आने पर उसे कोई बचा नहीं सकता और न वह आप ही बच सकता है। इसी कारण इन्द्र भी कालविजेता परमात्मा की शरण में जाता है। परमात्मा की शरण ग्रहण करने के पश्चात् काल का जोर नहीं चलता।

इस प्रकार इस विशाल विश्व में एक पर दूसरे की सत्ता

चल रही है, परन्तु एक सत्ता वह है जिस पर किसी की सत्ता नही चलती। उस सत्ता का आश्रय समस्त दु.खों का अन्त करने वाला है। वह स्वतः मगलमयी सत्ता अपने आश्रित को मंगलमय बना लेती है। वह सत्ता क्या है?

अनन्त जिनेश्वर नित नमूं,
अद्भुत ज्योति अलेख।
ना कहिये ना देखिये,
जाके रूप न रेख ॥ अनन्त० ॥

यहाँ भगवान् अनन्तनाथ को नमस्कार किया गया है। भगवान् को चाहे अनन्तनाथ कहो, चाहे आदिनाथ कहो, बात एक ही है। भक्तामरस्तोत्र मे ही इसका स्पष्टीकरण कर दिया गया है:—

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यम्,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥

अर्थात्—हे प्रभो! संत पुरुष अनेक नामों से तेरी उपासना करते हैं। कोई तुझे अव्यय (अच्युत) कहता है, कोई विभु, अचिन्त्य, असंख्य, आद्य, ब्रह्मा, ईश्वर, अनन्त, अनंगकेतु, आदि नामों से तुझे पुकारता है। मगर तू वास्तव में एक है। इन सब नामों मे तेरी ही शक्ति व्याप्त है। परमात्मा के वाचक सभी शब्द तेरे ही गुणों पर प्रकाश डालते हैं।

वह परमात्मशक्ति बड़ी अद्भुत है। न आँख उसे देख सकती है, न जिह्वा उसे कह सकती है। वहाँ किसी इन्द्रिय की पहुँच नहीं हो पाती।

प्रश्न हो सकता है—जब वह शक्ति इतनी अगम अगोचर है तो हमें उसका पता किस प्रकार लग सकता है ? हम उसे कैसे ध्यान में लावें ?

आज संयोगवश शरद्पूर्णिमा है ? ग्रंथों में आज की पूर्णिमा की बड़ी महिमा गाई गई है। ग्रंथों के कथनानुसार आज वनस्पति मे रस आता है। आज आपके अन्तःकरण में भी ऐसा रस उत्पन्न होना चाहिए, जिससे लोहा भी कंचन बन जाता है। इस रसायन को बनाने के लिए मेरी बात पर ध्यान दो। अगर आपने ध्यान दिया तो रसायन अवश्य बनेगी।

जो शक्ति आँखों से देखी नहीं जा सकती और जिसका वाणी द्वारा वर्णन नही हो सकता, उस पर विश्वास हुआ, वह शक्ति आपके ध्यान मे आ गई तो आपके भीतर एक अभूतपूर्व और अद्भुत शक्ति पैदा होगी। वही शक्ति तो रसायन है ! उसे देखकर कह नहीं सकते फिर भी उसकी सत्ता अखंड और अबाधित है। दृश्य शक्ति में अदृश्य शक्ति काम करती है। उस अदृश्य शक्ति को पहिचान लो तो बस रसायन बन गई। लेकिन उस शक्ति की ओर आपका ध्यान नहीं जाता। आपकी आत्मा तो इन्द्रियों का खेल देखने में ही लगी

रहती है। उसे उस अदृश्य सत्ता को पहिचानने का अवकाश नही मिलता। फिर वह ज्ञान में आवे कैसे ? अदृश्य शक्ति को जानने के लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक सेठ कलकत्ता में है और सेठानी घर पर है। सेठ कलकत्ता में धन कमाता है और सेठानी बीकानेर में, अपनी हवेली में बैठी रहती है। फिर भी सेठ की कमाई में सेठानी की शक्ति कुछ काम करती है या नहीं ?

'करती है !'

सेठानी कमाई के लिए कोई काम करती हो, यह नही देखा जाता और न सेठानी की शक्ति ही देखी जाती है, फिर कैसे मान लिया कि सेठानी की शक्ति कलकत्ते मे भी अदृश्य रूप में काम करती है ?

आप यहाँ बैठे है। आपको मालूम नहीं कि मेरे घर खाने को क्या बना है। लेकिन आप भोजन करने बैठे और मेवे की खिचड़ी आपके सामने आई, जो आपको प्रिय लगी। अब आप विचार कीजिए कि आपकी शक्ति ने मेवे की खिचड़ी बनाने मे कुछ भाग लिया है या नही ?

'लिया है ''

इष्ट गंध, इष्ट रस और इष्ट स्पर्श आदि विषय पुण्य के प्रभाव से प्राप्त होते हैं। वह पुण्य क्या है ? आपका पुण्य आपकी ही शक्ति है, जिसके द्वारा नाना देशों में आपके लिए नाना प्रकार के उपभोग के योग्य पदार्थ तैयार होते हैं। जिस

पदार्थ से आपकी शक्ति ने काम नहीं किया होगा वह आपको मिल ही नहीं सकता। मगर देखना तो यह चाहिए कि वह किस प्रकार अपना काम करती है। इन उदाहरणों के आधार से अदृश्य शक्ति को पहचानने का प्रयत्न करो और कहो—

अनन्त जिनेश्वर नित नमू ,
अद्भुत ज्योति अलेख ।
ना कहिये ना देखिए,
जा के रूप न रेख ॥

मैं अनन्तनाथ या आदिनाथ भगवान् की जिस शक्ति के विषय में कह रहा हूँ, वह अनन्त है। आपकी शक्ति का अन्त है, मगर उस शक्ति का अन्त नहीं है। वह काल से अनन्त है और परिमाण से भी अनन्त है। ऐसी शक्ति कितनी अद्भुत होगी, जरा इस बात पर विचार कीजिए। अपने मन को उस शक्ति की ओर खींच ले जाइए।

उस शक्ति की ओर मन की गति किस प्रकार हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर शब्दों द्वारा देना कठिन नहीं है, यद्यपि उन शब्दों के अनुसार साधना करने मे कठिनाई हो सकती है। पर वह कठिनाई आरम्भ मे ही मालूम होगी, आगे नही। आलस्य से यह काम न होगा। वह शक्ति तुम्हारे उद्योग और तुम्हारी निष्ठा मे है। शुद्ध निष्ठा रखकर उद्योग मे लगने से ही उस शक्ति के दर्शन हो सकते हैं।

भारत में अंगरेजी राज्य के संस्थापक लार्ड क्लाइव के

संबन्ध में एक बात सुनी थी। उसने एक बार ढाका के नवाब से मिलने की इच्छा प्रकट की। नवाब ने मिलने का समय दिया और साथ ही कहला भेजा कि तुम्हें नीचे खड़ा रहना पड़ेगा। क्लाइव ने उत्तर दिया—मुझे जहां खड़ा करोगे वहीं खड़ा रह जाऊँगा।

नवाब ने क्लाइव से मिलने की तैयारी की। उसने अपने गुलामों को अच्छी पोशाक पहनाकर कतार में खड़ा किया। गुलाम नियमानुसार हाथ बांध कर और सिर नीचा करके खड़े हो गये। क्लाइव को नीचे स्थान पर बिठलाया गया और नवाब साहब रौब के साथ तख्त पर विराजमान हुए।

नवाब की धारणा थी कि जिसके पास जितने ज्यादा गुलाम हों, वह उतना ही बड़ा आदमी होता है। अतएव नवाब ने क्लाइव से पूछा—तुम्हारे बादशाह के यहां कितने गुलाम हैं?

क्लाइव—गुलाम है ही नहीं।

नवाब—तुम्हारा बादशाह इतना बड़ा है और गुलाम हैं ही नहीं?

क्लाइव ने अपना विचार पलट कर कहा-नहीं, हैं तो सही।

नवाब—कितने है?

क्लाइव—उनकी कोई निश्चित संख्या नहीं है।

नवाब—परस्पर विरोधी बातें कैसे कह रहे हो?

क्लाइव—समझ में फर्क है, बातें विरोधी नहीं हैं।

नवाब—समझ में फर्क कैसा?

क्लाइव—हमारे बादशाह के यहाँ गुलाम तो हैं, पर जिस्म के नहीं, दिल के गुलाम हैं।

नवाब को कुछ नवीनता मालूम हुई। उसने पूछा—क्या मतलब है ? दिल के गुलाम कैसे होते है।

क्लाइव—जिस्म का गुलाम गुलामी के बदले में धन चाहता है और वह तभी तक गुलाम रहता है जब तक उसे रकाबियों में अच्छा खाना मिलता रहता है। लेकिन दिल का गुलाम ऐसा है कि गुलामी छोड़ देने के लिए उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाएँ तो भी वह अपने मालिक से नहीं बदलता। उन्हीं गुलामों मे से एक मैं भी हूँ।

मित्रो ! आपको भी उस अदृश्य शक्ति के इसी प्रकार के दास बनना चाहिए। कहा गया है—

दीनदयाल दीनबन्धु के।
खानाजाद कहास्या राज ॥
तन धन प्राण समर्पी प्रभु ने।
इन पर वेगि रिझास्या राज ॥
आज म्हारा सभव जिनजी रा।
हित चित से गुण गास्या ॥राज०॥

परम प्रभु के ऐसे गुलाम बनो तो संसार तुच्छ जान पड़ेगा और प्राण जाने पर भी स्वामी से विमुख न होओगे। हृदय मे परमात्मा का वास होते ही रस का ऐसा प्रवाह बहने लगेगा मानो शरद्पूर्णिमा के चन्द्र का रस आपके ही हृदय में

आ गया है। मगर विश्वास का होना अत्यन्त आवश्यक है।

महाभारत के अनुसार अर्जुन और दुर्योधन श्रीकृष्ण को अपनी-अपनी ओर से युद्ध मे सम्मिलित होने का निमंत्रण देने गये थे। कृष्ण उस समय सो रहे थे। उन्हे जगाने का तो किसी में साहस नहीं था, अतएव दोनों उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगे। अर्जुन में कृष्ण के प्रति सेवकभाव था, अतएव उसने उनके चरणों की ओर खड़ा रहना उचित समझा। वह चरणों की ओर ही खड़ा हो गया। दुर्योधन मे अहंकार था। वह सोचता था—मै राजा होकर पैरों की ओर कैसे खड़ा रह सकता हूँ ? इस अभिमान के कारण वह कृष्ण के सिर की ओर खड़ा हुआ। कृष्ण जागे। कोई भी मनुष्य जब सोकर उठता है तो स्वाभाविक रूप से पैरों की ओर वाले मनुष्य के समीप और सिर की ओर वाले मनुष्य से दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त पहले उसी पर दृष्टि पड़ती है जो पैरों की ओर खड़ा होता है। इस नियम के अनुसार अर्जुन, कृष्ण के नज़दीक हो गये और अर्जुन पर ही उनकी दृष्टि पहले पड़ी।

दुर्योधन पश्चात्ताप करने लगा कि सिर की तरफ क्यों खड़ा हो गया ! हाय ! मै पैरों की तरफ क्यों नहीं खड़ा हुआ ! अर्जुन, कृष्ण से पहले मिल रहा है। कहीं ऐसा न हो कि वे उसका साथ देना स्वीकार कर लें। मैने इतनी दौड़-धूप की। कहीं ऐसा न हो कि मेरा आना वृथा हो जाय !

इस प्रकार सोचकर दुर्योधन ने किसी संकेत द्वारा कृष्ण पर अपना आना प्रकट कर दिया।

अर्जुन के प्रणाम करने पर श्रीकृष्ण ने आने का कारण पूछा। अर्जुन ने कहा—कौरवों के साथ युद्ध होना निश्चित हो चुका है। अतएव मैं आपको युद्ध का निमंत्रण देने आया हूँ।

श्रीकृष्ण—मुझे जो आमन्त्रित करे, मैं उसी के यहाँ जाने को तैयार हूँ। लेकिन दुर्योधन भी आया है। उसे भी निराश करना उचित नहीं होगा। इसलिए एक ओर मैं हूँ और दूसरी ओर मेरी सेना है। दोनों में से जिसे चाहो, पसंद कर लो।

अर्जुन को श्रीकृष्ण पर विश्वास था। उसने कहा—मैं आपको ही चाहता हूँ।

अर्जुन की माँग सुनकर दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ। वह मन में सोचने लगा—मेरा भाग्य अच्छा है, इसी कारण तो अर्जुन ने सेना नहीं मांगी। युद्ध में तो आखिर सेना ही काम आएगी। अकेले कृष्ण क्या करेंगे ?

अर्जुन के बाद दुर्योधन की बारी आई। उससे भी आने का प्रयोजन पूछा गया। दुर्योधन ने भी यही कहा कि मैं भी युद्ध का निमंत्रण देने आया हूँ। श्रीकृष्ण ने कहा—ठीक है। एक ओर मैं और दूसरी ओर मेरी सेना। अर्जुन ने मुझे मांग लिया है। तुम क्या चाहते हो ?

दुर्योधन मन में सोच रहा था कि मैं अकेले कृष्ण को लेकर क्या करूँगा ? मुझे तो सेना चाहिए जो काम आएगी।

मगर प्रकट रूप में वह ऐसा नहीं कह सका। उसने कहा— जिसे अर्जुन ने मांग लिया है उसे मांगने से क्या लाभ? मांगी हुई चीज़ को फिर मांगना क्षत्रियों का काम नहीं है। अतएव आप अपनी सेना मुझे दे दीजिए।

कृष्ण बड़े चतुर थे। दुर्योधन की समझ पर मन ही मन वह हँसे और सोचने लगे—दुर्योधन को मुझ पर विश्वास नहीं है, मेरी सेना पर विश्वास है! आखिर उन्होंने कहा— अर्जुन मैं तुम्हारा हूँ और दुर्योधन! सेना तुम्हारी है।

अर्जुन को कृष्ण पर और दुर्योधन को सेना पर विश्वास था। फल क्या हुआ? गीता के अन्त में कहा है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं—आप युद्ध के विषय में क्या पूछते है? यह निश्चित समझिए कि जिस ओर योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर अर्जुन हैं, विजय उसी पक्ष की होगी। विरोधी पक्ष को विजय मिलना असंभव है।

गीता की आलंकारिक भाषा में उलझा रहने वाला यही समझेगा कि गीता लड़ाई के लिए उत्साहित करने वाली पुस्तक है। लेकिन अलंकारों के आवरण को दूर करके उसके तथ्यों को समझने वाला ही उसके मर्म को समझ सकता है। गीता अगर सिर्फ महाभारत युद्ध के लिए ही थी तो अब किस काम की? और लड़ाई कराने वाली पुस्तक को हाथ में लेने की आवश्यकता ही क्या है? मगर बात ऐसी नहीं है।

सम्यग्दृष्टि के साथ उसे समझने का प्रयत्न करने पर उसमे कई खूबियां मिलती हैं।

शास्त्र वह है जिसके सुनने पर आत्मा मे नवीन ज्योति जागृत होती है। जिसके सुन लेने पर भी नवीन ज्योति नही जागती, उसे सुनो भले ही, पर ज्योति जागने पर कुछ निराली ही बात होती है।

गांधीजी ने गीता की अन्तिम टिप्पणी मे लिखा है—योगेश्वर कृष्ण का अर्थ है, अनुभवसिद्ध शुद्ध ज्ञान और अर्जुन का आशय है—उस शुद्ध ज्ञान के अनुसार की जाने वाली क्रिया। थोथा ज्ञान काम का नही। थोथी क्रिया भी निकम्मी है। अनुभवसिद्ध शुद्ध ज्ञान से युक्त शुद्ध क्रिया ही सुफलदायिनी होती है। जहा दोनों का समन्वय है, वहाँ सिद्धि हाथ बांधे खड़ी रहती है।

श्रीकृष्ण ने कहा था—हम शस्त्र नही उठाएँगे, केवल ज्ञान देंगे। इसका अर्थ यही है कि ज्ञान प्राप्त करके क्रिया करने से ही सिद्धि प्राप्त होती है।

हत ज्ञान क्रियाहीन, हता चाज्ञानिना क्रिया।

क्रिया से शून्य ज्ञान और ज्ञान से शून्य क्रिया-दोनों बेकार हैं। सारांश यह है कि उस अदृश्य शक्ति पर विश्वास रखकर निष्काम भाव से ज्ञानयुक्त क्रिया करोगे तो बेड़ा पार हुए विना नही रहेगा।

(ख)

आचार्य मानतुंग कहते हैं—हे भुवनभूषण ! मुझे इस बात में कोई आश्चर्य नहीं जान पड़ता कि आपकी स्तुति करने वाला आप जैसा बन जाता है। ऐसा होना तो स्वाभाविक है। या तो अनहोनी बात हो जाने पर आश्चर्य होता है या जिससे जो काम होना संभव न प्रतीत होता हो, फिर भी वह उसे कर डाले। विनीत पुत्र पिता की और पतिव्रता स्त्री पति की सेवा करे तो आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो तब है, जब अविनीत पुत्र पिता की और असती स्त्री पति की सेवा करे ! इस कथन के अनुसार परमात्मा के गुणों का स्तवन करने से, स्तवन करने वाला अगर स्वयं परमात्मा बन जाता है तो आश्चर्य ही क्या है !

प्रश्न किया जा सकता है—परमात्मा अनादि और अनंत है। ऐसी स्थिति में परमात्मा के गुणों का स्तवन करने वाला परमात्मा किस प्रकार बन सकता है ? क्या आत्मा में ऐसे गुण हैं कि वह परमात्मा के साथ एकाग्रता साध कर परमात्मा बन जाए ? आत्मा और परमात्मा जब अलग-अलग हैं तो आत्मा का परमात्मा बन जाना अचरज की बात क्यों नहीं है ?

जब तक वस्तु का ठीक-ठीक स्वभाव मालूम नहीं होता तब तक भ्रम बना ही रहता है। परन्तु गम्भीर विचार करके

वस्तुस्वरूप समझ लेने पर भ्रम हट जाता है। आत्मा और परमात्मा के विषय में पहली बात यह समझ लेना आवश्यक है कि वास्तव में दोनों मे कोई मौलिक अन्तर नही है। मै अनेक बार कह चुका हूँ कि आत्मा जब तक आवरणों से लिपटा है, जब तक इसकी अनन्त शक्तियाँ कुंठित है, तब तक वह आत्मा है। आत्मा की सम्पूर्ण मलीनता हट जाती है, आत्मा अपनी शुद्ध दशा मे आ जाता है, तब उसमे 'परम' विशेषण लगा दिया जाता है। अर्थात् आत्मा परम-आत्मा—परमात्मा कहलाने लगता है। परमात्मा को अनादि मानना भ्रमपूर्ण है। अगर आत्मा लाख प्रयत्न करने पर भी परमात्मा नही बन सकता तो उसका पुरुषार्थ व्यर्थ ही सिद्ध होता है। अतएव यह निश्चित है कि आत्मा, परमात्मा के प्रति जब एकाग्र बन जाता है तो वह स्वयं परमात्मा का रूप धारण कर लेता है।

आप भोजन करते है। भोज्य पदार्थों मे किसी का नाम रोटी है, किसी का नाम भात है, किसी का और कुछ। इन भोज्य वस्तुओं को जब आप ग्रहण करते है तो वह शरीर का रूप धारण कर लेती है। पहले जो आहार के रूप मे थीं वही अब शरीर के रूप मे परिणत हो जाती है। शरीर मे भी उनके नाना रूप बनते हैं, जैसे रक्त, मज्जा हड्डी आदि। यह सब धातुएँ अन्न से ही बनी है। अन्न मे यह जो विलक्षण परिवर्तन हुआ है सो आपकी चैतन्यशक्ति के प्रताप से ही हुआ है। मुर्दे के पेट मे रोटी ठूंस दी जाय तो वह सड़-गल जायगी।

उससे रस, रक्त आदि नहीं बनेगा। चैतन्य शक्ति के संयोग से अन्न के द्वारा रक्त आदि धातुओं के निर्माण का कार्य प्रतिदिन, यहाँ तक कि प्रतिक्षण, होता रहता है। अपनी चेतना में ऐसी अद्भुत शक्ति है। मगर हम लोग इसका विचार ही नहीं करते कि चेतन आत्मा में कैसी-कैसी शक्तियाँ भरी हैं। रोटी से रक्त बनता है, इस बात को छोड़ कर अब आगे की बात पर विचार कीजिए। यह देखिए कि उस रोटी से आत्मा में कौन-कौन-सी शक्तियाँ निखरती हैं। दूध का आहार नहीं किया गया हो और वह पात्र में पड़ा हो तो जगत् के किसी भी वैज्ञानिक में यह शक्ति है कि वह उसे आँख के रूप में परिणत कर सके? जिन आखों से आप देखते हैं, उन्हें बनाने की किसी मे ताकत है? लेकिन आपका चिदानन्द नित्य ही बनाता रहता है।

जब आप चैतन्य शक्ति के द्वारा जड़ से भी सब काम करा सकते हैं, जड़ भी आपकी चेतन्य शक्ति से मिल जाता है और उस जड़ को भी आपके चैतन्य से शक्ति मिलती है। तो फिर क्या आश्चर्य है कि आत्मा, परमात्मा से लगकर परमात्मा बन जाता है? जब उस अन्न को आपकी आत्मा शक्ति प्रदान करती है तो आत्मा को परमात्मा शक्ति क्यों नहीं देगा?

मित्रो! संसार की समस्त शक्तियों से आपकी चैतन्य शक्ति बढ़कर है और अलौकिक है। जड़ शक्तियों को एकत्रित करके अगर आप चैतन्य शक्ति से तोलेंगे तो पता चलेगा कि अन्य

शक्तियाँ चैतन्य शक्ति के सामने कुछ भी नहीं हैं— नगण्य है।

डाक्टर नकली आँख बनाते हैं, लेकिन उससे दिखाई नहीं देता। परन्तु जिन आँखों से आप देख सकते हैं, जिनकी उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से, अन्न से, या माता-पिता के रक्त से हुई है, जो आँखे आपकी आन्तरिक शक्ति से बनी हैं, उन सरीखी आँखे कोई बना सकता है ?

'नहीं !'

चींटी और रेल में से किस की शक्ति अधिक है ?

'रेल की !'

क्योंकि आप समझते है कि रेल सवारी का काम देती है और हजारों मन बोझ खींचती है लेकिन चींटी तो बेचारी चींटी ही रही ! लेकिन यह उत्तर देते समय आपने अपनी बुद्धि का ठीक उपयोग नहीं किया। वास्तव मे जो शक्ति चींटी में है वह रेल मे कदापि नहीं हो सकती। रेल जड़ है। वह घुमाने से घूमती है, चलाने से चलती है। उसे चलाने के लिए पटरी, ड्राइवर आदि की आवश्यकता होती है और इंजिनियर उसे बनाता है। चींटी बिना किसी की सहायता के स्वयं ही दीवाल पर चढ जाती है और उतर आती है। क्या रेल इस प्रकार चढ़-उत्तर सकती है ?

'नहीं !'

तो फिर विचार करना चाहिए कि चींटी और रेल में स्वतंत्र शक्तिसम्पन्न कौन है ? आप परतन्त्रता के संस्कारों मे

पड़कर स्वतंत्रता को भूल गये हैं। मगर आप विचार करेंगे तो चींटी के सामने रेल तुच्छ दिखाई देगी। चींटी क्या-क्या करती है, किस-किस प्रकार से कैसी-कैसी बातों का पता लगाती है, और किस प्रकार संगठित होकर कार्य को सम्पादित करती है, इत्यादि बातों पर विचार करेंगे तो चींटी के सामने मनुष्य को भी लज्जित हो जाना पड़ेगा।

कहने का आशय यह है कि जब दूध का खून आदि बन जाता है तो यह सिद्ध है कि आत्मा में शक्ति है। प्रश्न यही है कि उस शक्ति का उपयोग कहाँ किया जाय? इस सम्बन्ध में विद्वानों और शास्त्रकारों का मत है कि जड़ पदार्थों के प्रति जो अहंकार है, उसे हटा लिया जाय और आत्मा की समस्त शक्ति उसे ऊर्ध्वगामी बनाने में ही लगाई जाय। ऐसा करने से आत्मा की शक्ति बढ़ेगी और वह परमात्मा बन जायगा।

कल एक सज्जन (श्री रामनरेश त्रिपाठी) के सामने मैंने टाल्सटाय का जिक्र किया। तब उन्होंने उसके जीवन की एक बात मुझे सुनाई। उसके पतित जीवन का उत्थान किस प्रकार हुआ, यह दिखलाने के लिए ही मैं उस घटना का उल्लेख कर रहा हूँ। टाल्सटाय का पतन इतना अधिक हो चुका था कि उसके कुकृत्यों की पराकाष्ठा हो चुकी थी। शायद ही कोई कुकर्म शेष रहा होगा, जिसका टाल्सटाय ने सेवन न किया हो। ऐसी पतित आत्मा एक वेश्या की घटना से जागृत हो उठी।

एक सुन्दरी कुवारी कन्या को टाल्सटाय ने धन का लोभ देकर भ्रष्ट किया था। वह उस समय युवक तो था ही, धन भी उसके पास चालीस लाख रूबेल का था और साथ ही सत्ता भी प्राप्त थी। एक रूबेल करीब डेढ़ रुपये के बराबर माना जाता है। टाल्सटाय राजघराने मे जन्मा था, अतएव अधिकार भी उसे प्राप्त था।

यौवनं धनसम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ?

जवानी, धन, अधिकार और अविवेक मे से कोई एक भी अनर्थ का कारण हो जाता है। जहाँ चारों मिल जाएँ वहाँ तो कहना ही क्या है ? यह चाण्डाल-चौकड़ी सभी अनर्थों का कारण बन जाती है। प्रथम तो युवावस्था को ही शान्तिपूर्वक बिताना कठिन है। फिर ऊपर से धन-सम्पत्ति और अधिकार मिल जाय तो उसकी अनर्थकरी शक्ति वैसे ही बढ़ जाती है, जैसे तीन इकाइयाँ मिल जाने पर एक सौ ग्यारह हो जाते है। इन तीनो के होने पर भी अगर विवेक हुआ तो वह इन्हे ठीक रास्ते पर लगा देता है। अगर अविवेक हुआ तो मत पूछिये बात ! फिर तो अनर्थ की सीमा नही रहती।

टाल्सटाय को तीनों शक्तियाँ प्राप्त थीं और ऊपर से अविवेक था। इस कारण उसने कुवारी कन्या को भ्रष्ट कर दिया। कन्या गर्भवती हो गई। घर वालों ने सगर्भा समझ कर उसे घर से निकाल दिया। कुछ दिन तक तो वह इधर-उधर भट-

कती रही, मगर दूसरा मार्ग न मिलने से उसने वेश्यावृत्ति अंगीकार कर ली। कहा है—

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपात, शतमुखः।

जो एक बार विवेक से भ्रष्ट हो जाता है उसका पतन होता ही चला जाता है। कोई भी स्त्री जब पतित होती है और उसकी पवित्रता मलीनता के रूप मे परिणत हो जाती है तो फिर उसके पतन का ठिकाना नहीं रहता। वेश्या के संबंध में भी यही वात है। वेश्या किन-किन नीच कार्यों में प्रवृत्ति नहीं करती, यह कहना कठिन है। इस वेश्या ने भी किसी धनिक को अपने चंगुल में फांस लिया और धन के लोभ में पड़कर उसे मार डाला। पुलिस ने पता लगा लिया और वेश्या अदालत में पेश की गई। संयोगवश उस अदालत का न्यायाधीश वही टाल्सटाय था, जिसने उसे भ्रष्ट किया था और जिसकी बदौलत उसे वेश्यावृत्ति स्वीकार करने के लिए वाध्य होना पड़ा था। वेश्या ने तो उसे नहीं पहचान पाया, मगर वह वेश्या को पहचान गया। टाल्सटाय ने उस वेश्या को धैर्य बन्धाकर हत्या के विषय में पूछा। वेश्या ने हत्या करने का अपराध स्वीकार करते हुए कहा—'मुझे एक पापी ने धन का लोभ देकर भ्रष्ट किया। उस समय मै अबोध थी और उस पाप के परिणाम को नहीं समझ सकी थी। इसी कारण मैं उसके चंगुल में आ गई। मै गर्भवती हुई। घर से निकाली गई। निरुपाय होकर मैने वेश्यावृत्ति स्वीकार कर

ली। एक दूसरी वेश्या की बातों में आकर धन के लिए मैंने इस धनिक की हत्या की।'

वेश्या का बयान सुनते-सुनते टाल्सटाय घबरा उठा। उसकी अन्तरात्मा प्रश्न करने लगी—इस हत्या के लिए कौन उत्तरदायी है—वेश्या या मैं? वास्तव मे इस पाप के लिए यह अपराधिनी नही है। अपराधी मैं हूँ।

लोग अपने अपराधों को छिपाना जानते है, उन्हें स्वीकार करना नही आता। इस अविद्या से आज संसार पतित हो रहा है।

टाल्सटाय अपने पाप की भीषणता का विचार करके इतने घबराये कि पसीने से तर हो गये। पास मे बैठे हुए दूसरे न्यायाधीश उसकी यह दशा देखकर आश्चर्य करने लगे। टाल्सटाय की परेशानी और घबराहट का कारण समझ में नही आया। टाल्सटाय ने अपना आसन छोड़ दिया। उनकी जगह दूसरा जज अभियोग का विचार करने के लिए बैठा। टाल्स-टाय ने जाते हुए अपने स्थानापन्न जज से कहा—किसी भी उपाय से इस वेश्या को फांसी से बचा लेना।

टाल्सटाय एकान्त मे जाकर जी भर रोये और अपने अप-राध के लिए पश्चात्ताप करने लगे। वह सोचने लगे—इस वेश्या के समस्त पापों का कारण मैं ही हूँ। वेश्या पापिनी नही, मैं पापी हूं। मैंने ही इसे पापकार्य मे प्रवृत्त किया है। ईश्वर का उपदेश दूसरी जगह नहीं, उन बन्धुओं से ही मिल

सकता है, जिन्हें हमने हानि पहुँचाई है। जिन्हें हमने हानि पहुँचाई है, वे हमारे विषय में क्या कहते होंगे? इस वेश्या ने यथार्थ ही कहा है।

अदालत ने वेश्या को साइबेरिया भेज दिया। साइबेरिया रूस का वह भाग है जो वहाँ का काला पानी समझा जाता है और जहाँ शीत अधिक पड़ता है।

टाल्सटाय सोचने लगे—वेश्या को तो दंड मिल गया। पर असली अपराधी बच गया। मगर दूसरे की निगाहों से बच गया तो क्या हुआ, मैं अपनी निगाह से कैसे बच सकता हूँ? टाल्सटाय नें साइबेरिया के अधिकारियों से मिल-जुल कर उस वेश्या को सहायता पहुँचाना आरंभ किया। उसने यह भी प्रबन्ध कर लिया कि वेश्या के समाचार उसे मिलते रहें। यद्यपि टाल्सटाय उसकी यथायोग्य सहायता कर रहा था, किन्तु किसी के पूछने पर वह यही उत्तर देती थी कि एक दुष्ट ने मुझे भ्रष्ट कर दिया था और उसी पापी का पाप मैं यहाँ भोग रही हूँ।

वेश्या के यह उद्गार टाल्सटाय को मालूम होते रहते थे। दूसरा होता तो कह सकता था—क्या मैं अकेला ही पापी हूँ? उसने भी तो पाप किया था। उस पापिनी की मैंने जान बचाई और सहायता भी कर रहा हूँ, इतने पर भी वह ऐसा कहती है! लेकिन इस घटना से टाल्सटाय की आँखे खुल चुकी थीं। वह उस वेश्या की बातें सुनकर पश्चात्ताप करते

और उसकी अधिकाधिक सहायता करते थे। वह सोचते-मेरा ही पाप उसके पास पहुँचकर ऐसा कहला रहा है। वह मुझे अपशब्द नहीं कहती वरन् मंगल-उपदेश दे रही है। धीरे-धीरे टाल्सटाय के जीवन में आमूल परिवर्त्तन हो गया।

संदेह किया जा सकता है कि कहीं गालियों से या वेश्या से भी उपदेश मिल सकता है? इसका उत्तर यही है कि हम सब में और वेश्या में मूल तत्त्व तो एक ही है। मगर उसे समझने के लिए गहराई में घुसना पड़ता है। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में भी मूल तत्त्व समान है। उसे खोज लेने, उस तक पहुँचने और प्राप्त करने के लिए जिस उपाय की आवश्यकता है, वह आचार्य मानतुंग ने प्रकट कर दिया है।

मित्रो! आप लोग दूसरों की बुराई देखना छोड़कर अपनी बुराइयाँ देखो। यह देखो कि आपने दूसरों को पतित ही किया है या किसी का उत्थान भी किया है? इस बात पर विचार करने से आपका उत्थान होगा। ईश्वर दूर नहीं है। जिनको तुमने पतित किया है, उनके अन्तःकरण से निकलने वाली ध्वनि अपने कानों से सुनो और सोचो कि वह तुम्हारे विषय में क्या कहते हैं?

टाल्सटाय ने वेश्या को भ्रष्ट किया था। अगर आपके जीवन में ऐसा कोई काला धब्बा नहीं है तो आप भाग्यशाली हैं! लेकिन दूसरे पदार्थों को तो आप भ्रष्ट करते ही हैं। यह

कपड़े जब तक आपने नहीं पहने थे, पवित्र माने जाते थे, मगर आपके पहन लेने पर यह निर्माल्य हो गये। इसी प्रकार आप स्वादिष्ठ और सुगंधित भोजन पेट में डालते हैं। मगर पेट में पहुँचकर उसकी क्या स्थिति हो जाती है? क्या आप पवित्र वस्तु को अपवित्र करने के लिए ही पैदा हुए हैं? मित्रो! दूसरे के कल्याण में अपना कल्याण मानने से आत्मा का उद्धार होने में देर नहीं लगती। इसलिए शास्त्र में कहा गया है—

परोपकाराय सतां विभूतयः।

अर्थात्—सत्पुरुषों की विभूतियाँ परोपकार के लिए होती हैं।

टाल्सटाय ने धीरे-धीरे ही सही, पर अपनी सम्पत्ति किस प्रकार परोपकार में लगाई, यह देखने योग्य है।

आप सदा माल खाते हैं। आपके खाने के समय एक दिन कोई भूखा आ गया और आपने उसे थोड़ा-सा दे दिया तो बुरा नहीं है, पर ऐसा करने में आपकी कोई विशेषता भी नहीं है। विशेषता तो तब है जब आप इस बात का विचार करें कि-'यह भूखा क्यों मर रहा है? एक जून का भोजन तो मैंने दिया है, पर इससे क्या इस की दरिद्रता जीवन भर की दूर हो जायगी? इसका यह दुःख किस प्रकार दूर हो सकता है? अगर आप इस प्रकार विचार करेंगे और आपके हृदय में थोड़ी-बहुत भी दयाभावना होगी तो आपका खाना-

पीना छूट जायगा और उनका दुःख दूर करने की चिन्ता लग जायगी। इसी प्रकार विचार कर बड़ी-बड़ी ऋद्धि वाले अपनी ऋद्धि छोड़ देते हैं। धन्नाजी बत्तीस कोटि दीनारों का त्याग करके मुनि बने थे। मुनि होने के बाद वे ऐसा भोजन करते थे जैसा गरीब से गरीब भी करना पसंद नहीं कर सकता। आज यह बातें आपको अद्भुत मालूम होती हैं और आपकी कल्पना में भी नहीं आतीं, लेकिन इन कथाओं पर विचार करो कि वे क्या संदेश देती हैं? उनसे क्या परिणाम निकलता है? बत्तीस कोटि दीनारों के स्वामी का भोजन कैसा रहा होगा? और अब वही दो दिन के बाद तीसरे दिन भोजन करते हैं और वह भी रूखा-सूखा, नीरस, बचा-खुचा, जिसे भिखारी भी खाना पसंद न करे। यह बात आज कल्पना में भी आती है? थोड़ी देर के लिए इसे कल्पना ही मान लो, फिर भी टाल्सटाय आदि के सिद्धान्तों पर दृष्टि डालते हुए विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह कल्पना भी कितनी सहृदयतापूर्ण, सत्य, शिव, सुन्दर और बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण है! लेकिन एक बात आप ध्यान में रखिए। कल्पना किसी सर्वथा असत् पदार्थ की नहीं की जाती। जो वस्तु किसी अंश में विद्यमान होती है, जिसका किसी रूप में सिलसिला चालू होता है, उसी की कल्पना की जाती है। कल्पना के लिए कोई आधार तो होना ही चाहिए। निराधार कल्पना संभव नहीं है। धन्ना (धन्यकुमार) मुनि

के इस चरित से प्रकट होता है कि उस समय अनेक महात्माओं ने आश्चर्यजनक सादगी धारण की थी।

राम ने जनक के घर और अपने घर कैसे-कैसे बढ़िया भोजन किये होंगे? परन्तु वनवास के समय वे अपने साथ कुछ ले गये थे?

'नहीं।'

उन्होंने वन में खट्टे-मीठे, कटुक-कसैले वनफल खाये थे। उन फलों को पकाने वाली सीता थी और लाने वाले लक्ष्मण थे। क्या आज के धनिक लोग इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकते हैं? आज तो ऐसी स्थिति की कल्पना मात्र से ही लोगों का गला सूखने लगता है।

राणा प्रताप अठारह वर्ष तक अपनी रानी और अपने बालबच्चों के साथ वन में भटकते रहे। जङ्गली अन्न और फलों से गुज़ारा करते रहे। उस रूखे-सूखे भोजन के समय भी जब शत्रु आ पहुँचते तो भोजन त्याग कर उनका सामना करते रहे। आज के लोग भोगों के कीड़े बन रहे हैं, इसी से उन्हें यह घटनाएँ कल्पित मालूम पड़ती हैं।

रामचन्द्र को वन के कटुक फल क्यों अच्छे लगे थे? क्या कारण था कि भरत और कैकेयी के अयोध्या लौटने के आग्रह को ठुकराकर उन्होंने वनवास के कष्टों को स्वेच्छापूर्वक अंगीकार किया? राम समग्र भारत के समक्ष एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे। इसी लिए उन्होंने हँसते-हँसते

संकटों का सामना किया। आज आप लोग चाहे जितनी कायरता दिखलाएँ, मगर इस भारतभूमि पर उन महात्माओं के चरण पड़ चुके है। अतएव भारत मे कब कौन-सी शक्ति आजाएगी, यह नही कहा जा सकता।

जैसे टाल्सटाय ने विचार किया था कि इस बाई को बिगाड़ने वाला कौन है, उसी प्रकार राम भी विचारते थे कि मेरी माता के पवित्र हृदय को बिगाड़ने वाला कौन है?

मै भी आपसे प्रश्न करता हूँ कि हिन्दुस्तान को बिगाड़ने वाला कौन है? अगर आप परावलम्बी जीवन का त्याग कर दें, स्वतंत्रजीवी बनें, फिजूल के खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने के चक्कर में न पड़ें तथा अपने कर्त्तव्य का विचार कर पालन करें तो देश में पाप आ सकता है?

'नही!'

कौन इस बात को अस्वीकार कर सकता है कि हमारे कर्त्तव्य न पालने से ही देश में पाप आ घुसा है?

राम ने विचार किया कि माता कैकेयी के मन मे यह भेद भाव क्यों आया कि राम हमारा बेटा नहीं है, भरत हमारा बेटा है, राम को राज्य मिलेगा तो कौशल्या प्रसन्न होगी और भरत को राज्य मिलेगा तो मै प्रसन्न होऊँगी!

आप कैकेयी को बुरी कह देने में देर नहीं लगाते, मगर राम ने उसे बुरी क्यों नहीं कहा, अगर यह समझ ले तो आप का दुःख ही मिट जाय। जिस दिन संसार राम के इस कार्य

का मर्म समझ लेगा उस दिन संसार स्वर्ग बन जायगा। राम अगर राम सरीखे ही न होकर जैसा आप सोचते हैं वैसे हो तो उनके राज्य को छीनने की किसी में शक्ति नहीं थी। कैकेयी को छोड़कर सभी उनके पक्ष में थे। राम कह सकते थे—'तुम स्त्री हो। घर का काम संभालो। राज्य हमारा है और हमारा ही रहेगा।' पर उन्होंने ऐसा नहीं कहा।

राम अगर भरत के लिए अपने अधिकार का राज्य न छोड़ते और अयोध्या में ही मौज उड़ाते रहते तो आज उनका नाम कौन लेता? मगर उन्होंने कैकेयी के हृदय को पहचाना और उसमें पैदा होने वाली दुई को भी समझ लिया। वह कहने लगे-जिस घर में मैं पैदा हुआ हूँ, उस घर में माता के हृदय में इस प्रकार के विचार उत्पन्न होना मेरा दुर्भाग्य है। माता की यह दुर्भावना मेरी तपस्या से ही दूर होगी। यहाँ के राज्य का कार्य तो भरत संभाल ही लेगा, मगर संसार की शुद्धि का काम मुझे ही करना होगा। अगर मैंने सादगी धारण न की, गरीबों के योग्य वस्त्र न पहने और गरीबों जैसा भोजन न किया तथा राजमहल को न त्यागा तो मेरे द्वारा गरीबों का कल्याण न होगा।

इन महान् आदर्शों पर ही टाल्सटाय आदि के विचार बने हैं। लेकिन हमारा देश कितनी पतन-अवस्था में पहुँच गया है कि इन कथाओं को ही असंभव मानता है!

राम को अगर रावण का पराजय ही करना अभीष्ट होता

तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वन मे जाने की क्या आवश्यकता थी ? अयोध्या मे रहते हुए ही उसे परास्त करने की तैयारी वे कर सकते थे। अयोध्या मे सेना सजाकर रावण पर चढ़ाई कर सकते थे और उसे जीत सकते थे। फिर ऐसा न करके वन में जाकर नगे पैर घूमने, वनफल खाने, सर्दी-गर्मी और वर्षा का कष्ट सहने, महल छोड़कर झाड़ों के नीचे सोने और कुटिया मे रहने की क्या आवश्यकता थी ? क्या राम को, जो राजकुमार थे और राज्य के उत्तराधिकारी थे, ऐसा करना शोभा देता है ? पर इसका रहस्य तो वही समझ सकता है जिसने शुद्ध चित्त से मनन किया हो। दुखी जीवन में किस प्रकार उत्थान भरा है यह देखने के लिए राम का जीवन स्वच्छ दर्पण है। वे लोगों को त्याग की महिमा दिखलाना चाहते थे और अपनी जीवनी से ही बतलाना चाहते थे कि जो काम शस्त्रों से भी संभव नहीं है वह त्याग के प्रभाव से सहज ही हो सकता है। राम ने बड़ी खूबी के साथ यह दिखला दिया है।

राम की महिमा रावण को मारने से नहीं, त्याग के कारण है। वन-भ्रमण के कष्टों से उनका शरीर तो अवश्य दुबला हुआ होगा पर आत्मा तो उनका बलवान् ही हुआ। आत्मा को बलवान् बनाने की यह सीधी चर्या सिखाने से ही राम सब के हृदयेश्वर हुए हैं। अगर राम ने शस्त्रों से ही काम लिया होता तो वे चाहे बड़े-राजा हो जाते पर आज जैसे सब के

स्मरणीय बने हुए हैं, वैसे न हो सके होते।

भगवान् महावीर की तरफ खयाल करो। उन्होंने तप का कष्ट क्यों सहन किया? उन्हें कर्म ही खपाने थे तो कर्म खपाने के लिए शुक्लध्यान आदि साधनों को वे भलीभाँति जानते थे। मगर भगवान् ने व्यवस्थित रूप से धर्मशासन चालू रह सके, इस उद्देश्य से संघ की स्थापना की और संघ का उद्धार करने के लिए, जनता को सिखाने के लिए तप किया। इसी हेतु भगवान् ने पाँच मास और पच्चीस दिन के महान् उपवास के पारणे में उड़द के छिलके खाये। ऐसा करके उन्होंने तप, त्याग और सादगी का आदर्श स्थापित किया। ऐसी स्थिति में आप लोग सादगी न धारण करके मौज-शौक में रहते हुए ही धर्म माने तो कहना होगा कि अभी आप दया-धर्म से दूर हैं।

जो भावनाशील व्यक्ति संसार के दुःखों को अपना ही दुःख मानता है, उसे अपना व्यक्तिगत दुःख जान ही नहीं पड़ता। रोग होने पर आप दुर्गंधयुक्त और कड़ुवी दवाई गले के नीचे उतार जाते है। आप जानते है कि हमारे पेट मे रोग है और यह दवा हमे शांति पहुँचायगी। इसी विचार से आप दवा पी जाते हैं और वैद्य को पुरस्कार देते है। ऐसी ही बात महापुरुषों के कष्टसहन मे भी है। अन्तर है तो यही कि आप सिर्फ अपने ही दुःख को दुःख समझते हैं और महापुरुष संसार के दुःख को अपना दुःख मानते है। राम को अपनी माता का

हृदय शुद्ध करना था। महावीर स्वामी को साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का संघ चलाकर उनके दुःखों का अन्त करना था। धन्यकुमार (धन्ना) मुनि को दूसरे मुनियों के सामने आदर्श उपस्थित करना था। इसीलिए तो चौदह हजार मुनियों में यह बहुत उत्तम मुनि माने जाते थे।

मतलब यह है कि दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानकर उनकी सहायता करना और अपनी संकीर्ण वृत्तियों को व्यापक बना लेना ही आध्यात्मिक उत्कर्ष का उपाय है। आध्यात्मिक उत्कर्ष की चरम सीमा ही परमात्मदशा प्राप्त होना है। भगवान् की स्तुति और भावना से उसकी प्राप्ति होती है।

(ग)

स्तुतिकार ने भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए उन्हें भुवनभूषण और भूतनाथ कहकर संबोधित किया है।

भगवान् की स्तुति ऐसी प्यारी वस्तु है कि हार्दिक भावना के साथ उस पर विचार करने पर ऐसा आनन्द होता है कि कहा नहीं जा सकता। हृदय अपूर्व आनन्द का केन्द्र बन जाता है। हृदय की दुर्बलता भी उससे दूर हो जाती है।

शरीर के शृंगार के लिए बहुत से आभूषण पहिने जाते हैं। विशेषतया स्त्रियां हाथ, कान आदि अवयवों को सिंगारती हैं। यह भूषण शरीर के भूषण हैं और शरीर को सिंगारते हैं।

इसी प्रकार घर का भूषण घर को, कुल का भूषण कुल को, ग्राम का भूषण ग्राम को, नगर का भूषण नगर को और देश का भूषण देश को सिंगारता है। इसी तरह जो जगत् का भूषण है वह जगत् को सिंगारता है।

लोग अपने-अपने आभूषण से प्रेम करते हैं। गृहभूषण से गृहवालों का और राष्ट्रभूषण से राष्ट्र का प्रेम होता है। ऐसी दशा में विचारणीय बात यह है कि जो अखिल विश्व का भूषण है और जिसे हम इसी रूप मे मानते हैं, उससे किस प्रकार प्रेम किया जाय ?

अगर हम यह स्तुति हृदय से करते हों तब तो जगद्भूषण का विचार बहुत विशाल हो सकता है। मगर हम लोग यह भूल कर रहे हैं कि हम जगद्भूषण की स्तुति तो करते हैं किन्तु साथ ही उनके कामों का विरोध भी करते हैं। वास्तव में विश्व के कल्याण मे ही परमेश्वर का वास है। संसार के कल्याण की आन्तरिक कामना ही परमेश्वर का दर्शन कराती है। अगर हम हृदय से भुवनभूषण का स्मरण करें और उनके कामों में बाधा न डाले तो कोई त्रुटि ही न रह जाय।

आप जानना चाहते होंगे कि हम भुवनभूषण के काममें क्या बाधा डाल रहे है ? यह बतलाने के लिए मै संसार-व्यवहार संबंधी कामों मे से ही कुछ उदाहरण देता हूँ। उनसे आप समझ जाएँगे कि आप किस प्रकार बाधा डाल रहे हैं!

राजा आपको मुफ्त में बिजली दे दे तो आप अपना

गौरव समझेंगे। आपकी प्रसन्नता का पार नहीं रहेगा। मगर राजा उदार होकर सभी के घर अगर मुफ्त बिजली पहुँचा दे तो आपको उतना आनन्द होगा?

'नहीं।

क्यो? क्या सब के घर बिजली चली जाने से आपके घर की बिजली का प्रकाश कम हो गया? ऐसा नहीं है तो प्रसन्नता क्यों नहीं होती? इसी कारण न कि आप यह चाहते है कि मेरे यहाँ हो और दूसरों के यहा न हो! राजाने सब के घर बिजली भेजकर आपके यहा अंधकार नहीं कर दिया है। आपके घर भी उजाला है और दूसरों के घर भी। फिर आपकी प्रसन्नता क्यो मिट गई? हृदय की संकीर्णता ने आपके आनन्द को नष्ट कर दिया। बस भुवनभूषण को पहिचानने मे भी हृदय की सकीर्णता, हृदय की दुर्बलता और हृदय की क्षुद्रता ही बाधा डालती है।

क्षुद्र हृदयदौर्बल्य त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।

हे अर्जुन! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को छोड़कर तैयार हो जा।

यह हृदय की दुर्बलता ही है जो आप से कहलाती है कि बिजली दूसरों के घर न हो सिर्फ मेरे घर हो। तभी मै सुख का अनुभव करूँगा।

आपने कान में मोती पहिने हैं। अब किसी गरीब को भी मोती मिल जावे और वह भी कान में पहन ले तो आपको

प्रसन्न होना चाहिए या अप्रसन्न होना चाहिए ?

'प्रसन्न होना चाहिए !'

लेकिन आपको प्रसन्नता नहीं होती। यही नहीं, उस समय आपकी क्षुद्रता जाग उठती है और अभिमान मिस-मिसाने लगता है। कई जगह तो हरिजनों की स्त्रियों को सिर्फ इसलिए पीटा गया है कि उन्होंने पैरों में चांदी के गहने पहन लिये ! इस अभिमान और क्षुद्रता की कोई सीमा है ! अगर इस प्रकार की क्षुद्रता मन में रखना है तो फिर भुवनभूषण के गुण गाने की आवश्यकता ही क्या है ? आप अपने ही भूषणों के गुण क्यों नहीं गाते? इस तरह की विचार-धारा रखकर परमात्मा के गुण गाने वाले को परमात्मा नहीं मिल सकता।

बहिनों का भी यही हाल है। वे भी यही सोचती हैं कि मेरे ही हाथों में मोतियों की बंगड़ियाँ रहें और दूसरी के हाथ में न रहे। अगर उन्हीं के हाथ में रहीं तो उनका सेठानीपन कायम रहेगा और दूसरी के हाथ में भी हो गई तो सेठानी-पन डूब जाएगा !

मित्रो ! हृदय की दुर्बलता के ही कारण इस प्रकार के विचार आपके मस्तिष्क में पैदा होते हैं ! आप दूसरों के सुख को अपना सुख नहीं समझते बल्कि दुःख समझते हैं। सिर्फ आप सुखी बनना चाहते हैं और चाहते है कि संसार का सारा सुख आपके ही घर में आकर जमा हो जाय। किसी दूसरे

के हिस्से में न जावे !

अच्छा आप बतलाइए कि सूर्य का प्रकाश अधिक है या बिजली का ?

'सूर्य का !'

विज्ञान द्वारा लाख प्रयोग करके भी सूर्य के समान दूसरा प्रकाश नहीं बनाया जा सकता। कदाचित् सूर्य के समान प्रकाश देने वाली बिजली कोई बना भी दे तो भी उससे भयंकर बीमारियों के उत्पन्न होने की संभावना है। आज जो बिजली प्रकाश दे रही है उससे भी अनेक हानियाँ हुई हैं। चन्द्रमा फलों में जैसा रस उत्पन्न करता है, सूर्य उन्हे जिस प्रकार पकाता है, वैसा दूसरा कोई नहीं कर सकता। इसी लिए सूर्य को जगत्पोषक की पदवी मिली है। यह पदवी सूर्य ने स्वयं नहीं माँगी, किन्तु बड़े-बड़े ऋषियों ने, विद्वानों ने और तत्त्ववेताओं ने गंभीर अनुसंधान करने के पश्चात् सूर्य को जगत्पोषक आदि पदवियाँ प्रदान की हैं शरीर में रक्त का वेगवान् संचार हो रहा है, इन्द्रियों में जो विकास है, शब्द दूसरों के कानों तक पहुंच कर सुनाई देता है, इन सब का निमित्त कारण सूर्य है। सूर्य न हो तो न शरीर में खून दौड़े, न शब्द सुनाई दे और न जीवन ही स्थिर रहे। एक वृक्ष ऐसी जगह हो जहाँ सूर्य की किरणें न पहुँच पाती हों, और दूसरा ऐसी खुली जगह मे हो कि जहाँ बिना रुकावट सूर्य की किरणें पहुँचती हों, तो इन दोनों में से कौन-सा वृक्ष हरा-भरा

रहेगा और बढ़ेगा ?

'जिसके पास किरणें पहुँचती हैं !'

वैज्ञानिको का कहना है कि रंग भी सूर्य की किरणों से ही बनता है। सूर्य की किरणों के आदान-प्रदान पर ही रग की विशेषता निर्भर है। सूर्य किसी फूल को अपनी जितनी किरणे देता है, उन सब किरणों को अगर फूल लौटा देता है तो वह फूल सफेद होता है। सफेद रंग सब रंगों में अच्छा समझा जाता है। इस रग को प्राप्त करने वाले फूल सूर्य की जितनी किरणें लेते है, उतनी या उससे भी अधिक सूर्य को लौटा भी देते है। फिर जो फूल किरणें लेते ज्यादा है, और लौटाते कम है, उनमें लौटाने की कमी के अनुपात से ही रगभेद हो जाता है। गुलाब का फूल सूर्य से जितनी किरणें ग्रहण करता है उतनी वापिस नहीं लौटाता, कम लौटाता है। इस कारण उसका रंग गुलाबी होता है। जो फूल जितनी किरणे कम लौटाता है; उसका रंग उतना ही खराब होता जाता है। जो फूल सूर्य की किरणें लेता तो है मगर लौटाता बिलकुल नही, उसका रंग काला हो जाता है।

सूर्य की किरणों के आधार पर फूलों के रंगों में वैज्ञानिकों ने जो भेद बतलाये हैं, वैसे ही भेद ज्ञानियों ने लेश्या के बतलाये है। सफेद फूल के जो गुण बतलाये गये हैं वही गुण उदार पुरुष में होते है। इसी प्रकार उन लोगों को काले फूल के समान बतलाया गया है जो प्रकृति की सहायता लेते तो

हैं मगर देने के समय कह देते हैं कि हमें इसके बाप का क्या देना है !

फोटो खींचते समय काला कपड़ा ढँकने का कारण यही बतलाया जाता है कि काला कपड़ा सूर्य की किरणों को केमरे में प्रवेश नहीं करने देता, आप ही हजम कर जाता है। तात्पर्य यह है कि जिसमें कालिमा होगी, जिसका हृदय काला होगा, वह ले तो लेगा परन्तु देगा नहीं।

सूर्य की किरणों में अलौकिक गुण हैं। उन्हीं गुणों के कारण वह जगत् का चक्षु हो रहा है। सूर्य आपको प्रकाश देता है सो बदले में क्या कुछ लेता भी है ?

'नहीं !'

अगर आपको बिजली मुफ्त में मिल जाय तो आप बिजली देने वाले का उपकार मानते हैं और उसे बड़ा समझते हैं, लेकिन सूर्य का प्रकाश मुफ्त में लेकर के भी कभी सूर्य का उपकार माना है ?

अगर सूर्य सिर्फ आपको ही प्रकाश देता और दूसरों को न देता तो आपके घमंड का अन्त न रहता। आप इतना आनन्द मानते कि फूले न समाते। आप अपने को ईश्वर समझने लगते। लेकिन सूर्य सभी को प्रकाश देता है, यह बात आपके लिए आनन्ददायक नहीं है। इसीलिए आप सूर्य के प्रति कृतज्ञ नहीं होते।

आप थोड़ा विचार तो कीजिए कि सूर्य ने सब को प्रकाश

दिया तो आपकी क्या हानि हो गई ? आपके हिस्से का प्रकाश तो सूर्य ने दूसरों को नहीं दिया है ! सूर्य ने समान रूप से सब को प्रकाश दिया है, यह उसकी महिमा है या बुराई है ?

'महिमा है !'

तो फिर सूर्य का प्रकाश पाकर आप प्रसन्नता का अनुभव क्यों नहीं करते ? आपको प्रकृति पर ध्यान देकर विचार करना चाहिए कि मुझे सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि से आनन्द मिला है तो मैं इन का उपकार क्यों न मानूँ ? लेकिन हृदय की क्षुद्रता आपकी प्रसन्नता को उत्पन्न ही नहीं होने देती। इसी-लिए आचार्य कहते हैं कि आप भुवनभूषण के गुण जानोगे तो न आत्मा में द्वेष उत्पन्न होगा, न गर्व होगा और न दीनता ही आएगी। आपको संतोष प्राप्त होगा। परमात्मा की स्तुति से दर्प और दीनता दोनों दूर हो जाएँगे।

अपने मनोभावों को आप पर प्रकट करने के लिए मैं अधिक से अधिक सरल पद्धति से काम लेता हूँ। आप मेरे भाव को समझ गये होंगे। फिर भी एक उदाहरण और लीजिये।

आपके ऊपर पखा किया जाय या चँवर ढोरा जाय तो आपको आनन्द होता है, लेकिन प्रकृति ने सभी को समान रूप से पंखा कर दिया तो आपको आनन्द क्यों नहीं होता ? क्या सब पर पंखा होने से आप की कुछ हानि हो गई ? फिर आपका आनन्द क्यों चला गया ? मगर आप सोचते हैं—

प्राकृतिक पखा अर्थात् पवन तो सभी के लिए समान है। इस में आनन्द की क्या बात है? आप उसी वस्तु में आनन्द मानते हैं जो सिर्फ आपके लिए ही हो, औरों के लिए न हो!

अकृत्रिम पवन मे जो गुण है वे क्या कृत्रिम पखे के पवन मे हो सकते है?

'नहीं'

फिर भी आप नैसर्गिक पवन में आनन्द न मानकर कृत्रिम में आनन्द मानते हैं। आपने कभी सोचा है कि आपके हृदय की कौन-सी भावना इसमें कार्य कर रही है? ऐसा करके आप ससार के कल्याण का परोक्ष रूप मे विरोध करते है। स्मरण रखना चाहिए कि विश्व-कल्याण का विरोध न करने वाला ही परमात्मा को पहिचान सकता है। आपकी जीभ 'ईश्वर-ईश्वर' भले ही जपती हो परन्तु आपका हृदय ईश्वर को भूला हुआ है और मस्तिष्क ईश्वर के विरोधी कामों मे उलझा हुआ है। हृदय और मस्तिष्क दोनों जब परमात्मा के आदेश को शिरोधार्य करते हैं तभी कल्याण होता है।

हृदय और मस्तिष्क का अन्तर समझ लेने की आवश्यकता है। हृदय के काम प्राय. जगत्-कल्याण के लिए होते है और मस्तिष्क के काम प्राय' जगत् के अकल्याण के लिए हुआ करते है। कपटाचार मस्तिष्क की उपज है, जिसमें दिखलाया कुछ जाता है और किया कुछ और जाता है! यथा-बिजली के विषय मे कहा तो यह जाता है कि लोगो के आराम

के लिए इसकी खोज की गई है परन्तु वास्तव में यह अपना स्वार्थ साधने और लोगों को पराधीन रखने का साधन है। इस प्रकार की बातें संसार को खराब कर रही है।

बिजली, रेल, कल, कारखाने आदि मस्तक की उपज है। यह हृदय की उपज नहीं हैं। हृदय की उपज के काम तो भगवान ऋषभदेव ने बतलाये है। एक हल बैलों से चलता है और दूसरा एंजिन से। बैलों से चलने वाले हल की उपज हृदय की है और एंजिन से चलने वाले हल की उपज मस्तिष्क की है। हृदय की उपज और मस्तक की उपज के कामों की पहचान यह है कि जिस काम से अपना भी भला हो और दूसरे का भी भला हो वह काम हृदय की उपज है। जिन कामों से अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना होता है, दूसरे के कल्याण की ओर दृष्टिपात नहीं किया जाता किन्तु दूसरों को पंगु बनाना अभीष्ट होता है, वे काम मस्तिष्क की उपज हैं। मस्तिष्क की उपज के काम राक्षसी राज्य के है और हृदय की उपज के काम रामराज्य के है। सिक्का भी मस्तक की उपज का नमूना है। उसके संबन्ध मे कहा तो यह जाता है कि सिक्के से दुनिया के व्यवहार में बड़ा सुभीता होता है और इसीलिए उसका निर्माण किया गया है, लेकिन वास्तविक बात यह नहीं है। थोड़ी देर के लिए यह कथन सही मान लिया जाय तो सिक्का बना लेने की छूट सब के लिए क्यों नहीं है? प्राचीन काल मे सोनैया (स्वर्ण मोहरें) थे। मगर

उनका मूल्य कल्पित नहीं था, अतएव उनसे कोई हानि नही होती थी। मगर कल्पित मूल्य के सिक्कों ने जगत् को बड़ी हानि पहुँचाई है। सिक्को के प्रताप से आज विश्व में आर्थिक विषमता रूपी पिशाचिनी का भैरवनृत्य हो रहा है।

यह हृदय और मस्तिष्क के संबंध मे व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया गया है। आध्यात्मिक कार्यों मे भी इसी प्रकार विचार किया जा सकता है।

हृदय और मस्तक के कार्यों की तुलना की जाय तो दोनों का भेद अनायास ही समझ मे आ जायगा। हृदय मे दया, करुणा, परोपकार, संवेदना, सहानुभूति, सहृदयता आदि गुण भरे हैं। मस्तिष्क जब हृदयशून्य होता है तो स्वार्थबुद्धि की प्रबलता के कारण इन सब दिव्य और मृदुल भावनाओं को नष्ट कर देता है। वह स्वार्थ भी थोड़े ही दिनो का मेहमान होता है। कुछ दिनो बाद स्वार्थ भी नष्ट हो जाता है और सारा संसार चक्कर मे पड जाता है।

ठंडाई, शर्बत, शराब आदि से स्वास्थ्यनाश के सिवाय कुछ भी लाभ नहीं है। क्या पानी के बिना जीवन निभ सकता है?

'नहीं!'

फिर भी आप पानी मे आनन्द न मानकर गुलाब के शर्बत में ही आनन्द मानते है। यह ससार के कल्याण से विरुद्ध है या नही?

एकान्त रूप से धर्म का आचरण करने वालों को भी पॉच

वस्तुओं का उपकार नहीं भूलना चाहिए. ऐसा शास्त्र का आदेश है। उनमे से छह काय का बहुत बड़ा उपकार बतलाया गया है। क्या पृथ्वी की सहायता के विना संयम पल सकता है?

'नहीं।'

इसीलिए भगवान् महावीर कहते हैं कि पृथ्वी का उपकार मानो। जिस भूमिपर पैर टेक कर खड़े हो वह स्वर्ग से भी वड़ी है। भूमि कही की हो, लेकिन जो हमारा वजन उठा रही है और जिस भूमि पर हमारी संयम की क्रिया पल रही है, उसे अगर स्वर्ग से हीन माने तो उस पर पैर धरने का क्या अधिकार है? इस भूमि पर आप सामायिक करते हैं। क्या स्वर्गभूमि में सामायिक की जा सकती है?

'नहीं।'

यहाँ के पवन से और पुद्‌गलों से आपका शरीर पल रहा है, आपका धर्मध्यान हो रहा है, फिर आप अपनी जन्मभूमि की महिमा न समझकर स्वर्ग की भूमि को वड़ी समझें, यह कैसे उचित कहा जा सकता है?

रामनरेशजी त्रिपाठी ने एक ग्राम्यगीत सुनाया। उसका आशय यह है कि—एक ओर राजा का महल है जिसमे सब प्रकार की तैयारी के साथ प्रकाश जगमगा रहा है और दूसरी ओर एक किसान का टूटा झोपड़ा है, जिसमें शीत, ताप और वर्षा नहीं रुकती। किसान इतना गरीब है कि घर मे जलाने के लिए दीपक तक नही है। फिर भी किसान खड़ा हुआ मस्ती

के साथ गा रहा है। वह कहता है—प्रभो ! तूने राजा के घर तो दीपक का प्रकाश किया परन्तु मेरे घर का तो अंधकार ही हर लिया !

गरीब किसान ऐसी अवस्था में, जब कि उसकी झोंपड़ी टूटी-फूटी है, और सामने राजमहल है, क्यों मस्त होकर गा रहा है ? जो लोग मस्तक से ही विचार करते हैं उन्हें इसका कारण मालूम नहीं हो सकता। अहिंसा, संयम और तप हृदय की उपज हैं। कोरे मस्तिष्क की सहायता से इनका महत्त्व और रहस्य कैसे समझा जा सकता है ?

किसान के गाने में कौन-सी प्रेरणा काम कर रही है, यह कौन कह सकता है ? फिर भी कल्पना की जा सकती है। वह दरिद्रता की अवस्था में दूसरों की तरह परमात्मा को गालियाँ न देकर उनका उपकार मान रहा है। उपकार इस-लिए कि राजा के घर में संसार के समस्त अन्यायों का पैसा है। वेश्या, शराबी, कसाई, चोर, डाकू, निस्संतान आदि सब का पैसा राजा के घर में जाता है। उन्हीं पैसों से राजा के घर में दीपक जग-मगा रहे हैं। किसान ऐसे दीपकों की मौजूदगी में भी अंधकार ही मानता है। वह प्रसन्न है, क्योंकि वह अन्याय और अत्याचार से दूर है। वह किसी दूसरे के परिश्रम का नहीं खाता। स्वयं परिश्रम करता है और उसके बदले में जो कुछ पाता है, संतोष के साथ खा लेता है।

जो सहृदय होगा वह अवश्य ही विचार करेगा कि मेरे

किसी भी कार्य से दूसरे को दुःख न उठाना पड़े। जिन कार्यों में करुणा का अभाव होगा वे हृदय की नही वरन् मस्तिष्क की उपज होंगे। हृदय में करुणा होने पर ही भुवनभूषण को पहिचाना जा सकता है। दयाधर्म को पाने वाला ही पुण्यवान् होता है। जिसका हृदय दया से भरपूर है, वह स्वर्गीय सम्पत्ति से सुशोभित है। आप ऊपरी वैभव देखकर ही किसी को पुण्यवान् मान लेते हैं, पर हृदय के विचारों से पता लगता है कि वास्तव में कौन पुण्यशाली है और कौन नहीं ?

एक करोड़पति गहनों और कपड़ों से सजा हुआ मोटर मे बैठा हुआ है। मोटर तेजी के साथ जा रही है। किसी गरीब को मोटर की ठेस लगी। इधर तो मोटर की ठेस लगी, उधर सेठजी उसे डाटकर कहने लगे—'मूर्ख कहीं का! देखता नहीं मोटर आ रही है! एक किनारे हटने के बदले सामने आता है और हमें बदनाम करना चाहता है! इतना कहकर सेठजी चले गये। उस चोट खाये गरीब को उठाना या सहानुभूति प्रकट करना उन्होंने आवश्यक नही समझा। इतने में दूसरा गरीब वहाँ आ पहुँचा। उसने आहत गरीब को उठाकर छाती से लगाया, चिकित्सालय मे पहुँचा दिया और उसकी यथोचित सेवा की। अब आपका हृदय किसे पुण्यवान् कहता है—उस अमीर को या इस गरीब को ?

'गरीब को!'

इस निर्णय मे आपको शंका तो नही है ?

'नही !'

यद्यपि हृदय गरीब को पुण्यवान् स्वीकार करता है, लेकिन जब मस्तिष्क के विचार हृदय की भावना को दबा लेते हैं तब उस अमीर को ही पुण्यशाली मान लिया जाता है। यह अविवेक है।

भगवान् के लिए भूतनाथ शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इस शब्द में क्या भाव भरा है, यह समझाने के लिए बहुत समय चाहिए। संक्षेप में अभी इतना ही कहता हूँ कि प्रभु प्राणीमात्र के नाथ हैं। भगवान् जब प्राणीमात्र के नाथ हैं तो किसी भी प्राणी को कष्ट पहुँचाना, उसके सुख मे बाधा डालना अथवा अपने स्वार्थ मे अंधे होकर दूसरे के सुख-दुःख की परवाह न करना उचित नही। ऐसा करने वाला भगवान् का सच्चा भक्त नही हो सकता। भगवद्भक्ति की प्राथमिक भूमिका भूतमात्र को अपना भाई मानकर उसके प्रति सहानुभूति रखना है। प्राणीमात्र के प्रति आत्म-भाव रखकर भगवान् की स्तुति करने से कल्याण का द्वार खुलता है।

(घ)

हे प्रभो ! आपके विद्यमान गुणों का यथावस्थित रूप से अभ्यास करने वाला आप सरीखा हो जाता है, इस बात में मुझे कोई आश्चर्य नहीं लगता। यह तो संसार मे भी देखा जाता है कि किसी लक्ष्मीवान् की सेवा करके सेवक स्वय लक्ष्मीवान् बन जाता है। साधारण मनुष्य भी अपने सेवक को अपना सरीखा बना लेता है तो आपके गुणों में लीन हो जाने वाला अगर आप सरीखा ही हो जाता है तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् के गुणों का अभ्यास किस प्रकार किया जाय ? भगवान् अरूपी सत्ता है, उनके अनन्त गुण है, ऐसी दशा में उनके गुणों का अभ्यास करने की क्या विधि हो सकती है ?

इस प्रश्न के उत्तर मे ज्ञानियो का कहना है कि भगवान् के गुणों का अभ्यास करना कठिन नहीं है। लेकिन लोगों ने ऊपरी आडम्बर में पड़कर कठिनाई मान ली है, इसी कारण कठिनाई मालूम होती है। भगवान् मे जो गुण है वे उनके नाम से अच्छी तरह प्रकट हो जाते है।

भगवान् के 'भुवनभूषण' नाम के विषय में कल कहा जा

चुका है। भगवान् को 'भूतनाथ' भी कहा है। अर्थात् परमात्मा प्राणीमात्र का मालिक है।

अभ्यास करने के लिए एक ही वस्तु काफी होती है। एक ही वस्तु पर विचार करके अभ्यास किया जाय तो यह शंका नहीं रह सकती कि भगवान् दिखाई नहीं देते, उनके गुण हमारी बुद्धि मे नहीं आते, ऐसी दशा मे हम भगवान् की सेवा कैसे करें और उनके गुणों का अभ्यास कैसे करे ?

भगवान् अरूपी सत्ता है, उसे देखे बिना उसकी उपासना किस प्रकार हो सकती है, इस तर्क को मिटाने के लिए ईश्वर की मूर्ति बनाकर उसके द्वारा ईश्वर की उपासना करने की पद्धति स्वीकार की है। अव्यक्त का ध्यान करना कठिन है, इस विचार से लोग मूर्ति स्थापित करते हैं। लेकिन मेरा कथन यह है कि जब परमात्मा की मूर्ति बिना बनाये ही मौजूद है तो फिर दूसरी मूर्ति के बदले क्यो नही उसी पर अपना लक्ष्य स्थापित करते ? परमात्मा की मूर्ति किस प्रकार विद्यमान है, यह समझ लेना चाहिए।

ईश्वर मनुष्यदेह में ही हुआ है और मनुष्य आज भी मौजूद है। मनुष्यशरीर स्वाभाविक रीति से बनी हुई ईश्वर की आकृति है। लाख प्रयत्न करने पर भी कोई कारीगर ऐसी आकृति नहीं बना सकता। जब मनुष्य परमात्मा की मूर्ति हैं तो इन्हें देखकर परमात्मा का ध्यान आना चाहिए। सोचना चाहिए कि यह शरीर वह है जिसमें परमात्मा हुआ था।

ईश्वर की मूर्ति की कोई अवज्ञा करेगा ?

'नही !'

तो यह मनुष्यशरीर ईश्वर की मूर्ति है, ऐसा समझकर मनुष्यों की अवहेलना या घृणा न करना ही सच्ची मूर्तिपूजा है।

परमात्मा की मूर्ति की अवहेलना किस प्रकार नही करना चाहिए, इसके लिए सर्वप्रथम तो प्राणातिपात का त्याग करना आवश्यक है। ऐसा करने से परमात्मा की आराधना होगी। क्योंकि मनुष्य परमात्मा की मूर्ति है, इसलिए इनकी हिंसा न करना, न कराना और न हिंसा का अनुमोदन करना चाहिए। ऐसा करके उस अहिंसा को परमात्मा के लिए समर्पित कर देने से ईश्वर की पूजा हो जायगी।

मनुष्य की हिंसा त्यागने के लिए कहा गया है सो इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य प्राणियो की हिंसा त्याज्य नहीं है। हिंसा तो प्राणीमात्र की त्याज्य है। लेकिन मनुष्य, मनुष्य की विशेष और अन्य प्राणियों की सामान्य हिंसा करता है। इसी कारण यहाँ मनुष्यहिंसा के त्याग पर जोर दिया गया है। मनुष्य विशेष मूर्ति है और अन्य जीव सामान्य मूर्ति है। यों तो सभी शरीर मूर्ति ही हैं। भगवान् ने कहा है—

> पुढवीकायमइगओ उक्कसं जीवो उ सवसे।
> काल संखाईय, समय गोयम ! मा पमायए ॥

हे गौतम ! हमारा-तुम्हारा यह जीव असंख्यात काल

तक पृथ्वीकाय में रहा।

इस प्रकार भगवान् की आत्मा कभी पृथ्वीकाय में रही और कभी मनुष्य शरीर में। अतएव सोचना चाहिए कि सन्निकट में तो मनुष्यशरीर को भगवान महावीर का स्वरूप मानूँ और दूर में पृथ्वी में भी ईश्वरीय सत्ता मानूँ। ऐसा समझकर किसी की हिंसा न करने से परमात्मा की पूजा हो जायगी।

जब भगवान् भूतनाथ है तो पृथ्वीकाय के भी नाथ हैं। कदाचित् आप परमात्मा को नहीं देख सकते तो भी वे जिनके नाथ है, उन्हें तो देखते है? अतएव परमात्मा के नाते से ही सब प्राणियों के साथ सलूक करो। प्राणियों की सेवा करने से ईश्वर की सेवा हो जायगी। ईश्वरीय आदेश का पालन ही ईश्वर की सच्ची सेवा है। और ईश्वर का आदेश है कि किसी भी प्राणी को कष्ट मत पहुँचाओ।

मनुष्य का मनुष्य के साथ विशेष सम्बन्ध है, इसलिए मनुष्य की हिंसा त्यागने के लिए विशेष रूप से कहा जाता है। जो मनुष्य पर दयाभाव रक्खेगा वह दूसरे जीवधारियों पर भी दया रक्खेगा। मगर मनुष्य ही मनुष्य को अधिक सताता है। पशुओं को तो केवल हाड़, मांस, चर्बी आदि के लिए मारा जाता है, लेकिन मनुष्य, मनुष्य का सैकड़ों तरह से घात करता है। मनुष्य को मनुष्य से जितना भय लगा रहता है, उतना किसी पिशाच और राक्षस से भी नहीं लगता। यह

मशीनगनें, तोप, बंदूक आदि किसलिए बने हैं ?

'मनुष्यों को मारने के लिए !'

मनुष्यों ने मनुष्य को मारने के लिए जितने उपाय रचे हैं, उतने उपाय पशु को मारने के लिए नहीं रचे। मनुष्य को मनुष्य पर जितना द्वेष होता है और मनुष्य, मनुष्य को जितनी हानि पहुँचाता है, उतनी पशु को नहीं पहुँचाता और न पशु ही पशु या मनुष्य को पहुँचा सकता है। पशु मनुष्य को कदाचित् हानि पहुँचाता है तो अल्प ही पहुँचाता है। इसी कारण मनुष्यों पर विशेष रूप से दया करने की आवश्यकता है। जो मनुष्य पर दयावान् होगा उसे अन्य सत्तरह पाप भी छोड़ने होंगे।

मनुष्य की दया करने वाले को सब से पहले झूठ का त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि झूठ मनुष्य से ही बोला जाता जाता है, पशु से नहीं। झूठ कपट आदि पापों का सेवन मनुष्य, मनुष्य को ठगने के लिए ही करता है। ऐसा साहित्य तो मिल सकता है जिससे लाखों-करोड़ों मनुष्य भ्रष्ट हो गये हों, लेकिन क्या ऐसा भी कोई साहित्य मिल सकता है जिससे पशु भ्रष्ट हो गये हों ?

'नहीं !'

तो जो ऐसा साहित्य नहीं रचता है और मनुष्यजाति के उत्थान के लिए साहित्य की रचना करता है वह क्या परमात्मा की सेवा नहीं करता ?

नियमित रूप से सत्य वही बोलेगा जो मनुष्य के प्रति अहिंसक होगा। जिसके हृदय में मनुष्य के प्रति दया होगी वह झूठ नहीं बोलेगा। जो कपट करेगा उसमें हिंसकता आये बिना नहीं रहेगी। संसार में प्रचण्ड हिंसा के प्रसार का प्रधान कारण यही है कि मनुष्य, मनुष्य के साथ झूठ-कपटमय व्यवहार कर रहा है।

मनुष्य मुख्य रूप से मनुष्य की ही चोरी करता है। वह पशुओं को चुराता है तो वे पशु भी आखिर मनुष्य के ही होते हैं। जो मनुष्य, मनुष्य पर दयालु होगा वह किसी की वस्तु चुराकर उसे दुःखी न करेगा।

अगर आपके हृदय में इस प्रकार की भावना बद्धमूल हो गई कि मनुष्य ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसके प्रति दुर्व्यवहार करना परमात्मा के प्रति दुर्व्यवहार करना है तो आप थोड़े ही दिनों में देखेंगे कि आपके अन्तःकरण में अपूर्व भक्ति-भाव पैदा होगा और आप परमात्मा के सच्चे उपासक बन जाएँगे। पाषाण की बनी परमात्मा की मूर्ति की पूजा करता हुआ भी अगर कोई मनुष्य रूप मूर्त्ति की चोरी करता है तो समझना चाहिए कि वह परमात्मा की उपासना के मर्म को नहीं समझता।

इसी प्रकार जिसके हृदय में दया होगी वह दूसरे की स्त्री की तरफ कदापि बुरी दृष्टि से नहीं देखेगा। वह कभी किसी स्त्री को भ्रष्ट करने की इच्छा नहीं करेगा।

जिसका अन्तःकरण दया से द्रवित रहता है वह कभी अनुचित संग्रह नहीं करेगा। वह दूसरों का भाग हड़पने की चेष्टा से सदा घृणा करेगा। दूसरे को दुखी करके आप मोटा बनने की इच्छा नहीं करेगा।

जहाँ परिग्रह है वहाँ आरंभ है। बहुतेरे परिग्रहशील व्यक्ति इतना अमर्याद संग्रह करते हैं कि वह संग्रह न उनके काम आता है, न दूसरों के काम आ पाता है। हृदय में अहिंसा या करुणा न होने के कारण ही लोग चाहते हैं कि मैं ही सब का मालिक बना रहूँ। दूसरे मरते हैं तो मरें। उन्हें मरने वालों की परवाह नहीं।

मनुष्य, दूसरे मनुष्यों का ही हिस्सा छीनकर संग्रह करता है और दूसरों के प्रति दया न होने के कारण ही संग्रह करता है। इसी कारण महात्मा पुरुष पूर्ण रूप से निष्परिग्रह बन कर जंगल में जाकर तप करते हैं और वह तप भी कितना कठोर! कहा है—

> शीत पडे कपि-मद भरे, दासै सब वनराय।
> ताल तरंगिनि के निकट ठाडे ध्यान लगाय।
> वे गुरु मेरे मन बसो तारण तरण जहाज॥

जिस महानुभाव के चित्त में ईश्वर का दिव्य स्वरूप बस जाता है, जो दया से भूषित है, अहिंसा की भावना से जिसे का हृदय उन्नत है, वह कभी किसी प्राणी का अनिष्ट नहीं करता। अगर कोई उसका अनिष्ट करता है तो भी वह उससे

बदला लेने का विचार नहीं करता। वह सोचता है—यह मेरा अनिष्ट नही कर रहा है किन्तु मेरा अदृष्ट ही मुझे सता रहा है। यह मनुष्य जिस क्रोध के वश होकर मुझे पीड़ा पहुँचा रहा है वह क्रोध मेरे अन्तःकरण में आविर्भूत न हो तो मेरे लिए बहुत है। अगर मुझमें भी काम-क्रोध आ गया तो मै भी भ्रष्ट हो जाऊँगा। अतएव अपने अन्त करण मे किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न होने देना परमात्मा की सच्ची उपासना है।

जीवनव्यवहार जब अहिंसामय बन जाता है तो काम, क्रोध आदि विकार सहज ही जीते जा सकते हैं। जो पुरुष, मनुष्य को ईश्वर का प्रतिनिधि मानेगा वह उसके प्रति असत्यमय व्यवहार कैसे करेगा?

चन्दन पडयो चमार घर, नित उठ चीरे चाम।
कह चन्दन! कैसी भई पडयो नीचे से काम।

जो चन्दन देवता पर चढाया जाता है, ललाट पर लगाया जाता है और पवित्र कार्यो मे, व्यवहृत होता है, उस चन्दन का वृक्ष एक चमार के घर था। चमार उस पर चमड़ा सुखाया करता था। किसी ने चन्दन से पूछा—कहो चन्दन, कैसी बीती? चन्दन ने कहा—जिसके घर रहते हैं, वैसा ही गुण आ जाता है!

चन्दन के वृक्ष पर चमार चमड़ा सुखाता है, इससे चन्दन की महिमा नहीं घटी, वरन् चमार की ही महिमा घटी।

ऐसा करने वाले चमार को आप बुरा कह सकते हैं लेकिन आप अपनी तरफ भी देखें। यह तुम्हारा मनुष्यशरीर जो ईश्वर को मिला था और जो समस्त शरीरों में उत्तम है, चन्दन के समान है। लेकिन यह चमार के घर पड़ा है। चमार के घर किस प्रकार पड़ा है, यह बात मैं भक्तों की ही वाणी में कहता हूँ। तुलसीदास जी कहते हैं—

चतुराई चूल्हे पड़ो, धिक् धिक् पड़े अचार।
तुलसी हरि के भजन बिन, चारों वर्ण चमार।

जो लोग ऊपर से चतुराई करते हैं, लेकिन जिनके हृदय में दया नहीं है-भक्ति नहीं है, जो ऊपरी आचार-विचार से ही ईश्वर को प्रसन्न करना चाहते हैं, ऐसे लोगों की गणना तुलसीदासजी चमार में ही करते हैं, चाहे वह किसी भी वर्ण का हो।

कोई दूसरे को तो चाण्डाल कहते और घृणित समझते हैं, लेकिन स्वयं क्रोध करके चाण्डाल बनते हैं। उन्हें इसका पता ही नहीं होता। परमात्मा ऊपर की चतुराई से कभी नहीं रीझता। मैं बाहरी आचार या चतुराई की बुराई नहीं करता, लेकिन अन्तःकरण की पवित्रता के अभाव में, लोक-दिखावे के लिए किये जाने वाले बाह्याचार से ईश्वर प्रसन्न नहीं हो सकता। अतएव आन्तरिक शुद्धता पर ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है।

तुलसीदासजी कहते हैं—जिसने ऊपरी चतुराई तो की,

आडम्बर दिखाने के लिए द्रव्य आचार तो पाला. लेकिन हृदय से भक्ति नहीं की वह दूसरे वर्ण में होता हुआ भी चमार ही है।

माला फेर लेना ही भक्ति नहीं है किन्तु परमात्मा के मार्ग पर चलने के लिए तन. धन. प्राण देने के लिए तैयार होना ही भक्ति है। सुदर्शन सेठ आदर्श भक्त था। उसे घर मे बैठकर माला फेरने से कोई रोकता नहीं था। फिर वह मरने का खतरा उठाने के लिए क्यों गया? वह भी आजकल के लोगों की तरह बहाना कर सकता था कि आने-जाने में क्रिया लगती है. इसलिए मैं घर बैठा-बैठा ही वन्दना कर लेता हूँ। मगर इस क्रिया को बचाना वास्तव में क्रिया बचाना नहीं, मगर प्राण बचाने के लिए बहाना करना ही होगा।

बहुत से लोग दान करने मे पाप लगने का बहाना करते है, मगर वे लोग पाप को देखते होते तो ब्याह ही न करते। सच तो यह है कि इस प्रकार की बहानेबाज़ी से धर्म की घोर निन्दा होती है और लोग समझने लगते हैं कि धर्म स्वार्थ-साधन का उपाय है। तुलसीदासजी के कथनानुसार भगवान् का भजन न करने वाले चारों वर्ण चमार हैं।

चमड़े का धोना, रंगना और सजाना चमार का काम है। चमार यह काम अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए करते हैं। चमार अपना काम छोड़ बैठे तो लोगों को बड़ी कठिनाई हो जाय। ऐसी हालत मे अगर आप चमार को एकान्ततः

बुरा ही कहेंगे तो आपको जूते पहिनना छोड़ना होगा। चमार को बुरा कहने वाले जरा अपनी ओर देखें। वे क्या कर रहे हैं? क्या वे चमार की तरह ही शरीर के चमड़े को नहलाने-धुलाने और सिंगारने में ही नहीं लगे रहते हैं? क्या यह काम चर्मकार का काम नहीं है? बढ़िया-बढ़िया कपड़े और मोतियों के गहने क्या चमड़ी को सजाने के लिए ही नहीं पहने जाते? अगर आप अपने शरीर के चमड़े को सिंगार कर दयाभाव रक्खें, भक्ति करें, शरीर को दूसरों की सेवा और परोपकार में लगावें, तब तो आपका चमड़ा रंगना चमारपन नहीं कहलाएगा, और यदि यह कुछ भी न किया, सिर्फ चमड़ी की सजावट में ही लगे रहे तो तुलसीदासजी का कथन आप पर भी लागू होगा ही।

कई लोग कहते हैं—हमसे खादी नहीं पहिनी जाती। वह चमड़ी में चुभती है। ऐसे लोगों को चमड़ी का भक्त कहा जाय या नहीं? महीन कपड़ों के लिए चाहे पचेन्द्रिय पशुओं की चमड़ी उतारी जाय, चर्बी निकाली जाय और चाहे देश बर्बाद हो जाय, पर इनकी चमड़ी की सुकुमारता कायम रहनी चाहिए! इनकी चमड़ी खादी से नहीं छिलनी चाहिए! ऐसा विचार करने वाले लोगों के दिल में दया का वास कैसे हो सकता है? किसी पतिव्रता स्त्री ने शृंगार किया और वह शृंगार पति को प्रिय न लगा तो वह शृंगार भी कोई शृंगार है? इसी प्रकार जिन वस्त्रों के पहिनने से दया का घात होता

है और दया का घात होने से जो परमात्मा के प्रतिकूल हैं, वे कपड़े क्या पहनने योग्य है ?

'नहीं !'

प्रेम, दया, अहिंसा. परोपकार, संयम और सादगी का निर्वाह खादी पहनने से अधिक हो सकता है या मैन्चेस्टर के हिंसामय वस्त्रों के पहनने से ? खादी पहनने से गरूर कम होता है, भावना में सात्विकता आती है, देश-प्रेम जागृत होता है। मिलों का बना वस्त्र राक्षसी वस्त्र है जो संयम और सादगी का विनाश करता है, प्रेम का अन्त कर देता है। इन वस्त्रों के कारण पशुओं की ही नहीं, मनुष्यों की भी हिंसा होती है।

अब मैं अपनी मूल बात पर आता हूँ। ऊपर के विवेचन से समझा जा सकता है कि जिसके हृदय में मनुष्यों के प्रति दयाभाव होगा प्राय: वह न हिंसा, करेगा न झूठ बोलेगा, न चोरी करेगा, न परस्त्रीगमन करेगा और न अनुचित संग्रह ही करेगा। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष क्लेश आदि मानसिक विकारों की उत्पत्ति प्राय. मनुष्य के प्रति ही होती है। हृदय में मानव-दया उत्पन्न होने पर इन सब विकारों पर तुषारपात हो जाता है और जो इन सब पापों एवं विकारों से बच जायगा, स्वाभाविक है कि वह परमात्मा के निकट पहुँचेगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि इन पापों का परित्याग करो। अगर यकायक पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर सकते तो धीरे-

धीरे करो। पापों के परित्याग के पथ पर एक कदम भी जो चलेगा और उसी पथ पर आगे बढ़े चलने की भावना रक्खेगा वह एक दिन अपनी मंज़िल पूरी कर लेगा। मगर ऐसे काम तो सर्वप्रथम त्यागने योग्य हैं जिनसे मनुष्यों का घात होता हो। ऐसा मत करो कि पराया भोजन छीनकर आप मौज़ करें और वह बेचारा भूखा मरे। ज्यादा कुछ न कर सको तो कम से कम परोपकार को तो पाप मत मानो! आवश्यकता से अधिक संग्रह तो न करो। इस बात को मत भूलो कि अन्ततः धन-दौलत काम नहीं आयगी। शास्त्र में कहा है—

वित्तेण ताण न लभे पमत्ते।

अर्थात्-प्रमादशील पुरुष धन-दौलत के द्वारा अपना बचाव नहीं कर सकता।

मत भूलो कि आज जो लखपती है, वही कल कंगाल हो जाता है। फिर परोपकार करने में क्यों कृपण बनते हो? कृपणता करके बचाया हुआ धन साथ नहीं जायगा, किन्तु कृपणता के द्वारा लगने वाला पाप साथ जायगा। यह जानते हुए भी लोग जब खर्च मे कमी करना चाहते है तो सब से पहले परोपकार के ही काम बंद करते हैं।

मित्रो! यह परमात्माप्राप्ति का मार्ग नहीं है। उदार हृदय से, शुद्ध बुद्धि से और निर्मल मस्तिष्क से परमात्मा के आदेशों को समझो और पालन करो। ऐसा करने से आप परमात्मा के ही समान बन जाएँगे।

यैः शान्तरागरुचिभि परमाणुभिस्त्व,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणव पृथिव्या,
यत्ते समानमपर न हि रूपमस्ति ॥१२॥

तीनों लोकों में अद्वितीय सुन्दर प्रभो ! जिन शान्त और सुन्दर परमाणुओं के द्वारा आपका निर्माण हुआ है, जान पड़ता है कि पृथ्वी पर वे परमाणु उतने ही थे। क्योंकि तुम्हारे समान दूसरा कोई रूप नहीं है।

वक्त्र क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि,
नि शेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्ब कलङ्कमलिन क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥१३॥

अर्थ—प्रभो ! सुर, नर और नागकुमारों के नेत्रों को हरण करने वाला और तीन लोक की समस्त उपमाओं को जीतने वाला कहाँ तो आपका मुख और कहाँ कलंक से मलीन चन्द्रमा का बिम्ब ! चन्द्रमा का बिम्ब तो दिन में ढाक के सूखे पत्ते के समान फीका पड़ जाता है ! उसके साथ आपके मुख की

तुलना नहीं की जा सकती।

आचार्य मानतुंगजी ने भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए यहाँ उनके शरीरसौन्दर्य का आलकारिक वर्णन किया है। कहा गया है कि भगवान् का रूप, जिसे देखकर चण्डकौशिक जैसे क्रूर प्राणियों को भी शांति मिली है, ऐसे पुद्गल-परमाणुओं से बना है जो तीन लोक मे सर्वश्रेष्ठ थे। मैं अनुमान करता हूँ कि जिन परमाणुओं से तेरा शरीर बना है वे परमाणु संसार भर में उतने ही थे। उनसे अधिक नहीं थे। अधिक होते तो तेरे शरीर के समान कोई दूसरा शरीर भी बना होता। लेकिन तेरे शरीर के समान शांतिमय और सुन्दर शरीर दूसरा नही है। इस कारण यही अनुमान होता है कि जितने श्रेष्ठ परमाणु तेरे शरीर में लगे हैं, उतने ही संसार में थे।

यह परमात्मा की स्तुति है। स्तुति वह है जिसके उच्चारण से आत्मा की परमात्मा के प्रति प्रीति जागृत होकर बँध जाय। आज जो स्तुति की गई है उसमें बतलाया गया है कि कहाँ तो आपका वह सुर नर उरग के नेत्रों को हरण करने वाला और देखने पर भी तृप्ति न हो ऐसा, संसार को आनन्द देने वाला मुख और कहाँ चन्द्रमण्डल! संसार की किसी भी श्रेष्ठ और सुन्दर वस्तु से आपके मुख की उपमा दी जाय किन्तु वह उपमा ठीक नहीं बैठती। आपका मुख सभी उपमाओं को जीत चुका है। संसार की कोई भी वस्तु आपके मुख की समानता नहीं कर सकती।

कहा जा सकता है कि चन्द्रमा सौम्य, शीतल और आह्लाद-जनक है, फिर भगवान् के मुख के साथ उसकी तुलना क्यों नहीं की जा सकती ? लेकिन आचार्य मानतुंग चन्द्रमण्डल को घृणापूर्वक देखकर कहते हैं कि यह चन्द्र-बिम्ब तो स्पष्ट ही कलंक से मलीन है। इसके अतिरिक्त चन्द्रमा की कांति तभी तक रहती है जब तक सूर्य का उदय नहीं होता। सूर्य का उदय होते ही वह सूखे पत्ते के समान कान्तिहीन फीका पड़ जाता है। चन्द्रमा को राहु भी ग्रस लेता है। इस प्रकार कहाँ तो एक स्थिति में न रहने वाला चन्द्रमा का बिम्ब और कहाँ भगवान् का मुखमण्डल ! वह मुखमण्डल जो सुर नर और उरग के नेत्रों को भी हरण करने वाला है। इसलिए प्रभो ! आपके मुख के सामने तीनों भुवन के पदार्थ तुच्छ दिखाई देते हैं और आपका मुख अनुपम है, अद्वितीय सौंदर्य से युक्त है।

इस भक्तामरस्तोत्र के द्वारा परमात्मा से भेट करना सभी को इष्ट है। इस स्तोत्र को दिगम्बर, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक और अमूर्तिपूजक सभी मानते हैं। सभी परम प्रीति के साथ इसका पाठ करके शांतिलाभ करना चाहते हैं। अतएव इसके भावों को ध्यानपूर्वक समझना चाहिए।

आचार्य ने यहाँ जो कुछ कहा है, यदि वह सत्य है तो उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करो। आज हमें स्थूल दृष्टि से परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते, फिर भी चन्द्रमण्डल तो

दिखाई देना ही है। वैज्ञानिकों ने सर्च लाइट आदि नाना प्रकार के प्रकाशों का आविष्कार किया है लेकिन चन्द्रमा की समता करने वाला एक भी प्रकाश वे नहीं बना सके हैं। इस पर से हे मनुष्य ! तू अपनी अपूर्णता और अशक्ति का विचार कर। अपनी शक्ति पर गर्व मत कर। सच तो यह है कि जहां सूर्य और चन्द्रमा विद्यमान हैं वहाँ दूसरे प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं है। कोई कितना ही प्रयत्न करे लेकिन चन्द्रमा और सूर्य के समान प्रकाश नहीं बन सकता। यह विचार कर खटपट में पड़ने की आवश्यकता नहीं थी लेकिन मनुष्य गज़ब का प्राणी है! उसमें ईश्वरीय शक्ति विद्यमान है। अतएव वह प्रकृति से भी लड़ाई कर रहा है। मनुष्य प्रकृति से भी लड़ाई कर रहा है। मनुष्य प्रकृति पर विजय पाना चाहता है और प्रकृति को नीचा दिखाना चाहता है।

प्रकृति से लड़ाई करने वालों को सोचना चाहिए कि मैंने विज्ञान के द्वारा जो वस्तुएँ बनाई हैं, उनसे पहले की वस्तुओं का विकाश हुआ है या विनाश हुआ है? कल्पना कीजिए, किसी के घर में बिजली का सुन्दर प्रकाश हो परन्तु घर में कोई बीमार पड़ा हो। एक ओर बीमारी बढ़ती जाय और दूसरी ओर बिजली का प्रकाश बढ़ता जाय। ऐसी स्थिति में प्रकाश का बढ़ना किस काम का? अगर बिजली का प्रकाश न हो और सूर्य-चन्द्र की किरणों से ही शान्ति पहुँचती हो तो समझना चाहिए कि हमें किसी की ओर से यह संकेत मिल रहा है कि

तुम्हे प्रकृति के ही भरोसे रहना चाहिए। प्रकृति के विरुद्ध आचरण करने से विकृति बढ़ेगी।

आपके पूर्वजो के सामने बिजली का प्रकाश नहीं था। नकली घी और नकली आटा आदि भी नहीं था। लेकिन शारीरिक बल मे, बौद्धिक विकास में और मानसिक चिन्तन में वे बड़े थे या आप बड़े है?

'पूर्वज बड़े थे।

उन्हे मोटर, बिजली, नकली घी आदि चीजें पसंद ही नही थीं। वे इन चीजों से घृणा करते थे और आप इनसे प्रेम करते हैं। आपने इन सब को अपनाया है सही, पर इसका परिणाम क्या हुआ है? यही कि पहले के लोगो को वृद्धावस्था में भी चश्मे की आवश्यकता नहीं होती थी लेकिन आजकल के बहुत से नवयुवकों को भी चश्मा लगाना पड़ता है। इस अन्तर का क्या कारण है? आज 'इलेक्ट्रिक लाइट' का आविष्कार हुआ तो नेत्रों का प्राकृतिक प्रकाश कहाँ विलीन हो गया? पहले के लोग क्या आजकल की तरह दवाइयों का सेवन करते थे? वे दही और बाजरे की रोटियाँ खाते थे, फिर भी उनमें जैसी शक्ति थी वैसी आप माल-मलीदा खाने वालों में है?

'नहीं।'

आप लोग प्रकृति से लड़ाई करके चाहे आगे बढ़ने की आकांक्षा करें और चाहे 'वैज्ञानिक' नाम धराकर अभिमान

करें, लेकिन आप प्रकृति के विज्ञान का मुकाविला नहीं कर सकते। जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता वहाँ की हवा तो गन्दी होती सुनी जाती है लेकिन जहाँ बिजली का प्रकाश न हो वहाँ की हवा गन्दी होती सुनी है ?

'नहीं !'

इतना ही नहीं, बल्कि जहां बिजली का प्रचुर प्रचार है वहां की हवा गन्दी हो जाती है, ऐसा सुना गया है। नयी-नयी वस्तुएँ देखकर आपका मन फिसल जाता है और आप उन्हें अपनाने के लिए तैयार हो जाते हैं परन्तु यह क्यों नहीं देखते कि ये वस्तुएँ प्रकृतिप्रदत्त लाभों को बढ़ाने वाली हैं या घटाने वाली ?

संसार मे अगर बिजली की रोशनी, बिजली के पंखे, बिजली की सहायता से तैयार होने वाली दवाइयाँ न हों तो मनुष्य की मूल प्रकृति को कोई हानि पहुँचने वाली नहीं है। यही नहीं, वरन इनके अभाव में मनुष्य ज्यादा सुखी, ज्यादा समृद्ध और ज्यादा संतुष्ट होगा। लेकिन अगर प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुएँ न हों तो कैसी बीतेगी ? अगर सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश न हो तो मनुष्यों की क्या स्थिति होगी ? सुनते हैं, दक्षिणी ध्रुवप्रदेश की तलाश करने के लिए कई अंग्रेजों ने जाने का साहस किया और वे कुछ दूरी तक गये भी, फिर भी उन्हें सफलता नहीं मिली। सूर्य का प्रकाश न मिलने के कारण उन्हे मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा। तात्पर्य

यह है कि जहाँ नियमित रूप से सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश पहुँचता है वहीं मनुष्य जीवित रह सकता है। जहाँ यह प्रकाश नहीं मिलेगा वहां मनुष्य लम्बे समय तक प्राण धारण नहीं किये रह सकता।

भगवान ने इन्द्रियों का स्वरूप बतलाने के साथ ही उनके निग्रह का भी स्वरूप बतलाया है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में भगवान् ने मुनि के लिए नाटक देखने का निषेध किया है पर कहीं सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश को भी देखने का निषेध किया है ?

'नहीं !'

'क्यों ?' क्योंकि इसके बिना काम नहीं चलता और इससे नेत्रों में विकार भी उत्पन्न नहीं होता।

दुनिया का कोई भी धर्मशास्त्र प्रकृति की बातों को रोकने की हिमायत नहीं करता। सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश जीवन की अनिवार्य वस्तु है। उसके बिना जीवन का निर्वाह संभव नहीं है। ऐसी दशा में अगर कोई सूर्य-चन्द्र को देखने का निषेध करता है तो वह अज्ञानी ही समझा जायगा। जो मनुष्य हठपूर्वक सूरज के प्रकाश से बचने की कोशिश करेगा उसका जीवन ही कठिन हो जायगा।

भगवान् ने साधुओं को दीपक आदि के कृत्रिम प्रकाश के उपयोग की मनाई की है, मगर सूर्य-चन्द्र के नैसर्गिक प्रकाश के उपयोग की मनाई नहीं की है। अगर साधु दीपक के

प्रकाश का उपयोग करे तो वह संयम से च्युत हो जाता है। लेकिन वह यदि सूर्य के प्रकाश का उपयोग न करे तो संयम का पालन नहीं हो सकता। सूर्य की साक्षी से ही हम लोग भोजन कर सकते हैं और संयम का परिपालन कर सकते हैं। सूर्य की साक्षी के अभाव में साधु को भोजन करने का निषेध है।

आपमें समभाव होता तो आप बिजली की अपेक्षा सूर्य-चन्द्र से अधिक प्रसन्न होते। बिजली, सूर्य और चन्द्र की तरह व्यापक नहीं है, जीवन के लिए अनिवार्य भी नहीं है और लाभदायक भी नहीं है, फिर भी आपको उसकी कीमत देनी पड़ती है, इसी कारण आप उसकी कद्र करते हैं। सूर्य और चन्द्रमा की कीमत नहीं देनी पड़ती, इस कारण उसकी कद्र नहीं की जाती और न उसका उपकार ही माना जाता है।

प्रकाश असल में प्रकृति की देन है। उसे राजा अपनी मिल्कियत समझे, यह राजधर्म न जाने कहा से निकल पड़ा है? राजा समाज की शक्ति के लिए होता है। अगर वह धीरे-धीरे सब आवश्यक वस्तुओं को अपने कब्जे में कर ले और अपनी निजी चीज़ समझ कर मनचाहा कर लगा दे तो संसार का काम किस प्रकार चलेगा?

विशिष्ट पुण्य का उदय होने पर मनुष्य राजा बनता है। अतएव उसे प्रकृति के नियमों का विशिष्ट रूप से पालन करना चाहिए। दूसरे की भूलों से उतनी हानि नहीं होती, जितनी

राजा की भूल से।

ईसाई लोगों की मान्यता के अनुसार राजा ईश्वर का भेजा हुआ होता है। ईश्वर के द्वारा भेजा हुआ पुरुष कोई भूल नहीं कर सकता। अतएव वह जो भी कुछ करता है, उचित ही करता है। मगर यह विचार भ्रमपूर्ण है। मैं आचार्य हूँ। अगर मैं कहने लगूँ कि मुझे ईश्वर ने आचार्य बनाया है, इसलिए मैं अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करूँगा और जो कुछ भी करूँगा वही उचित समझा जायगा। तो आप क्या कहेंगे? आप फौरन कहेंगे कि ईश्वर ने नहीं, संघ ने आपको आचार्य बनाया है और संघ को अधिकार है कि वह शास्त्र के विरुद्ध आचरण करने पर आचार्य की पदवी छीन ले। अगर कोई व्यक्ति अपराध करता है तो वह अपराध उसी व्यक्ति का समझा जाता है। लेकिन आचार्य के विषय में यह बात नहीं है। आचार्य अपराध करे तो वह न सिर्फ आचार्य का ही किन्तु उस संघ का भी समझा जायगा, जिस संघ का वह आचार्य है। क्योंकि संघ ने ही आचार्य को नियत किया है। यही बात राजा के विषय में है। प्रकृति के नियमों का पालन करके सब को सुविधा पहुँचाना राजा का धर्म है। इसके बदले वह प्रकृति का मालिक बन बैठे और कहने लगे कि मैं जैसे पृथ्वीपति हूँ उसी प्रकार सूर्यपति, चन्द्रपति जल-पति और वायुपति भी हूँ, तो यह राजा का अन्याय समझा जायगा। राजा जीवन की सुविधाओं का स्वामी नहीं बन

सकता और न उनसे किसी को वंचित ही कर सकता है। अप्राकृतिक वस्तुओं का स्वामी बनकर उन पर भले ही वह टैक्स लगा दे, पर प्राकृतिक वस्तुओं पर, जो जीवननिर्वाह के लिए अनिवार्य रूप से उपयोगी हैं, टैक्स लगाना उचित नहीं और न पूरी तरह शक्य ही है। बिजली का टैक्स न चुकाने पर बिजली रोकी जा सकती है, क्योंकि उसकी चावी राजा के हाथ में है। अगर वह सूर्य के प्रकाश पर या पवन पर कर लगा दे और प्रजा कर देना अस्वीकार कर दे तो राजा सूर्य या पवन को रोक देने में समर्थ नहीं है। इनकी चाबी उसके हाथ में नहीं है। यह बात दूसरी है कि प्रजा अपनी कमजोरी के कारण इन वस्तुओं का भी कर देती रहे ! ऐसी निर्वीर्य प्रजा तो शायद श्वास लेने का भी कर देने को तैयार हो जाएगी।

मेरे कहने का आशय यह है कि प्राकृतिक पदार्थो मे जैसा सौन्दर्य होता है और वे जैसे लाभदायक होते हैं वैसे कृत्रिम पदार्थ नही हो सकते। सूर्य और चन्द्रमा निसर्ग के सर्वोत्तम उपहारों में है। अतएव आचार्य मानतुंग ने चन्द्रमा के साथ भगवान् के मुख की तुलना की है। आचार्य का कथन है कि परमात्मा के मुख की समानता चन्द्रमा भी नहीं कर सकता। चन्द्रमा, सूर्य का उदय होने पर पीले पत्ते के समान निस्तेज और फीका पड़ जाता है। अतएव उससे भगवान् के मुख की उपमा कैसे दी जाय ! जब प्रकृति-रानी का सर्वोत्तम शृंगार चन्द्रमा भी भगवान् के मुख के सामने नगण्य

है तो मनुष्य के दिमाग से उपजने वाला कोई भी कृत्रिम पदार्थ उसकी बराबरी कैसे कर सकता है?

भगवान् का स्वरूप कितना सुन्दर और मनोरम है, यह बात इस काव्य से भलीभाँति मालूम हो जाती है। उस सौन्दर्य को परखने के लिए दृष्टि निर्मल होनी चाहिए। निर्मल दृष्टि से और साथ ही स्वच्छ अन्तःकरण से अगर आप परमात्मा के स्वरूप पर विचार करेंगे तो संसार के पदार्थ आप को निस्सार प्रतीत हुए बिना नहीं रह सकते। इसलिए मेरा कथन है कि पक्षपात की दृष्टि दूर करके ईश्वरीय प्रेम को अपनाओ। ईश्वरीय प्रेम को अपनाने के लिए चार उपाय हैं और वे कामधेनु के समान हैं। इनमें पहली मैत्रीभावना दूसरी प्रमोद भावना, तीसरी करुणाभावना और चौथी मध्यस्थ-भावना है।

मैत्री भावना का अर्थ चूरमा खाने-खिलाने वाले मित्र बनाना नहीं है। ससार मे ऐसे भी मित्र होते है जिनके विपय मे यह कहा गया है कि—

आओ मियाजी खाना खाओ,
करो बिसमिल्ला हाथ धुलाओ।
आओ मियाजी छप्पर उठाओ,
हम बुड्ढे कोई ज्वान बुलाओ॥

इस प्रकार की मित्रता वास्तविक मित्रता नहीं है। मित्रता सूर्य के प्रकाश के समान होती है। सूर्य समान रूप

से समस्त संसार को प्रकाश देता है। किसी को कम और किसी को अधिक नहीं देता। या किसी को प्रकाश दे और किसी को न दे, ऐसा भी नहीं करता। इसी प्रकार मनुष्य के हृदय रूपी आकाश में जब मैत्रीभाव का सूर्य उदित होता है तो उसका प्रकाश प्राणी मात्र को समान रूप से मिलता है। जिसका अन्त करण मैत्रीभावना से उज्ज्वल हो जाता है, वह प्रत्येक प्राणी को अपना मित्र समझता है। किसी के प्रति उसके चित्त में दुर्भावना नहीं हो सकती। इस प्रकार मैत्रीभावना की आराधना के लिए आपको प्राणी मात्र का मित्र बनना चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि गृहस्थ सब प्राणियों का मित्र कैसे बन सकता है? उसे लेन-देन करना पड़ता है, कहना-सुनना पड़ता है और पचासों काम करने पड़ते हैं, जिससे प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभावना में बाधा पड़ती है। ऐसी स्थिति मे मैत्रीभावना की बात साधुओं को भले ही उपयोगी हो, गृहस्थों के लिए वह उपयोगी नहीं हो सकती।

इस तरह का विचार भ्रमपूर्ण है। गृहस्थ अगर मैत्री-भावना को धारण नहीं कर सकता तो इसके मायने यह हुए कि वह धर्म का ही पालन नहीं कर सकता। क्या धर्म इतना संकीर्ण है कि सर्वसाधारण उससे लाभ नहीं उठा सकते? नहीं, ऐसा नहीं है। धर्म का प्रांगण बहुत विशाल है। उसमें सभी के लिए स्थान है। अगर गृहस्थ समझदारी से काम

ले तो मैत्रीभावना की आराधना उसके लिए कठिन नहीं है। गृहस्थ को गृहस्थ की भांति, साधु को साधु के समान और वीतराग को वीतराग की तरह मैत्रीभावना रखनी होती है।

राजा राज्य करते हुए भी मैत्रीभावना का पालन कर सकता है। कहा जा सकता है कि राजा किसी को फाँसी देता है और किसी को जागीर देता है। तब उसमे मैत्रीभावना कहाँ रही? लेकिन राजा फाँसी देते और जागीर देते समय यह समझता है कि मै प्रजा का मित्र हूँ, प्रजा की सेवा करना, रक्षा करना और इस प्रकार अपने राजधर्म का पालन करना ही मेरा कर्त्तव्य है। मै किसी को दण्ड देता हूँ और किसी का सत्कार करता हूँ, मगर यह सब मित्र बनकर ही करता हूँ, शत्रु बनकर नही। किसी के प्रति मेरे अन्तःकरण मे पक्षपात नही है, शत्रुता नही है, द्वेषभाव नही है। फिर ऐसा कौन-सा पुण्यमय दिवस होगा जब मै इस कर्त्तव्य का भी त्याग करके इससे भी बहुत ऊँची श्रेणी के कर्त्तव्य का पालन करने मे समर्थ हो सकूँगा। हे प्रभो! मेरे हृदय मे ऐसा भाव भर दो कि मै किसी के प्रति अन्याय न करूँ। राजसत्ता का मद मेरे मन को मलिन न होने दे। मै प्रजा की सुख-शांति के लिए अपने स्वार्थों को त्यागने के लिए सदैव उद्यत रहूँ। इस प्रकार की निष्पक्ष और उदार भावना से जो राजा राज्य करेगा वह अवश्य ही मैत्रीभावना का अधिकारी हो सकता है।

माता अपने पुत्र पर मैत्रीभावना रखती है, फिर भी समय पर उसे दंड देने से नहीं चूकती। उसकी दंड देने की क्रिया में पुत्र के कल्याण की ही भावना होती है। वास्तव में चाहे कोई त्यागी हो या गृहस्थ हो, राजा हो या व्यापारी हो, किसान हो या सर्राफ हो, अगर उसके अन्तःकरण में न्याय का भाव है, निष्पक्षता है और स्वार्थसाधन के लिए दूसरों का अनिष्ट करने का इरादा नहीं है तो अवश्य ही वह मैत्री-भावना की आराधना कर सकता है। समाज रूप विराट पुरुष की सेवा का जो भी काम किसी ने अपने हाथ में लिया हो, उसे प्रामाणिकतापूर्वक करने पर ही मैत्रीभावना होती है। जिसके हृदय में मैत्रीभावना जागृत होगी वह किसी को धोखा नहीं देगा। वह किसी से ईर्षा-द्वेष नहीं रक्खेगा। सचाई और सरलता के साथ ही वह सबके प्रति वर्त्ताव करेगा। वह दंड देगा तो आत्मा को शुद्ध करने के लिए ही देगा।

दूसरी प्रमोदभावना है। यह भावना सदा गुणी जनों का ध्यान कराती है। एक आदमी शत्रु है मगर मुनि बन गया है और दूसरा मित्र है मगर पतित हो गया है। प्रमोदभावना वाला पुरुष इन दोनों में से गुणी को ही अपनाएगा, गुणी का ही आदर करेगा। घर में भी गुण के आदर की आवश्यकता है, केवल हड्डियों के आदर की नहीं। भाई का लड़का गुणी है फिर भी उसे पराया मानो और उसका आदर न करो और अपने निर्गुण लड़के का भी आदर करो और उसे अपना मानो,

यह प्रमोदभावना के विरुद्ध है। प्रमोदभावना का विकाश करके गुणी की पूजा-सेवा की वृद्धि करो तो आप स्वयं गुणमय बन जाएँगे और आपको प्रमोद की प्राप्ति होगी। अतएव गुणीजनो का सत्कार करो, उनके गुणों को अपनाओ। अगर उनमे कोई त्रुटि दीखती हो तो उसका अनुकरण मत करो।

कहा जा सकता है कि यह परस्पर विरोधी उपदेश है। एक ओर प्राणी मात्र पर मैत्रीभावना रखने का उपदेश दिया जाता है और दूसरी ओर गुणीजनो के आदर का उपदेश दिया जाता है। यह दोनों उपदेश कैसे संगत हो सकते हैं ?

गाय के चार पैर और चार ही स्तन होते हैं। गाय लंगड़ी हो तो उसके स्तनों में भी त्रुटि हो जायगी। अतएव लंगड़ी गाय उतने काम की नही होती। इसीलिए करुणा भावना कही है। जिसमे गुण न हो उसके प्रति करुणा भावना धारण करो। किसी को दुखी मत करो और कोई दुखी दिखाई दे तो उस पर करुणा भाव लाओ। करुणा इतनी उदार होती है कि वह गुण-अवगुण नही देखती। गुणी की पूजा होती है और दुखी पर करुणा की जाती है। मुनि को आहार दिया जाता है सो करुणा से नही वरन् गुणपूजा के भाव से दिया जाता है। गुणपूजा ही मुनि को वंदना करने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार प्रमोदभावना गुणी जनों के प्रति और करुणा भावना दीन-दुखियों के प्रति धारण की जाती है।

भगवान् ऋषभदेव ने मनुष्यों को दुखी देखकर ही इस

स्थिति पर पहुँचाया था, कहा जा सकता है कि इस स्थिति पर पहुँचाने से तो आरंभ-समारंभ बढ़ गया ! परन्तु करुणा में डूबा हुआ आरंभ-समारंभ या भूत- भविष्य के विचार से अपने कर्त्तव्य का परित्याग नहीं करता और न अपनी मर्यादा का ही लोप करता है । वह पराये दुःख को भी अपना ही दुःख मानता है और जब तक उसे दूर नहीं कर देता तब तक चैन नहीं लेता । ऐसी भावना वाला सब का मित्र बन सकता है । हाँ जिसके दिल में यह विचार होगा कि अमुक की दया करूँ और अमुक की नहीं, वह पक्षपाती है । करुणा सर्वभूती होनी चाहिए ।

कल्पना करो कि आपके शत्रु का लड़का और आपका लड़का-दोनों साथ-साथ खेल रहे हैं । शत्रु का लड़का किसी गाड़ी की टक्कर लगने से गिर पड़ा । ऐसे समय पर आप क्या करेंगे ? अगर आपके हृदय मे करुणाभाव है तो आप उस समय वैर का विचार नहीं करेंगे । अगर दोनों लड़के गिर पड़े हों और अपना लड़का दूर तथा शत्रु का लड़का पास हो तो करुणाभाव वाला मनुष्य पहले शत्रु के लड़के को ही उठायेगा । अगर वह पास मे पड़े हुए लड़के की उपेक्षा करता है तो पक्षपात करता है ।

चौथी मध्यस्थभावना है । सारा संसार आपकी इच्छा के अनुसार कभी नहीं बन सकता । तीर्थंकरों के समय में भी संसार एक-सा नहीं हुआ तो अब क्या होगा ? अतएव किसी को

अपने से विरुद्ध मार्ग पर चलते देखो, कोई धर्म के मार्ग मे काँटे बिखेरता दिखाई दे तो भी उस पर समभाव रखना चाहिए।

इन चार भावनाओं का सेवन करने वाला भगवान् ऋषभदेव के पथ पर अग्रसर हो सकता है और अपने जीवन को धन्य बना सकता है। भगवान् की स्तुति करने के साथ उनके मार्ग पर चलने वाला ही कल्याण का भागी होता है।

मगलं भगवान् वीरो मगल गौतम गणी।

मगल स्थूलिभद्राद्या जैनधर्मोऽस्तु मगलम्॥

समाप्त

जवाहर-साहित्य के प्राप्तिस्थान

★

[१] श्री जवाहर विद्यापीठ,
भीनासर (बीकानेर)

[२] हितेच्छु-श्रावक-मंडल,
रतलाम (मालवा)

[३] श्री जैन जवाहिर मित्र-मण्डल,
ब्यावर (राजपूताना)

[४] श्री चिम्मनसिंहजी लोढा
ब्यावर (राजपूताना)

इनके अतिरिक्त जिनकी ओर से जो पुस्तक प्रकाशित हुई है, वह उनके पास से भी मिल सकती है।

★